ISSN : 2319-7137 **Volume : 12/Issue : 01**
July-December-2020

INTERNATIONAL
LITERARY QUEST

An International Multidisciplinary Peer Reviewed Refereed Research Journal

Editor
Dr. Vikash Kumar
Dr. Surendra Pandey

©सम्पादक

प्रधान सम्पादक
प्रो0 अशोक सिंह (पूर्व कला संकाय प्रमुख, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी)
सम्पादक
डॉ0 विकास कुमार (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश)
डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग, कूबा पी0जी0 कॉलेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़)
उप सम्पादक
डॉ0 नलिनी माथुर (एसोसिएट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भगिनी निवेदिता कालेज दिल्ली विश्वविद्यालय)
डॉ0 विनय कुमार शुक्ल (असिस्टेंट प्रोफेसर, हिंदी विभागाध्यक्ष, रामानुजप्रतापसिंह देवशासकीय स्ना.महा.,बैकुण्ठपुर,कोरिया,छ.ग.)
सुनील कुमार सिंह (असिस्टेंट प्रोफेसर, विभागाध्यक्ष, इतिहास विभाग, अर्मापुर स्ना. महाविद्यालय, कानपुर)
कार्यकारी सम्पादक
डॉ0 सच्चिदानन्द चौबे (प्राचार्य, हंसराज राम लालदेई स्ना. महाविश्वविद्यालय, झुरिया, भगिनी, गोरखपुर)
मोहम्मद आदिल (असिस्टेंट प्रोफेसर, इतिहास विभाग, भवन्स मेहता पी.जी. कालेज, कौशाम्बी, उ.प्र.)
आफताब आलम (शोध छात्र, प्रा.भा.इ.सं. पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
सह सम्पादक
डॉ0 अजीत कुमार राय (गाजीपुर)
डॉ0 नीतू टहलानी (पूर्व शोध छात्रा, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
सुदर्शन चक्रधारी (शोध छात्र, प्रा.भा.इ. सं. पुरातत्त्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
प्रबन्ध सम्पादक
डॉ0 रिपुंजय कुमार सिंह (पूर्व शोध छात्र, हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
डॉ0 रविशंकर पाण्डेय (रोहतास, बिहार)
राणा अवद्यूत कुमार (शोध छात्र, भोजपुरी अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय)
विधि परामर्शदाता
डॉ0 रणजीत सिंह चौहान
अधिवक्ता, सर्वोच्च न्यायालय
ISSN : 2319-7137
मूल्य : रु0 250.00
सम्पादकीय पता
डॉ0 विकास कुमार
सिविल लाइन, तकिया रोड,
सासाराम, रोहतास (बिहार)
ई-मेल : internationalliteraryquest@gmail.com
मो0 : 09470828492, 9934468661
वेबसाइट- www.internationalliteraryquest.in
कम्पोजिंग
सुधीर कुमार, 7408996394
मुद्रक :
राजैरिया ऑफसेट
जगतपुरी, दिल्ली-110093

नोट : सभी पद अवैतनिक एवं अव्यावसायिक हैं। प्रकाशित लेखों एवं उद्धरणों का दायित्व स्वयं लेखकों का है। लेखों एवं उद्धरणों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद के लिए लेखक स्वयं जिम्मेदार होगा।

संपादक मण्डल

प्रो0 अनीता सिंह
अंग्रेजी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

प्रो0 रवीन्द्रनाथ सिंह
प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 प्रभाकर सिंह
हिन्दी विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 एस0 आर0 जयश्री
महात्मा गांधी कॉलेज, तिरुवन्तपुरम्, केरल

प्रो0 बी0 गनेशन
बैंगलोर विश्वविद्यालय, कर्नाटक

डॉ0 मिकी निशिओका
एसो0प्रो0 रिसर्च डिवीजन ऑफ एशियन, लैंग्वेजेज एण्ड कल्चर III रिसर्च इंस्टिच्यूट ऑफ वर्ल्ड लैंग्वेजेज, ओसाका यूनिवर्सिटी, जापान

प्रो0 कीम उ जो
भारतीय अध्ययन विभाग, हाइकू यूनिवर्सिटी, दक्षिण कोरिया

प्रो0 आरिफ नजीर
हिन्दी विभाग, अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी

डॉ0 सुनीता सिंह
शिक्षा संकाय, ली0 मोयने कॉलेज, सायराक्यूस, न्यूयार्क, अमेरिका

डॉ0 मृत्युंजय सिंह
एसो0 प्रो0, हिन्दी विभाग, एस0पी0 जैन कॉलेज, सासाराम, बिहार

डॉ0 सावित्री सिंह
संस्कृत विभाग, महिला महाविद्यालय, सासाराम, रोहतास, बिहार

डॉ0 दिग्विजय सिंह
हिन्दी विभाग, के0डी0बी0 डिग्री कॉलेज, दुबहर, बलिया

डॉ0 प्रिया सिंह
राजनीतिशास्त्र विभाग, गुलाब देवी महिला, पी0जी0 कॉलेज, बलिया

डॉ0 विकास कुमार सिंह
असि0 प्रो0, प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्व विभाग, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

डॉ0 राजकुमार उपाध्याय मणि
असि0 प्रो0 एवं विभागाध्यक्ष, प्रयोजनमूलक हिन्दी, सरगुजा विश्वविद्यालय, अंबिकापुर, छत्तीसगढ़

डॉ0 वर्षा सिंह
असि0प्रो0 अंग्रेजी विभाग, देशबन्धु कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह
प्राचार्य, कूबा पी0जी0 कालेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

डॉ0 सपना भूषण
असि0 प्रो0, हिन्दी विभाग, वसन्त कन्या महाविद्यालय, कमच्छा, वाराणसी

डॉ0 रितु वार्ष्णेय गुप्ता
असि0 प्रो0, हिन्दी विभाग, किरोरीमल कॉलेज, दिल्ली विश्वविद्यालय

अनुक्रम

1.	कोविड 19 के परिवेश में महिला सशक्तीकरण की ऐतिहासिक रूपरेखा **डॉ. अल्पना दुभाषे**	**10-13**
2.	तुलसी का समन्वयवाद **श्री पंकज**	**14-17**
3.	एक जुझारू लेखिका की आत्मकथा (हादसे) **मुनमुन अग्रवाल**	**18-22**
4.	प्रेमचन्द की कहानियों में दलित–चेतना के विविध आयाम **डॉ0 संजय कुमार सिन्हा**	**23-25**
5.	Self Esteem Among College Students Regarding Academic Performance **Preeti Kumari**	**26-33**
6.	मुगलकालीन भारत में शिक्षा और साहित्य का विकास **विजय प्रताप सिंह**	**34-35**
7.	मृणाल पाण्डे के साहित्य में प्रेम, विवाह **डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह**	**36-42**

8.	Postmodernism and Contemporary Indo-Anglican Poetry ***Girish Chandra Pant ** Dr. Sharmila Saxena**	**43-48**
9.	Changing Condition of women in Kumaun Mandal from Pre-Independence to the Present **Professor Girish Ranjan Tewari (H.O.D.),**	**49-56**
10.	COVID-19 के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रवासी मजदूरो की चुनौतियाँ **अभिषेक कुमार गुप्ता**	**57-59**
11.	कमलेश्वर की कहानियाँ : शिल्पगत अध्ययन **पंकज कुमार मौर्य**	**60-63**
12.	कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय, मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन **पन्धारी लाल**	**64-69**
13.	महात्मा गाँधी के विचारों की प्रासंगिकता एवं वर्तमान विश्व **डॉ0 पंकज कुमार जायसवाल**	**70-71**
14.	परिषदीय विद्यालय एवं सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध **लालजी राम पाल**	**72-78**

15.	मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्ति **नमित कुमार सिंह**	**79-83**
16.	शिवमूर्ति के उपन्यास में साम्प्रदायिकता का स्वरूप : त्रिशूल **डॉ0 अश्विनी कुमार**	**84-89**
17.	मुगल शासकों की युद्धनीति **डॉ. श्याम कुमार**	**90-96**
18.	''आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के चिंतन में सामाजिक मूल्य'' **डॉ. वन्दना कुमारी**	**97-104**
19.	वर्तमान युग में कबीर की प्रासंगिकता **डॉ0 जयप्रकाश सिंह यादव**	**105-107**
20.	भारत में कुपोषण एक चुनौती **प्रीति राय**	**108-111**
21.	देशद्रोही कब्जाते किला और देशभक्त गड़ाते कील भारतीय संविधानः क्षेत्रीय राजनीति **डॉ. रोहताश जमदग्नि**	**112-123**
22.	जिन्दा मुहावरे उपन्यास में विभाजनोपरान्त विस्थापन का यथार्थ **विनोद कुमार मौर्य**	**124-127**

23.	**प्रतिरोधी चेतना का शायर: अदम गोंडवी** **डॉ. रवीद्र कुमार यादव**	**128-134**
24.	''गांधी की विकास–अवधारणा एवं वर्तमान में प्रासंगिकता'' **आशीष कुमार सिंह**	**135-138**
25.	नैतिकता का नया प्रतिमान: लिव इन रिलेशनशिप डॉ. बीना जैन	**139-143**
26.	भारतीय दार्शनिक परंपरा और महर्षि अरविंद (विशेषतः भारतीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में) **सुनील दास**	**144-147**
27.	Correlation between Idealism and Tragedy: A Study of Tragic Patterns in the Select Novels of John Galsworthy **Mr Sanjeev Kumar Bansal *& Prof. Sharmila Saxena****	**148-156**
28.	Parent-Child Relationship: A Study of Select Novels of Anita Desai **Himanshu Sharma**	**157-163**
29.	पूर्व किशोरावस्था की छात्राओं के स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन **डॉ0 सुषमा रानी**	**164-169**

30.	धर्म की अभिव्यक्ति तथा दार्शनिक उपादेयता **डॉ0 विकास कुमार**	**170-174**
31.	मध्यकालीन युग में नारी शिक्षा के विषय **श्रीमती अंजना सिंह**	**175-180**
32.	समाज में छूटा–छेड़ा (तलाक) एक गंभीर समस्या **सुभद्रा पाण्डेय**	**181-182**
33.	साईं बाबा के जीवन दर्शन का आध्यात्मिक एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण **महेन्द्र सिंह त्यागी**	**183-189**
34.	राहुल कथा साहित्य का वैचारिक दर्शन सत्य प्रकाश पाण्डेय	**190-195**
35.	**आदिवासी हिंदी साहित्य की चुनौतियां: एक विश्लेषण** **आनन्द कुमार**	**196-199**
36.	भोजपुरी लोकगीतों में रस **डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय**	**200-203**
37.	बाल विज्ञान – शेखर एक जीवनी के विशेष सन्दर्भ में **डॉ0 जयकुमारी के**	**204-206**

38.	विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन : एक अध्ययन **डॉ० कुमारी अनुपम प्रिया**	**207-211**
39.	डॉ० अंबेडकर का सामाजिक न्याय **अजित कुमार भारती**	**212-214**
40.	बाजारवाद की संस्कृति में स्त्री **डॉ0 अरुण कुमार मिश्र**	**215-220**
41.	पंत की काव्यगत विशेषता – भाषा शैली **डॉ. ऋतु वार्ष्णेय गुप्ता**	**221-223**
42.	बीसवीं सदी में नारी विमर्श **रेनू गुप्ता**	**224-229**
43.	चित्रा मुद्गल की रचनाओं में स्त्री के विविध रूप **सुमन कुमारी**	**230-234**

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

कोविड 19 के परिवेश में महिला सशक्तीकरण की ऐतिहासिक रूपरेखा

डॉ. अल्पना दुभाषे
प्राध्यापक एवं विभागाध्यक्ष,
इतिहास विभाग,
शा०माधव स्नातकोत्तर कला महाविद्यालय,
कालेज उज्जैन, म०प्र०

जब आधुनिक भारत के सामाजिक इतिहास में महिला सशक्तीकरण की बात की जाती है तो इसका सीधा सम्बंध अशक्तता से सशक्तता, निर्भरता से आत्म–निर्भरता, अधिकार–विहीनता से अधिकार सम्पन्नता, आर्थिक परावलम्बन से आर्थिक स्वावलम्बन और इन सब से अधिक महत्त्वपूर्ण स्वयं संबंधी निर्णय क्षमता में वृद्धि से है जो कि सशक्तिकरण की ओर संकेत करने वाले मानदण्द हैं। ये वे कसौटियाँ हैं जिनके आधार पर हम महिला सशक्तिकरण को माप सकते हैं। छद्म रूप मेंकई बार ऐसा देखा गया है कि आर्थिक स्वावलम्बन को प्राप्त करने को ही आर्थिक सशक्तिकरण का पर्याय मान लिया जाता है तो कई बार अधिकार सम्पन्नता को। विद्वानों के अपने–अपने मानदण्ड हैं इस पहलू के लिए निकष तय करने के लिए। आर्थिक सशक्तिकरण के फलस्वरूप प्राप्त सम्पत्ति को यदि कोई महिला स्वेच्छा से व्यय नहीं कर सकती तो वह सशक्त नहीं है। आर्थिक स्वावलम्बन के साथ यह आवश्यक है कि उसके द्वारा प्राप्त की गयी समस्त सम्पत्ति वह स्वयं अपनी इच्छा से व्यय करें। निचले एवं कामगार वर्ग में यह देखने को मिलता है कि महिलाएं मेहनत से चूल्हा–चौका करके घर चलाने के लिए धन कमाती हैं और उस धन को हिंसा द्वारा पुरूष वर्ग हड़प लेता है। इस धन को नशाखोरी मे लगाता है। इस प्रक्रिया का परिणाम होता है कि दोहरी क्षति होती है एक ओर तो महिलाओं को धन कमाने के चक्कर में अपने बच्चों को उचित समय नहीं दे पाने से उन बच्चों का मनोवैज्ञानिक विकास रूक जाता है और इसी धन को हड़पने के चक्कर में उन पर हिंसा होती है। इस तथ्य से यह लगभग पूर्णतः सिद्ध हो जाता है कि सिर्फ कमाने से महिला को सशक्तीकरण नहीं आ सकती है।

इसी तरह केवल अधिकार सम्पन्नता को सशक्तिकरण नहीं माना जा सकता, अधिकार सम्पन्नता महिला का सशक्तिकरण तभी कर सकी है जबकि महिलाएं उन अधिकारों का वास्तविक रूप में प्रयोग करें अन्यथा अधिकार सम्पन्नता एवं अधिकार विहीनता में कोई अन्तर नहीं होगा। उदाहरण के लिए भारत में अनेक राज्य हैं जहाँ महिलाओं में पिछड़ापन व्याप्त है, कालान्तर में जब पंचायतीराज आया तब उनको प्रोत्साहन मिला । इसके परिणाम स्वरूपमहिलाओं का मुखिया चुना जाना और मुख्य धारा में आने का अवसर आया। किन्तु यह देखा गया है कि आज भी महिलाओं की पहचान प्रधानपति के द्वारा होती है। कहने का आशय है कि आज भी अमुक महिला जो मुखिया चुनी गयी है कि पहचान मुखिया के रूप में नहीं अपितु अमुक की पत्नी के रूप है। उनको स्वतंत्र सामजिक चेतना का भान अभी तक नहीं मिला है। भारत में महिला सषक्तिकरण को इन कसौटियों के सन्दर्भ में मूल्यांकित किये जाने पर ज्ञात होता है कि भारत में महिलाएं अधिकार सम्पन्न तो हैं किन्तु उन अधिकारों का वास्तविक उपयोग नहीं हो पाता इसी तरह आर्थिक क्षेत्र में महिलाओं की स्थिति पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि जो

महिलायें व्यवसााय या रोजगार द्वारा आय उत्पन्न करती हैं उनमें से अधिकांश महिलायें उस आय पर स्वयं अधिकार नहीं रखती। अर्थात उस आय को वह स्वयं अपनी इच्छा से व्यय नहीं कर पाती। इसी तरह स्वयं से सम्बंधित एवं पारिवारिक मामलों में उन्हें निर्णय का अधिकार प्राप्त नहीं होता। ऐसे में भारतीय महिला के सशक्तिकरण के समक्ष कई जटिल प्रश्न खड़े हो जाते हैं।

यदि भारत के इतिहास में महिलाओं की दशा का पड़ताल करें तो हम पाते हैं कि भारत के शुरूआती दौर के इतिहास में किसी भी प्रकार के महिला शोषण का वर्णन नहीं मिलता है। भारत में किसी भी देवता से ज्यादा महत्त्व यहाँ की देवियों को मिलता है। परम्परागत रूप से यदि देखें तो हमें राधा–श्याम और सीता–राम का उल्लेख मिलता है। अपाला, घोषा एवं विश्ववारा का नाम आज भी सम्मान के साथ लिया जाता है। किन्तु बाद के काल में कुछ परिवर्तन आये जिसने इस मानवतावादी व्यवस्था में परिवर्तन कर दिये। लोहे का आविष्कार हुआ और इससे और कृषि में भारी मात्रा में उत्पादन होने लगा। अब इस उत्पादन ने श्रम का महत्त्व बढ़ा दिया जिसका परिणाम हुआ कि समाज महिला की स्थिति में गिरावट आने लगता है। आगे का काल और खराब दौर का है गुप्तोत्तर काल में विभिन्न प्रकार के विदेशी जातियों का भारत में आगमन हुआ जिसका परिणाम हुआ कि अब भारत की भारतीयता बनी रही इसके लिए जातिप्रथा को कठोर किया गया। इसका परिणाम हुआ कि महिलाओं को दासता की ओर जाना पड़ा। यह विनाश की लीला आगे की ओर बढ़ती रही और अब भारत में मुस्लिम आक्रान्ता का दौर शुरू होता है। इस काल में विधर्मियों से समाज को बचाने के लिए यहाँ के मीमांसको ने जाति प्रथा के साथ बाल विवाह एवं अन्य प्रकार की कुरीतियों को समाज पर लाद दिया। अब वह भारत जो विदुषियों के लिए जाना जाता था वह एक प्रकार के महिला शोषण एवं दासता की जंजीर में बँध गया ।

भारत में महिलाओं के हितों में बात तब शुरू की गई जब भारत में पुनार्जागरण का दौर आता है। मनीषियों ने सर्वप्रथम ईष्वरचंद्र विद्यासागर और राजा राम मोहन राय ने इस दिशा में सोचा कि भारत के समाज में महिलाओं का शोषण चरमावस्था पर है।उनके प्रयासों से सती प्रथा का बिल पास हुआ और अब आधुनिक मानवतावादी समाज के मानकों के अनुसार महिलाओं को मुख्य धारा में आने का मौका मिलने लगा। महिलाओं ने स्वयं मोर्चा ही नहीं खोला बल्कि स्वतंत्रता संग्राम से लेकर समाज सुधार तक वे कंधे से कंधा मिलाकर पुरूषों के साथ ही रहीं।भारतीय इतिहास के कई पहलू जो अभी मुख्य धारा से दूर हैं उनमें समाज के एक महत्त्वपूर्ण पहलू महिला इतिहास लेखन भी है। अगर स्वतंत्रता के पहले संग्राम की बात करें तो इसमें भी कई महिलाओं की हमें जानकारी मिलती है यथा–देवी चौधरानी, पंजाब की रानी साहब कौर, शिरोमती चुआंड़ आदि। इन वीरांगनाओं ने प्रथम स्वतंत्रता संग्राम से भी पहले ब्रिटिशसरकार से लोहा लिया तथा 1857 में स्वतंत्रता संग्राम में भी भारतीय महिलाओं ने अपना योगदान दिया। 1857 के पश्चात महात्मा गाँधी द्वाराचलाये गये आंदोलनों में कस्तूरबा गाँधी, कमला नेहरू, विजय लक्ष्मी पंडित, सरोजनी नायडू आदि अनेक महिलाओं ने गाँधी जी की प्रेरणा सेस्वतंत्रता आंदोलन में सक्रिय सहयोग दिया। हिन्दुस्तान में नवजागरण काल ने कई सुधारवादी आंदोलन देखे जो सतीप्रथा की समाप्ति, विधवा विवाह, बाल विवाह की रोक और स्त्री शिक्षा से सम्बन्धित थे। जिसमें राजा राम मोहन राय, ईश्वर चंद विद्या सागरदयानन्द सरस्वती जैसे महापुरूषों की भूमिकाओं से हम परिचित हैं लेकिन उसी काल में ताराबाई शिंदे, सावित्री बाई फुले ने स्त्रियों कीबराबरी और शिक्षा के लिये अपनी आवाज बुलंद की थी आजादी की लड़ाई के दौरान एक बार पुनः स्त्रियों ने अपना योगदान दिया। 1930 के 'सविनय अवज्ञा आन्दोलन' तथा 1942 के 'भारत छोड़ो आन्दोलन' में कई स्त्रियों ने अपने आप को गिरफ्तार करवाया। आजादी के1955–1956 वें दशक में डा0 अम्बेडकर ने 'हिन्दू विवाह अधिनियम', हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' आदि कानून महिलाओं के पक्ष में पारितकरवाये

जिसका 'भारतीय महिला फेडरेशन' जैसे संगठनों ने समर्थन किया। 70 वें दशक में उत्तराखंड में 'चिपको आन्दोलन' व 'शराब19 विरोधी आन्दोलन' हुये जिसमें महिलाओं ने भाग लिया।इस प्रकार इन आन्दोलनों ने महिलाओं में छिपी राजनैतिक रूचि को भी व्यक्त किया है।

इतने सबयोगदान होने के बावजूद कुछ कारण रहें जिससे वर्षों तकमहिलायें इतनी जद्धोजहद के बाद भी महिलाएं आज भी समाज की मुख्य धारा से अधिक दूर हैं। यदि हम इस समस्या का पड़ताल करें तो कई समस्या सामने आती हैं यथा–

समाज में महिलाओं को पुरूष के बराबर अवसर प्राप्त नहीं है जिसका सबसे बड़ा कारण है लिंग भेदभाव।सरकार द्वारा बनाये गये कानून अधिकाँशतः महिलाओं पर कोई प्रभाव नहीं डालते हैं। भारी भरकम कानूनों के नजर में महिलायेंदोयम दर्जे की है।प्रायः देखा गया है कि महिलाओं के स्वतन्त्र निर्णय को कोई महत्व नहीं दिया जाता हैअशिक्षा के कारण महिलायें अपने अधिकारों से वंचित हो जाती है।

शिक्षा के अभाव के कारण महिलायें अपने जीवन स्तर को ऊँचा उठा नहीं पाती इसका कारण है कि बहुत कम संख्या में महिलाओं को अपने राजनैतिक अधिकारों का ज्ञान है। वे राजनीति से प्रेरित होकर वोट डालने नहीं जाती बल्कि घूमने केउद्देश्य से जाती हैं।सामान्यतः महिलायें किसी राजनैतिक दल की सक्रिय सदस्य नहीं होती है सीमित स्तर पर कुछ महिलायें समर्थक अवश्य होती है।इस प्रकार यह चेतनहीनता ही उनकी संतोष भावना को कम करती है।महिलायें आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर नहीं होती धन के अभाव के कारण वे चुनावी दौड़ में पीछे छूट जाती है।महिलाओं की शारीरिक और सामाजिक संरचना भी उन्हें राजनीति के अनुपयुक्त बना देती है।महिलायें आज भी हाशियें पर बने प्रारम्भिक वर्गों का एक बड़ा भाग है फिर भी भारत हो या अमरीका, पूर्व हो या पश्चिम कहीं भीउस आधी दुनिया को बराबरी का दर्जा नहीं दिया जाता है। उनके साथ दोयम दर्जे का व्यवहार किया जाता है। महिलाओं के साथ हर स्तरपर होने वाला भेदभाव किसी से छिपा नहीं है जो अधिकारों की समानता का खुला उल्लंघन है तथा मानवीय गरिमा के खिलाफ है जिससे देशके राजनीति, आर्थिक, सामाजिक व सांस्कृतिक जीवन में स्त्रियों की पुरूषों के साथ समानता के आधार पर भागीदारी में बाधा आती है और समाज की समृद्धि रूकती है।हालाँकि दुनिया भर की सरकारें, व्यवस्थायें महिलाओं के संरक्षण के लिये विशेष कानून बना रही है तथा उन्हें कुछ विशेष अधिकारों मिल रहें हैं किन्तु अभी भी यह अपने शैष्वावस्था में है।

महिलाओं की मानसिकता एवं प्रवृत्ति में परिवर्तन करना होगा।पुरूषों की महिलाओं के प्रति मानसिकता में परिवर्तन करना होगा। गलत परम्पराओं को समाप्त करना एवं स्वस्थ व सकारात्मक समाज का निर्माण करना होगा। महिलाओं को आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर बनने के लिए प्रेरणा देना होगा तथा उनकी समुचित शिक्षा की व्यवस्था करना होगी एवं उनके सोचने समझने का नजरिया बदलना एवंपूर्ण सुरक्षा की व्यवस्था करना तथाउनकी राजनीतिक जागरूकता को बढ़ावा देना होगा और प्रतिनिधि संस्थाओं में आरक्षण की व्यवस्था करना होगा।इस प्रकार इस बदलाव के द्वारा ही महिलायें अपनी समस्याओं को दूर कर सकती है। यद्यपि महिलाओं की राजनीतिक डगर काफीपथरीली है, उनकी राह में काँटे ही काँटे बिछे है। परन्तु फिर भी कुछ महिलाओं ने राजनीति में अपना स्थान बनाया है जो उनकी प्रगति कोरेखांकित करता है।

वर्तमान कोविड 19 के संकटकाल की बात करें तो महिलओं ने पुरूषों से अधिक अपने को समर्पित भाव से सेवा कर अपनी उपयोगिता समाज में दिखाई है। नर्सिंग के बढ़ते हुए मांग ने उनकी उपयोगिता को समाज के सामने लाया है।कोविड 19 ने भारत ही नहीं अपितु विश्व के सभी भागों में

सामाजिक परिवर्तन की ऐसी तस्वीर पेश किया है कि समाजविज्ञानियों के लिए विमर्श का विषय बन चुका है। भारत की बात करें तोपरम्परगत रूप से यह एक पुरूष प्रधान समाज है और यहाँ पर महिलाओं को समाज में पुरूषों की अपेक्षा हमेशा कमतर आँका गया है। किन्तु वर्तमान महामारी के दौर में महिलाओं की भूमिका ने उनको समाज में पुरूषों से ज्यादा प्रभावी दिखाया है। सारे विश्व स्तर पर यह सिद्ध हो चुका है कि महिला नर्सों के अंदर जितना कार्यकुषलता के साथ कार्य करने का सेवा भाव होता है वैसा भाव पुरूष वार्डव्याय के अंदर नहीं देखने को मिलता है। इस मोर्चे पर वे अपने ऑन लाइन शिक्षण हो या सरकारी स्तर पर खुद को उनको वे इस महामारी से लड़ने लायक बना रही है। वास्तव में अब भारत की नारी वह नारी नहीं जिसे रास्ता चलते छींटाकसी का शिकार होना पड़ता था और वह सदा से दबाई जाती थी। आज वह रक्षा से लेकर तकनीकि एवं वायुयान संचालन से रेल संचालन के रह मोर्चे पर खुद को स्थापित कर चुकी है। यह भारत के लिए एक हर्ष एवं उल्लास का विषय है कि भारत में उसकी आधी आबादी आज अपने अस्तित्व को सिद्ध करने में सक्षम हो रही है। किन्तु समकालीन परिस्थितयाँ जटिल हैं जिन महिलाओं के छोटे–छोटे बच्चे है ं और उनको कोविड में कार्य हेतु लगाया जा रहा है उनके स्वास्थ्य का विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है।

महिलाओं की इतनी उपलब्धियों के बावजूद हमारे इतने बड़े देश मेंऐसी महिलाओं का प्रतिशत ज्यादा नहीं है यह एक दुख सत्य है।भूमण्डलीकरण के कारण, उच्चवर्ग तथाा उच्चवर्ग में मौजूदतथाकथित 'पेपर वुमेन' समाज की बहुतसंख्यक आम औरतों सेनितान्त भिन्न है वे बहुतसंख्यक आम औरतों से नितान्त भिन्न है वेबहुतसंख्यक औरते अब भी अशिक्षा, अज्ञान और गरीबी से मुक्तनहीं हुई है वर्तमान उपभोक्तावाद के कारण उनके लिए यह दौरशोषण का ही दौर है भूमंडलीकरण और उपभोक्तावाद के वर्तमानमाहौल में एक ओर स्त्री देह और उसका सौन्दर्य बिकाऊ हो गयाहै। भारतीय नारी श्रम से नहीं घबराती किन्तु आंसुओं की चिन्ता करते हुए वह रोटी, असमान व्यवहार,शोषण से अवश्य डरती है इस समबंध में बाबा साहेब ने महिलाओं की वास्तविक वेदना को मुखरित किया हैमहिला सशक्तिकरण की आवश्यकता बहुआयामी है कि यह कोई पुरूष निरपेक्ष नहीं बल्कि सापेक्ष विमर्श हैऔर इसके लिए पुरूषों को भी आगे आना होगा। महिलाओं के सामाजिक सशक्तिकरण में शिक्षा अहम भूमिका है यह महिलाओं के सर्वांगीण विकास के लिए प्रथमएवं मूलभूत साध्न है। क्योंकि महिलाओं के शिक्षित होने परजागरूकता, चेतना आएगी। शिक्षा के माध्यम से महिलाए समाज मेंसशक्त, समान एवं महत्त्वपूर्ण भूमिका दर्ज करा सकती है इसकेसाथ ही अपनी आर्थिक व राजनैतिक भागीदारी भी सुनिश्चित करसकती हैं।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. नाटाणी, प्रकाश नारायण, गौतम, ज्योति, ''लिंग एवं समाज'', रिसर्च पब्लिकेशन–89, जयपुर,
2. यादव, वीरेन्द्र सिंह, नई सहस्त्राब्दी का महिला सशक्तिकरण (अवधारणा, चिन्तन एवं सारोकार), ओमेगा पब्लिकेशन, दिल्ली, 2010
3. भारत प्रकाशन विभाग, नई दिल्ली – 2001
4. सिंह डॉ0 निशॉत, महिला विधि, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली,
5. .अहुजा, राम : भारतीय सामाजिक व्यवस्था, नई दिल्ली (1999).
6. लवानिया, एम.एम., भारतीयों महिलाओं का सामजशास्त्र, रिसर्चपब्लिशर्स, जयपुर, 2004

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

तुलसी का समन्वयवाद

श्री पंकज
असिस्टेंट प्रोफेसर – हिन्दी
कूबा पी0जी0 कालेज, दरियापुर
नेवादा–आजमगढ़

जिस युग में तुलसीदास जी का आविर्भाव हुआ, उस युग में धर्म, समाज, राजनीति आदि क्षेत्रों में सर्वत्र वैमनस्य और विभेद का बोलबाला था। धर्म के क्षेत्र में एक ओर हिन्दुओं व मुसलमानों के बीच वैमनस्य का भाव जड़ करता जा रहा था तो दूसरी ओर शैव, शाक्त एवं वैष्णव मत के अनुयायियों में भी पारस्परिक ईर्ष्या–द्वेष का भाव गहरा होता जा रहा था। दक्षिण भारत में तो यह वैमनस्य व विद्वेष इतना बढ़ा कि शिवकाँची व विष्णु–काँची तक का निर्माण हो गया। उत्तरी भारत में भी धार्मिक संघर्ष निरन्तर बढ़ता ही जा रहा था। इससे धार्मिक शान्ति के साथ–साथ सामाजिक शान्ति भी भंग होती जा रही थी। ब्राम्हण और शूद्र एवं ऊँच और नीच के कारण हिन्दू समाज निरन्तर विशृंखलित होता जा रहा था। वर्ग भेद की यह खाई दिन–प्रतिदिन गहरी होती जा रही थी। जिसे देखकर यही प्रतीत होता था कि हिन्दू समाज पतन के कगार पर पहुंच चुका है। यही दशा राजनीतिक एवं साहित्यिक क्षेत्र में भी थी। आपसी ईर्ष्या –द्वेष, वैमनस्य व विद्वेष के कारण समूचे भारत में घोर अशान्ति एवं विषमता का वातावरण उत्पन्न हो गया था। यद्यपि अकबर जैसे धार्मिक सहिष्णु शासक ने पारस्परिक ऐक्य एवं समता के लिए प्रयत्न अवश्य किया, परन्तु उन प्रयत्नों के पीछे उसकी स्वार्थमयी मनोवृत्ति एवं राज्य लिप्सा होने के कारण उसे अधिक सफलता नहीं मिली। तत्कालीन सन्त कवियों ने अवश्य सारे भारत में भावात्मक एकता स्थापित करने का सफल प्रयत्न किया। गोस्वामी तुलसीदास जी तत्कालीन भक्त कवियों में से एक थे जिन्होने तत्कालीन परिस्थितियों का गहराई में अवलोकन व अनुशीलन करके समाज में व्याप्त विषमता व वैमनस्य को दूर करने का प्रयत्न किया। तुलसीदास जी ने विषमता को दूर करने के लिए समन्वय की प्रकृत्ति को प्रोत्साहन दिया व स्वयं धर्म समाज राजनीति, साहित्य के क्षेत्र में यथासम्भव समन्वय स्थापित करते हुए पारस्परिक विरोध एवं वैषम्य को दूर करने का प्रयास किया। इस समन्वय के लिए तुलसी ने सामाजिक, पारिवारिक आध्यात्मिक, धार्मिक, राजनीतिक, नैतिक आदि सभी क्षेत्रों को चुना और इन सभी क्षेत्रों में समन्वय स्थापित करते हुए तत्कालीन जनजीवन में व्याप्त घोर अशान्ति पापाचार, अनाचार, अधार्मिकता, विषमता आदि को दूर करने की सफल चेष्टा की। जार्ज ग्रियर्शन के अनुसार ''तुलसीदास महात्मा बुद्धदेव के बाद भारत के सबसे बड़े लोकनायक है।'' अपने समन्वयवादी दृष्टिकोण के कारण तुलसीदास जी लोकनायक कहलाते है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी के अनुसार ''भारतवर्ष का लोकनायक वही हो सकता है जो समन्वय करने का अपार धैर्य लेकर आया हो। तुलसी का सम्पूर्ण काव्य ही समन्वय की विराट चेष्टा है।'' संक्षेप में तुलसीदास के समन्वयवादी विचार इस प्रकार हैं–

शैव एवं वैष्णव मत का समन्वय :–

भारतीय विचारधारा में ब्रम्हा, विष्णु एवं शिव तीन प्रमुख देव माने जाते हैं, जिनमें ब्रम्हा सृष्टि के सृजनकर्ता, विष्णु पालनकर्ता एवं शिव सृष्टि के संहारक है। विष्णु को अपना सर्वस्व मानने वाले

''वैष्णव'' कहलाते है और शिव को अपना सर्वस्व मानने वाले 'शैव'' कहलाते हैं। कालान्तर में शैव व वैष्णव मत में एक दूसरे को श्रेष्ठ मानने की होड़ में वैमनस्य की भावना बढ़ने लगी जो तुलसी के समय एक चरम सीमा पर पहुँच गयी थी। अतः तुलसी ने दोनो मतो में समन्वय स्थापित करने के लिए एक ओर शिव के मुख से 'सोई मम इष्ट देव रघुवीरा, सेवत जाहि सदा मुनि धीरा'' कहलवा कर शिव को राम का उपासक सिद्ध कर दिया और दूसरी ओर राम के मुख से 'शिवद्रोही मम दास कहावा। ते नर मोहि सपनेहुँ नहि पावा' कहलावा कर राम को शिव का अनन्य प्रेमी सिद्ध कर दिया है। राम रक्षा स्त्रोत के साथ ही 'रामचरित मानस' में शिव स्रोत की रचना करके इस पार्थक्य एवं वैषम्य को दूर करते हुए शिव एवं विष्णु के अवतार राम में पूर्णतया समन्वय स्थापित कर दिया है।

वैण्णव एवं शाक्त मत का समन्वय :–

वैष्णव व शाक्तों में भी उस समय घोर संघर्ष चल रहा था। शायद इसी कारण कबीर ने भी 'वैष्णव की छपरी भली, नहि साकत को गाँव' कहकर शाक्तों की अपेक्षा वैष्णवों को श्रेष्ठता प्रदान की थी। तुलसी ने रामचरित मानस में सीता को ब्रह्म की शक्ति बताकर शाक्तों एवं वैष्णवों में समन्वय स्थापना का प्रयास किया है।

नहि तव आदि मध्य अवसाना। अमित प्रभाव वेद नहिं जाना।।

भव–भव विभव पराभव कारिनि। विश्व विमोहनि स्ववस विहारिनि।।

रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्ग का समन्वय :–

तुलसीदास जी रामावत सम्प्रदाय में दीक्षित थे। रामावत् सम्प्रदाय में राम को ही परमब्रह्म माना गया है। पुष्टिमार्ग में ब्रह्म की कृपा अथवा अनुग्रह को ही सर्वोपरि माना गया है। इसलिए तुलसीदास ने 'तुम्हरिहि कृपा तुमहिं रघुनन्दन, जानहिं भगत – भगत उर चन्दन कहकर स्पष्ट किया है कि भगवान की कृपा से ही भगवत साक्षात्कार होता है। साथ ही बिना भगवान की कृपा के राम की भक्ति भी प्राप्त नहीं होती। इस प्रकार राम की भक्ति में ही राम की कृपा की महत्ता प्रदर्शित करते हुए तुलसी ने रामावत सम्प्रदाय एवं पुष्टिमार्गीय मत में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

ज्ञान व भक्ति का समन्वय :–

तुलसी के समय ज्ञानियों व भक्तों में बड़ा विवाद चल रहा था, जिसके फलस्वरूप ज्ञानीजन भक्तो को तुच्छ मानकर स्वयं को श्रेष्ठ समझते थे और भक्तजन ज्ञानियों को हृदयहीन मानकर तुच्छ समझते थे। तथापि तुलसीदास ने 'भगतिहिं ग्यानहिं नहिं कछुभेदा, उभयहरहिं भव सम्भव खेदा' कहकर दोनो में समन्वय स्थापना का गुरू गंभीर प्रयास किया है।

सगुण एवं निर्गुण का समन्वय :–

तुलसी से पूर्ववर्ती ''भक्तों में ही ब्रह्म के निर्गुण एवं सगुण स्वरूप पर पर्याप्त संघर्ष चला आ रहा था।ण सूरदास इसी संघर्ष के कार ने अपने 'भ्रमरगीत में ब्रह्म के निर्गुण रूप का खण्डन करके सगुण की महत्ता का प्रतिपादन किया था। परन्तु गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण एवं निर्गुण के विद्वेष एवं वैमस्य को मिटाते हुए दोनो में समन्वय स्थापित किया है, अगुनहिं सगुनहिं नहि कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध वेदा।' इस तरह तुलसी ने निर्गुण एवं सगुण के विवाद को दूर करके दोने में सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

नर एवं नारायण का समन्वय :–

तुलसीदास जी ने 'भए प्रकट कृपाला दीनदयाला कौशल्या हितकारी' कहकर उन्हीं ब्रह्म को कौशल्या पुत्र या दशरथ सुत के रूप में अवतरित दिखाकर अपने इष्टदेव को साधारण नर से ऊपर उठाते हुए 'नारायण के सर्वोच्च पद पर प्रतिष्ठित किया है। इस प्रकार तुलसी ने राम के रूप में नर और नारायण का अथवा जीव और ब्रह्म का सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

राजा और प्रजा का समन्वय :–

तुलसी के काल में राजा व प्रजा के बीच की खाई गहरी होती जा रही थी। राजा प्रजा से कहीं अधिक श्रेष्ठ, उन्नत और महान समझा जाता था और ईश्वर के रूप में माना जाता था। 'मुखिया मुख सो चाहिये खान पान कहुँ एक, पालई पोषइ सकल अंग तुलसी सहित विवके, कहकर तुलसी ने राजा को मुख तुल्य बताते हुए अपनी प्रजा के पालन–पोषण के लिए ही वस्तुओं का संग्रह करने वाला घोषित किया है। इस प्रकार शरीर में जिस तरह मुख तथा अन्य अंगो का समन्वय रहता है, उसी तरह तुलसी ने राजा और प्रजा के समन्वय पर जोर दिया है।

पारिवारिक क्षेत्र में समन्वय :–

तुलसी ने धर्म व समाज के क्षेत्र में ही नहीं अपितु पारिवारिक क्षेत्र के अन्तर्गत पिता और पुत्र में पति और पत्नी में, भाई–भाई में समन्वय स्थापित किया है। नाथ सपथ पितु चरन दोहाई। भयउ न भुवन भरत सम भाई।''

इस प्रकार तुलसी ने पारिवारिक जीवन में समन्वय स्थापित करते हुये एक आदर्श परिवार की प्रतिष्ठा की।

साहित्यिक क्षेत्र में समन्वय :–

तुलसी ने धर्म, राजनीति, परिवार एवं समाज के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में भी सुन्दर समन्वय की स्थापना की है। यही कारण है कि तुलसी ने अवधी व ब्रज दोनो भाषाओं में रचना करके, हिन्दी के साथ संस्कृत भाषा के श्लोको की रचना करके तथा 'मानस' व 'विनयपत्रिका'; के स्रोतो में संस्कृत गर्भित हिन्दी का प्रयोग करके संस्कृत व हिन्दी का सुन्दर समन्वय किया है। उन्होंने अपनी रचनाओं में वर्णिक व मात्रिक छन्दो का प्रयोग करके छन्द सम्बन्धी समन्वय को भी स्थान दिया है। इसी तरह तुलसी ने विभिन्न ग्रंथो में रामकथा को लेकर ऐसे सुन्दर कथा सम्बन्धी समन्वय की स्थापना की है जिससे 'निगमागमसम्मत' होकर भी 'रामचरितमानस' सर्वथा अद्भुत अलौकिक एवं मौलिक दिखाई देता है। इतना ही नहीं तुलसी ने दोहा चौपाई पद्धति पर मानस लिखकर पद पद्धति पर 'विनयपत्रिका' 'गीतावली' और 'कृष्ण गीतावली' लिखकर दोहा पद्धति पर दोहावली लिखकर, कवित्त सवैया छप्पय पद्धति पर 'कवितावली' लिखकर, वरवै पद्धति पर वरवैरामायण लिखकर लोकगीत पद्धति पर सोहर छन्द में रामललानहछू, लिखकर तत्कालीन काव्य में प्रचलित सही सभी रचना पद्धतियों में भी सुन्दर समन्वय स्थापित किया है।

उपरोक्त विवरण से स्पष्ट है कि तुलसीदास जी उच्चकोटि के समन्वयवादी कवि थे। उन्होंने जीवन और जगत के सभी क्षेत्रो में समन्वय स्थापित करने का स्तुत्य प्रयत्न किया है और अपने समन्वयवादी विचारो द्वारा तत्कालीन समाज में व्याप्त विषमता, विद्वेष, वैमनस्य, कटुता आदि को दूर करके पारस्परिक स्नेह, सौहार्द, समता, सहानुभूति आदि का प्रचार किया। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के अनुसार'' इनकी वाणी की पहुँच मनुष्य के सारे भावों व्यवहारों तक है। एक ओर तो वह व्यक्तिगत

साधना के मार्ग में विरागपूर्ण शुद्ध भगवदभजन का उपदेश करती है दूसरी ओर लोक पक्ष में आकर पारिवारिक और सामाजिक कर्तव्यों का सौन्दर्य दिखाकर मुग्ध करती है।''

इसीलिये तुलसी एक उच्चकोटि के कवि, महान लोकनायक सफल समाजसुधारक, भारतीय संस्कृति के श्रेष्ठ प्रचारक, समाज में उन्नत आदर्श के संस्थापक तथा समन्वयवाद के प्रतिष्ठापक संत कहलाते हैं।

सन्दर्भ ग्रंथ सूची :–

1. हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवि– डा0 द्वारका प्रसाद सक्सेना – पेज नं. 219 – पेज नं. 224
2. गोस्वामी तुलसीदास– आचार्य रामचंद्र शुक्ल
3. हिन्दी साहित्य : उद्‌भव और विकास, हजारी प्रसाद द्विवेदी, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली– 2009 ई0।
4. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी संवतृ 2067 वि0
5. हिन्दी साहित्य का इतिहास – सं0 डा0 नगेन्द्र, मयूर पेपर वैक्स नोएडा–2007 ई0
6. तुलसी काव्य मीमांसा, डा0 उदयभानु सिंह, राधाकृष्ण प्रकाषन दिल्ली, 2008 ई0।

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

एक जुझारू लेखिका की आत्मकथा (हादसे)

मुनमुन अग्रवाल
शोध छात्रा,
प्रेसीडेन्सी विश्वविद्यालय, कलकत्ता

हिंदी महिला कथा लेखन की परम्परा में रमणिका गुप्ता का स्थान अत्यंत महत्वपूर्ण है। उनका पूरा व्यक्तित्व ही इस बात का प्रमाण है कि यदि व्यक्ति ठान ले तो कोई भी कार्य कठिन नहीं। उन्होंने राजनीति के क्षेत्र में न केवल अपनी अलग पहचान बनाई बल्कि आदिवासी समाज के उत्थान की दिशा में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। रमणिका गुप्ता की आत्मकथा 'हादसे' अब तक पढ़ी सभी स्त्री आत्मकथाओं से भिन्न है, क्योंकि इसमें स्त्री के चरित्र के जिस रुप का परिचय मिलता है, वह अभी तक प्रचलित स्त्री के रुप के खांके में ठीक नहीं बैठता। आम तौर पर स्त्री के बारे में जो परम्परागत धारणा है, उसे यह तोड़ती है। इस आत्मकथा में रमणिका जी का चरित्र पुरुषों की तुलना में काफी सशक्त है। बचपन से ही उनका व्यक्तित्व काफी जुझारु रहा है। अपने विद्रोही स्वभाव के कारण वह घर पर परम्परागत मूल्यों का तो विरोध करती ही है, बाहर भी एक प्रभावशाली व्यक्तित्व के रुप में सामने आती है। बचपन से ही लड़कों के साथ खेलना, पिताजी की साइकिल चलना तथा सर न ढँककर चलना आदि उनके विद्रोह के ही रुप थे। उनके इसी विद्रोह को इन पक्तियों में देखा जा सकता है–

"मैंने पारिवारिक परम्परा को तोड़ने के लिए सबसे पहले ताँगे में आगे की सीट पर पापाजी की बगल में और कार में नाना के बगल में बैठने की जिद शुरु की। कार या ताँगे में परदा लगाने पर भी मैं अपना मुँह बाहर निकालकर बैठती थी, इसी सवाल पर माँ से रोज–रोज बकझक होती थी। गिल्ली–डंडा, क्रिकेट, हाकी, कबड्डी का शौक था। एक दिन घूमने जाते वक्त माँ ने सिर ढँककर साथ चलने को कहा, मैं नहीं मानी। तभी से मुझे विद्रोही का सा रुतबा मिल गया।"[1]

आत्मकथा हादसे में रमणिका जी अपने जीवन के शुरुआती दौर के राजनीतिक हलचलों और घटनाओं को शब्दबद्ध करती है। अपने जीवन, अपने सोच के विभिन्न आयामों को सामने लाती है। अपने विद्रोही स्वभाव की पृष्ठभूमि को स्पष्ट करते हुए वह लिखती है दृ "बचपन से ही मैं राजनीतिक, और सामाजिक बदलाव की धारणा से जुड़ी रही। पाँचवी–छठी कक्षा में पढ़ती थी तो 'सत्यार्थ प्रकाश' के समर्थन में मूर्ति पूजा के खिलाफ घंटों बहस करती रहती थी। मेरी बहसों की शिकायत विक्टोरिया स्कूल व कॉलेज पटियाला की प्रिंसिपल मिस सेन के पास गई तो उन्होंने मुझे बुलाकर खूब डांटा। कुछ वर्ष बाद जब मैं फिर उसी कॉलेज में इंटर में पढ़ती थी तो मैंने डटकर भगवान के विरुद्ध बहस शुरू की। ऐसी बहसें करने में मुझे मजा आता था। लगभग 14 वर्ष की उम्र से ही मैं स्कूल व कॉलेज में होने वाले वाद–विवाद, खेलकुद नाटक तथा कविता के कार्यक्रमों में भाग लेती थी और सबसे आगे रहती थी। उस समय भी मैं अपने निर्णय खुद लेती थी और उनका अच्छा दृ बुरा फल भोगने को तैयार रहती थी।"[2]

कहने का अर्थ है कि बचपन से ही उनमें एक प्रकार का जुझारूपन था और वह किसी भी बात को आसानी से नहीं मानती थी। पूरी आत्मकथा में इस बात की भी चर्चा है कि अकेली स्त्री को किस प्रकार राजनीति के क्षेत्र में कई बाधाओं और कठिनाईयों का सामना करना पड़ता है क्योंकि स्त्री होने के नाते सबसे पहले उसके साथ छेड़खानी की जाती है तथा ऐसी स्थिति में रमणिका जी न केवल स्वयं साहस रखती है बल्कि कुसुम नामक कार्यकर्ता को भी समझाती है–

"देखो। पहले तो तुम रोना बंद करो और ऐसे दिखाओ कि जैसे हम किसी से डरने वाले नहीं है, दूसरे यदि यह हमारे साथ बदतमीजी भी करते हैं तो उसे उस रुप में मत लो हमारे साथ घटा यह हादसा कुर्बानी ही मानी जाएगी। रुस पर जब हिटलर ने हमला किया और जर्मन सेनाएं दूर अंदर तक बढ़ गई तो जवान रुसी लड़कियाँ अपनी आबरु की चिंता न करके दुश्मनों की गुप्त सूचनाएँ अपने देशवासियों को लाकर देने के लिए रात भर जर्मन अफसरों के कैम्पों में बिताती थी। उनकी देह का भले जर्मन अफसरों ने शोषण किया लेकिन वास्तव में ये लड़कियाँ अपने देश को बचाने का महत्वपूर्ण कार्य करने हेतू अपने देह का इस्तेमाल होने दे रही थी, हमें भी किसी घटना से डरना नहीं चाहिए।"[3]

इस आत्मकथा के माध्यम से समझा जा सकता है कि जिस स्थान और कार्यों से पुरुष भी पीछे हट जाते हैं, वहाँ रमणिका जी पूरे साहस के साथ न केवल खड़ी रहती है बल्कि उनसे मुकाबला भी करती है। उन्होंने अपना पूरा जीवन मजदूरों, श्रमिकों तथा आदिवासियों के लिए संघर्ष करने में और उनके अधिकारों की लड़ाई में ही बीता दिया। कई बार विरोधियों ने उनके साहस को तोड़ने का पूरा प्रयास किया पर रमणिका जी के दृढ़ संकल्प के आगे सब धाराशाही हो गये। सहयोगियों द्वारा यह कहने पर कि उन्हें स्त्री होने का लाभ मिल रहा है, रमणिका जी का स्पष्ट जवाब था दृ"मैं मिट्टी की माधो नहीं हूँ, बुद्धि भी रखती हूँ, मिट्टी के माधों की पूजा होती है, पर तर्कशील व्यक्ति सराहे जाते हैं। यहाँ मेरी पूजा नहीं हो रही, हम सब की सराहना हो रही है और मुझे केवल प्रतीक बनाया जा रहा है।"[4]

आत्मकथा में वे कोयला खदानों के मजदूरों–अफसरों–दलालों के बनते बिगड़ते संबंधों को वर्णित करती हैं और राजनीति में भी अपना रास्ता खुद तैयार करती है। जिस पार्टी में उन्हें लोकहित का तत्व नजर नहीं आता, उसमें वह नहीं टिकती। उनकी कांग्रेस के बारे में टिप्पणी है–

"वहाँ लोग स्त्री कार्यकर्ताओं को अपना कलेवा मानते थे, जिसे भूख लगने पर खाने का एक स्वार्जित जन्मसिद्ध अधिकार उन्होंने प्राप्त कर रखा है, उनकी नजर में बिना किसी पुरुष नेता वृक्ष का सहारा लिए महिला नेता लता पनप और बढ़ नहीं सकती थी और मैं लता बनने को तैयार नहीं थी, इसलिए जब मैंने त्यागपत्र दिया तो तो कांग्रेस अध्यक्ष एवं यशपाल कपूर को यही लिखा था दृमैं कांग्रेस से त्यागपत्र दे रही हूँ। मैं अपना रास्ता खुद बनाने में सक्षम हूँ, इसलिए अपना रास्ता खोज लूँगी नहीं तो रास्ता ही मुझे खोज लेगा।"[5]

राजनीति में भी उनकी हिम्मत को तोड़ने की काफी कोशिश की गई पर उनके दृढ़ संकल्प, साहस के सामने सभी हार गए। कर्पूरी जी के यह कहने पर कि– "रमणिका जी। रास्ते में आपको गुंडे दृबदमाश मिलेंगे, आप महिला होकर नौजवानों के साथ अकेली जा रही है।"[6]

रमणिका जी कहती है– "देखिए मैं महिला होने के नाते नहीं, एक कार्यकर्ता के रुप में जा रही हूँ, आप मुझे महिला के दायरे में शामिल कर महिलाओं को कमजोर साबित करने की कोशिश मत कीजिए। रास्ते में जो कुछ भी घटेगा, वह हम सबके साथ घटेगा। एक बात और मैं अगर आपके साथ जाऊँ तो आपकी परिभाषा के अनुसार तब भी तो मैं महिला ही रहूँगी न। आश्चर्य है कि आप भी स्त्री–पुरुष के दायरे में सोचते हैं।"[7]

रमणिका जी ने कोयला मजदूरों के जीवन की समस्याओं को बखूबी समझा है तथा उनके हक की लड़ाई पूरे आत्मविश्वास के साथ लड़ा। लेखिका के सामने कई बार स्थिति जिंदगी और मौत की भी आई पर फिर भी उनमें अद्भूत साहस था, इसी कारण कभी उन्होंने हिम्मत नहीं हारी। एक उदाहरण प्रस्तुत है दृ"लो हिम्मत है तो मारो, माँ का दूध पिया है तो चलाओ फरसा।सामने खड़ी हूँ और देखती हूँ किसमें हिम्मत है जो मुझे रोके। मैं जा रही हूँ मजदूरों के झोपड़ों में जिन्हें आप लोगों ने कैद कर रखा है।"[8]

मजदूरों का भी रमणिका जी पर अटूट विश्वास था और यही विश्वास उनकी ताकत थी, जिसके लिए वे अपनी प्राणों की बाजी लगाने तक को तैयार रहती है। इस प्रकार देखा जाये तो पूरी आत्मकथा में रमणिका जी का चरित्र काफी सशक्त और प्रभावी रहा है। आम तौर पर औरतों को शारीरिक रूप से कमजोर माना जाता है पर रमणिका जी मानती है कि अगर स्त्री अपने निर्णय में वह अडिग रहें तो उसके लिए कोई भी काम मुश्किल नहीं।

गिरीश पंकज का रमणिका जी के संबंध में कहना है दृ "उन्होंने जीवन के हर आयाम को सामने रखने में कोई संकोच नहीं किया। हमेशा एक एक्टिविष्ट के तरह काम करती रही राजनीति में भी उनकी काफी दिलचस्पी थी। .... दलित विमर्श को लेकर उन्होंने पूरे देश में एक वातावरण बनाया। शोषण के खिलाफ आवाज बुलंद करने का काम वह हिम्मत के साथ करती रही।"[9]

कहने का अर्थ है कि रमणिका जी के विचार दृढ़ तथा युक्ति से पूर्ण है। रमणिका जी ने स्त्री के जीवन के संघर्ष को आधार बनाकर कविता लिखी जो काफी चर्चित भी हुई।

"रंग–बिरंगी तोड़ चूडियाँ, हाथों में तलवार गहूँगी।
मैं भी तुम्हारे संग चलूँगी, मैं भी तुम्हारे संग चलूँगी।"[10]

वास्तव में यह कविता अतीत के वीर स्त्रियों की एक छवि प्रस्तुत करती है। किस प्रकार स्त्रियाँ युद्धभूमि में पुरुषों को भी अपने साहस से पछाड़ती थी, इस कविता में स्त्री के उसी रुप की छवि दिखती है।

रमणिका जी एक साहसी, निडर लड़की थी इसी कारण बचपन में यथार्थ विषयों पर नाटक खेलती है। खुले मंच पर सचाई बयान करना उनके इसी साहस को दर्शाता है। रमणिका जी ने अपनी जाति के विरुद्ध शादी का निर्णय लिया और परिवार के फैसले को बदलने के दवाब के बावजूद उन्होंने अपना फैसला नहीं बदला। इस स्थिति का वर्णन किया गया है– "जाति तोड़कर प्रेम विवाह दोंनो परिवार की परम्परा एवं मर्यादा के लिए चुनौती के रुप में देखे जा रहे थे, मामा ने मेरा घर से निकलना बंद कर दिया था, माँ आई मेरी खूब पिटाई हुई पर मैं कटिबद्ध थी। रोज मार पड़ती फैसला बदलने के लिए दबाव पड़ता।"[11]

रमणिका जी अपने फैसले पर अडिग रही क्योंकि उनका कहना है– "मैं न अड़ती तो शायद मेरी जिंदगी ही कहीं गुम हो गई होती और जो मैं कहना चाहती थी, करना चाहती थी, न कर पाती। उन दिनों परम्पराओं को तोड़ना, रुढियों के विरुद्ध चलना ही मेरा लक्ष्य सा बन गया था। उसे पूरा करने के लिए विद्रोह जरुरी था और विद्रोह में अपनो के विरुद्ध भी हथियार उठाना पड़ सकता है, जिसके लिए मैंने स्वयं को तैयार कर रखा था।"[12]

वह मानती है कि वास्तव में पुरुष द्वारा इस तरह के फैसले करने पर परिवार साथ दे देते हैं पर एक स्त्री द्वारा ऐसे निर्णय पर परिवार का साथ देना मुश्किल होता है।

रमणिका जी ने कभी भी हिम्मत नहीं हारी। शादी के बाद भी पढ़ाई –लिखाई, कविता और नाटक–नृत्य जारी रहा तथा राजनीति में भी भाग लेने का निर्णय लिया तथा बाद में इसकी सूचना अपने पति को दी। इस संदर्भ में उनका कहना था दृ"अपने विश्वास के मुताबिक औरतों के निर्णय लेने की आजादी को बरकरार रखने के लिए मैंने निर्णय के बाद ही इसकी सूचना प्रकाश को दी, मेरी नजर में औरत को किसी निर्णय के लिए पति की इजाजत मांगना औरतों के अधिकारों का हनन है। हाँ आपस में राय की जा सकती है। परम्परा के अनुसार मायके जाने की भी इजाजत औरते पति या परिवार से लेती है कहीं ओर जाने की बात तो दूर रही। मैंने इस परम्परा को अपने जीवन में हमेशा नकारा। इतना ही नहीं अपनी अलग पहचान बनाने की धुन इतनी तीव्र हो गई कि अगर किसी समारोह का निमंत्रण पत्र मेरे नाम न आए तो मैं प्रकाश के साथ श्रीमती बी.पी गुप्ता बनकर जाने से इंकार कर देती थी। मुझे लोग मेरे कारण पहचाने, प्रकाश की पत्नी होने के कारण नहीं दृयह भावना तीव्र हो गई थी।"[13]

रमणिका जी का मानना है कि कुछ लोग स्त्री की प्रशंसा बर्दाश्त नहीं कर पाते। इस संदर्भ में वह लिखती हैंदृ "हर पुरुष स्त्री के समक्ष ऐसी ही हीन भावना से ग्रस्त होता है और उसकी भरपाई करने हेतु स्त्री पर हमला करता है।"[14]

अपने बारे में उनका स्पष्ट कहना है दृ"मैं जो हूँ खुली किताब के रुप में सामने हूँ। मानो न मानो पर मेरा अस्तित्व है तथा रहेगा और मैं इस विश्वास को लेकर चल रही हूँ, तभी तो सब ओर के हमले भी झेल पाई।"[15]

भारतीय स्त्रियों की मनोस्थिति और उन पर लगे प्रतिबंधों के कारण उन स्त्रियों की स्थिति भी सोचनीय हो जाती है। इसे स्पष्ट करते हुए वे लिखती हैं दृआमतौर से विशेषकर भारतीय समाज में अपराध बोध और आत्मदया की ग्रंथि से ग्रसित रहती है। दरअसल प्रायः सभी स्त्रियां अपने समाज या परम्पराओं अथवा रुढ़ियों के विरुद्ध या पुरुष या परिवार के इच्छा के विपरीत कुछ भी करती या सोचती हैं, तो वे तत्काल अपराध बोध की ग्रंथि से ग्रसित हो जाती हैं। वे अपने आचरण को गलत मानकर खुद को दोषी मानती रहती है।.....वे आगे लिखती है कि मैं भी इन दोनों ग्रंथियों से मुक्त न थी। सम्भवत रुढ़िगत परिवेशों, सामंती माहौल से निकली महिलाओं को जब एकाएक जीवन के यथार्थ का सामना करना पड़ता है तो ये ग्रंथियां, जो बचपन से ही उनकी चेतना में कूट–कूटकर भर दी जाती है, और एक कवच के रुप में बांध दी जाती हैं, उन्हें घेर लेती हैं।.....मेरे व्यक्तित्व में भी ये दो ग्रंथियां उभरती रही हैं। मैं बहकी, बहुत बहकी....पर यह सब मेरे व्यक्तिगत मामलों तक ही सीमित रहा। सामुहिक मामलो में मेरी जिद और मेर निर्णय से, मेरी ये ग्रंथियां हारती रही। इस परस्पर विरोधी व्यक्तित्व के कारण व्यक्तिगत मामलों में मैं बार–बार पछाड़ खाई और हारी भी लेकिन इन सबके बावजूद मेरा बहिर्मुख बार–बार मुझ पर हावी होकर, मुझे उबारता रहा।"[16]

कहने का सीधा सा अभिप्राय यह है कि स्त्री आत्मकथाओं की यह एक महत्वपूर्ण विशेषता है कि लेखिकाएं अपनी कमजोरियों को छुपाती नहीं बल्कि साहस के साथ स्वीकार करती हैं।आत्मकथा में वे अपने यौन सम्बन्धों पर भी खुलकर बात करती है।

एक औरत के लिए आवश्यक रणनीति को रमणिका जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है दृ"एक औरत को आगे बढ़ने के लिए "थेथर" भी होना जरुरी है। थेथर का मतलब संवेदनारहित नहीं बल्कि विपरीत परिस्थिति में भी डटे रहना।पीठ थपथपाकर बहादुरी का वास्ता देनेवाले भी बहुत मिलते हैं, राजनीति में दृ खासकर औरतों को। उनकी नीयत को पहचानना और सब सुनकर समझकर अपने फैसले पर अडिग रहना ही अगर थेथरपन है तो वह राजनीति में स्त्री के लिए लाजिमी है। "सुनो जग की, करो मन की सूक्ति, को पूरी तरह चरितार्थ करना जरुरी है।"[17]

रमणिका जी को कई तरह की समस्याओं का सामना करना पड़ा पर न ही उनका विश्वास कभी टूटा और न कभी वह अपने निर्णय से पीछे हटी। इसी हिम्मत को इस रूप में देख सकते हैं कि जब उनकी हड्डियाँ टूटी और मजदूर डर रहे थे और वह कहती है दृ"मुझे विश्वास था मुझे कुछ नहीं होगा। मैं नहीं मरूँगी, क्योंकि अभी लड़ाई अधूरी थी। मुझे तो उन शोषकों से अभी उन सब दिनों का हिसाब लेना था, जितने दिन उन्होंने मजदूरों को आठ आने हफ्ते पर खटवाया था। मुझे तो एक बड़ी लड़ाई लड़ने के लिए मजदूरों को तैयार करना अभी बाकी था। मुक्ति की जंग अभी अधूरी थी। अदम्य विश्वास था मुझमें और थी असीम जिजीविषा भला अधूरा आंदोलन छोड़कर मैं कैसे मरती?इसलिए अपने विरोधियों के सब अरमान, अंदाजों को झुठलाती हुई मैं जिंदा रही।"[18]

रमणिका के इस आत्मकथा के बारे में कहा गया है– "हादसे सिर्फ रमणिका जी की व्यक्तिगत गाथा नहीं बल्कि हजारों, लाखों दलितों, मजदूरों जो कोयला खदान में कार्यरत थे, उनके संघर्ष के अदम्य हौसले का प्रामाणिक दस्तावेज

है। मजदूर हितों को सदा अपने व्यक्तिगत हितों से ऊपर रखने वाली, समष्टि के कल्याणार्थ अपने प्राणों को हथेली पर रखकर चलाने वाली स्त्री की कहानी है हादसे।"[19]

राजनीति में अपने अनुभव के आधार पर रमणिका जी नेताओं के चरित्र को उजागर करते हुए लिखती है दृ "राजनीति में आए नेताओं का औरतों के प्रति अजीब सा रवैया होता है। अगर स्त्री उसकी पेशकश को ठुकरा दें और उन्हें टका सा जवाब दे दे तो उसके विरुद्ध चरित्रहीनता का प्रचार करने लगते हैं। राजनीति में औरतों को जलील करने की सोची समझी परंपरा है कि जिसकों इंकार करो वही यह कहते हुए घूमने लगता है दृमेरे तो पीछे पड़ी थी, बड़ी मुश्किल से मैंने दूसरे को सौंपकर पीछा छुड़ाया है।"[20]

स्त्रियों का जीवन किस प्रकार संकटों से घिरा रहता है तथा पुरुष किस तरह उसे अपने मतलब के लिए प्रयोग कर उसकी अस्मिता को तार तार करना चाहते हैं इसे व्यक्त करते हुए वह लिखती है दृ "पुरुषों में औरतों को लेकर यह सामान्य भाव होता है कि दृ वह उसके साथ जा सकती है तो मेरे साथ क्यों नहीं आएंगी? मैंने हमेशा इस कब्जाकरण का विरोध किया है। .....किसी एक के साथ संबंध का अर्थ यह नहीं होता कि सबके साथ संबंध हो। पर न जाने क्यों भारतीय पुरुष किसी स्त्री के प्रेम प्रसंग को अपने लिए लाइसेंस मानकर उस पर हक जमाना शुरु कर देता है। इसी से विवाद बढ़ता है। .....मैं इस धारणा को नकारने का प्रयास करती रही।"[21]

हमारा भारतीय समाज किस तरह आज भी कई मामलों में संकीर्ण सोच और मध्यवर्गीय मानसिकता में जकड़ा हुआ है इसे भी रमणिका जी आत्मकथा में व्यक्त करती है दृ"हम राजनीतिक तौर पर आजाद तो हो चुके हैं, पहनावे में भी पश्चिम की नकल कर रहे हैं किंतु सोच के स्तर पर विशेषकर स्त्री और सेक्स के बिंदु पर, हमारी मानसिकता मध्यवर्गीय ही है दृ बल्कि कहा जाए तो 16वीं सदी की मानसिकता हम आज भी ढ़ो रहे हैं। हम सूडोमॉडर्न है दृ मॉडर्न नहीं।"[22]

पतित स्त्री को लेकर जो मान्यता हमारे समाज में रही है वह रमणिका जी को मान्य नहीं। उस पर विचार करते हुए और पतित शब्द की व्याख्या करते हुए वह कहती हैं दृ"मैं औरत के संदर्भ में पतित शब्द की परिभाषा से सहमत नहीं हूँ। यह शब्द औरत के चरित्र के साथ जोड़ा जाता रहा है और चरित्र का अर्थ केवल औरत के यौन सम्बन्धों को लेकर ही समझा जाता है। औरत के संदर्भ में चरित्र के अन्य गुण या लक्षण जैसे नैतिकता,शालीनता,ईमानदारी,परस्पर सद्भाव या संवेदनशीलता तथा बहदुरी या निडरता आदि को नजरअंदाज कर दिया जाता है।"[23]

अपने पूरे जीवन काल में उन्होंने कभी समझौता नहीं किया, बल्कि अपने साहस से दुश्मनों को सबक सिखाया है। रमणिका जी यह भी मानती हैं कि स्त्री के विरोध न करने और इज्जत खोने के डर के कारण भी उनका शोषण होता है, क्योंकि विरोध न करने से कहीं न कहीं शोषक को बल मिलता है। वह लिखती हैं दृ"इज्जत के डर से औरतों की मानसिकता पुरुषों के गंदे मजाकों या कुत्सित हरकतों को सहने की आदि हो जाती है। वे 'जाने दो' कौन झगड़ा मोल ले इस लंपट के साथ– अपने आप चुप हो जाएगा' कहकर बात टाल देती है। इस रवैये से लंपटों का मनोबल बढ़ता है।––––इसलिए आगे वह लिखती है कि दृलंपटों, धूर्तो से पाला पड़े तो लज्जा त्यागकर डटना चाहिए अन्यथा वह अपनी शठता का आंतक कायम कर लेता है।"[24]

कई बार स्त्री लेखिकाओं पर बात करते हुए कि उन्हें पुरुषों का विरोधी माना जाता है पर रमणिका जी इस मामले में अपनी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए लिखती है दृ ऐसा नहीं है कि मैं पुरुष समाज की विरोधी हूँ, मैं महिला मुक्ति के उन हदों को नहीं छूती जहां पुरुषों को नकारा जाए। मैं मानती हूँ कि पुरुष औरत की सबसे बड़ी कमजोरी है और औरत पुरुष की। इसलिए दोनों को साथ चलना ही पड़ेगा। परस्पर घृणा में भी प्रेम पलता रहता है जो असुरक्षा तथा भय का कारण भी बनता है। इसलिए परस्पर प्रेम और घृणा तो स्वाभाविक परिणति होते हैं।"[25]

इस आत्मकथा के संबंध में राजेन्द्र यादव का कहना है दृ"इस आत्मकथा को स्त्री के अपने चुनाव की कहानी भी कहा जा सकता है। पटियाला के बड़े मिलिटरी अफसर की जिद्दी और अपने मन का करने वाली लड़की जो अपनी हरकतों से बार–बार बाप और उनके परिवार को असुविधों में डालती है, खुली मीटिंगों में उनके सामंती दुमुँहेपन पर प्रहार करती है, विभाजन की त्रासदी झेलती मुस्लिम महिलाओं की आवाज बनकर जवाब मांगती है और फिर अपने मन से क्षत्रिय (राजपूत) परिवार छोड़कर वेद प्रकाश (गुप्ता) से शादी करके बिहार (झारखंड समेत) चली आती है। यहां आकर पति से विद्रोह करके मजदूर कामगारों के बीच उनके संघर्ष का जीवन चुनती है। रमणिका ने हर जगह सुख सुविधाओं को छोड़कर बीहड़ रास्ता चुना है।"[26]

अतः स्त्री अस्मिता की लड़ाई में रमणिका जी का महत्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने अपने जीवन में केवल औरतों का ही नेतृत्व नहीं किया बल्कि एक विशाल मजदूर, दलित, किसान एवं आदिवासी समाज को भी एक दिशा दी है। एक स्त्री का राजनीति में बिना किसी की सहायता के आगे दूर तक जाना निसंदेह प्रशंसा की बात है। निश्चित तौर पर उनकी इस आत्मकथा में एक स्त्री के व्यापक संघर्ष की अद्भुत झलकियाँ मिलती है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. गुप्ता रमणिका : हादसे : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम सं–2005, पृ0 18
2. वही पृ0 16
3. हादसे : रमणिका गुप्ता, पृ0 36–37
4. वही पृ0 44
5. वही पृ0 27
6. वही पृ0 31
7. वही पृ0 31–32
8. वही दृ 89
9. www-bhadas4media-com
10. हादसे गुप्ता रमणिका :हादसे : राधाकृष्ण प्रकाशन, प्रथम सं–2005, पृ0 29
11. वही पृ0 24
12. वही पृ0 24
13. वही पृ0 26
14. वही पृ0 44
15. वही पृ0 52
16. वही पृ0 52
17. वही पृ0 54
18. वही पृ0 106–07
19. www-shodhganga-inflibnet-in
20. हादसे : गुप्ता रमणिका राधाकृष्ण प्रकाशन, पृ0 245
21. वही पृ0 264
22. वही पृ0 261
23. हादसे गुप्ता रमणिका : हादसे, पृ0 16
24. वही पृ0 263
25. वही पृ0 265
26. हादसे : गुप्ता रमणिका राधाकृष्ण प्रकाशन, आत्मकथा के अनेक पाठ : राजेन्द्र यादव, पृ0 7

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

प्रेमचन्द की कहानियों में दलित–चेतना के विविध आयाम

डॉ0 संजय कुमार सिन्हा
एम.ए., पी.एच–डी
गांधी आश्रम, हाजीपुर,
जिला–वैशाली (बिहार)

'दलित–चेतना' का शाब्दिक अर्थ है दबे–कुचले लोग की मानसिकता। भारतीय इतिहास पर दृष्टि डाली जाए तो आदिकाल से ही हमारे समाज में दबे–कुचले लोगों की व्यथा की कथा सुनाई पड़ती है। इनके व्यथा का कारण आर्थिक तथा सामाजिक रहा है तथा यह परंपरा के रूप में आगे बढ़ता ही गया। भारतीय सभ्यता और संस्कृति में पुरातनपंथियों का वर्चस्व रहा है। उनके अनुसार समाज का स्वरूप निर्धारित होता गया, जिसके परिणामस्वरूप पाखंड, अंधविश्वास, ऊँच–नीच, जाति–पाँति, आदि समाज को घुन की तरह खाने लगा। कालान्तर में स्थिति बदतर होती गई और समस्याएँ विकराल दिखाई देने लगी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व से यानी 1857 ई0 में सिपाही विद्रोह के समय का भारतीय समाज अनेक कुप्रथाओं से घिरा हुआ था। अनेक समाज सुधारक ने तथा साहित्यकारों ने उन कुप्रथाओं को जड़ से समाप्त करने के लिए आंदोलन किया। इस क्रम में शाब्दिक आन्दोलन से महत्वपूर्ण परिवर्तन देखा गया। यहाँ पर स्पष्ट कर देना उचित होगा कि 'दलित' शब्द सिर्फ जातिगत दलितों से नहीं है, बल्कि आर्थिक रूप से विपन्न लोगों से संबंधित है। कुछ विद्वानों ने दलित के बारे में सिर्फ जातिगत आधार देकर भ्रम उत्पन्न कर दिया है। यदि सिर्फ जाति से दलित–वर्ग ही 'दलित' हैं तब उनको क्या कहा जाएगा जो समाज के अन्य जाति के हैं और आर्थिक रूप से विपन्नता की स्थिति में जीते हैं? निश्चित रूप से वे भी 'दलित' की ही श्रेणी में आएँगे। इन लोगों को भी समाज से प्रताड़ित होना पड़ा है, शोषित होना पड़ा है। इन दलितों का अस्तित्व सदियों से रहा है।

समाज में ऐसे सभी लोग 'दलित' या शोषित हैं, जिनकी आर्थिक स्थिति बिल्कुल जर्जर है और जिनपर अत्याचार सदा से होता आया है। जाति में इन दलितों या शोषितों को समेट कर देखना भूल करना होगा। अतः आवश्यकता इस बात की है कि हम 'दलितों' पर या शोषितों पर होनेवाले सभी प्रकार के अत्याचारों का वर्णन करें ताकि यह स्पष्ट हो सके कि शोषण क्यों और किस पर हो रहा है? ऐसा होने से इतिहास की उपयोगिता के साथ–साथ साहित्य की महत्ता भी बनी रहेगी। प्रेमचन्द ने अपनी अधिकतर कहानियों में 'दलित' शब्द की व्यापकता को ध्यान में रखते हुए वर्णित किया गया है।

प्रेमचन्द ने अधिकतर कहानियों में दलित–चेतना के विविध आयामों को सूक्ष्मता के साथ प्रस्तुत किया है। उदाहरणस्वरूप 'पूस की रात' कहानी का पात्र हल्कू एक दलित किसान है। उसके पास पैसे नहीं हैं कि जाड़े की रात से अर्थात् पूस की रात से बचने के लिए एक कम्बल खरीद सके। उसके पास जमा किए हुए तीन रूपये भी है तो सहना का डर उसे समाया हुआ है। प्रेमचन्द ने हल्कू के मन में डर और विवशता को बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से प्रस्तुत किया है।

'सदगति' में दुखिया चमार पर ब्राह्मण द्वारा होनेवाले अत्याचार की कहानी है। दुखिया ब्राह्मण के यहाँ अपनी बेटी का लग्न निकलवाने जाता है और वह अत्याचारी ब्राह्मण उससे काम कराते–कराते दम ले लेता है। इस कहानी में दुखिया दोनों रूप में 'दलित' है। जातिगत तथा आर्थिक। यहाँ पर प्रेमचन्द ने जाति–भेद को उभारा है।

'सवा सेर गेहूँ' में शंकर नामक दलित किसान की कहानी है। उसके सामान्य जीवन को नारकीय एवं जर्जर बनाने में विप्र महाराज का हाथ होता है। विप्र महाराज की आततायी व्यवहार तथा कठोर नीति से शंकर किसान से मजदूर बन जाता है और ऋण चुकाने में जीवन पर्यन्त मजदूरी करते–करते मर जाता है और उसके मरने के बाद उसका बेटा ऋण चुकाने में विप्र की मजदूरी करता है । इस सम्पूर्ण कहानी में एक ओर सीधा–सादा जीवन, उदारता, भावुकता तथा दूसरी ओर निर्मम व्यवहार तथा सामाजिक, नैतिक अत्याचार का प्रदर्शन हुआ है। 'दलित–चेतना' का विराट स्वरूप इस कहानी में मिलता है।

'जुर्माना' में उल्लारक्खी नाम की मेहतरानी है जो अपने दारोगा खैरात अली से आशंकित और डरती रहती है। उसके साथ किसी प्रकार का जान बूझकर अत्याचार नहीं किया जाता, बल्कि संयोगवश वह काम के समय कुछ देर ज्योहीं आराम करना चाहती है कि दारोगा पहुँच जाता है और झाड़ू देने में लापरवाही यानी कर्त्तव्यहीनता क कारण जुर्माना कर देता है। ऐसा प्रायः होने के कारण वह सहमी रहती है।

मंत्र–1 और मंत्र–2 नामक महानियों में 'दलित–चेतना' का स्वरूप अलग–अलग दिखाई पड़ता है। मंत्र–1 में डाक्टर चड्ढ़ा बूढ़े भगत के साथ जो अमानवीय व्यवहार करता है, बदले में बूढ़ा भगत उसके साथ जीवनदाता जैसा व्यवहार करता है और डाक्टर चड्ढ़ा को एक सीख मिलती है।

मंत्र–2 कहानी में पंडित लीलाधर चौबे और उनके पाखंड पर प्रहार किया गया है तथा अन्त में उन्हें आत्मग्लानि होती है। दलित बूढ़ा चौधरी से साक्षात्कार होना पंडित लीलाधर चौबे के जीवन में एक चुनौती सिद्ध हुआ। इस घटना के बाद जब उनका प्राण संकट में पड़ता है तब वह बूढ़ा चौधरी ही उनकी प्राण रक्षा करता है। तत्पश्चात् एक आद्भुत परिवर्तन लीलाधर चौबे के मन में होता है और वह भी उस बूढ़ा चौधरी और अन्य तीन दलितों को बीमारी की स्थिति में अपनी सेवा सुश्रूषा से ठीक कर देता है तथा उसी गाँव में अपने बाल–बच्चे के साथ जीवन निर्वाह करने लगता है।

'सौभाग्य के कोड़े' में नथुवा अनाथ की जीवन–कथा है। वह राय भोलानाथ के यहाँ नौकर के रूप में काम करता है और उनकी बेटी रत्ना की चारपाई पर सोने के कारण बहुत मार खाता है। अंत में हवेली छोड़कर भागता है और भंगी की एक बस्ती में शरण पाकर उसका सम्पूर्ण जीवन परिमार्जित हो जाता है। वह महान संगीतकार के रूप में नथुवा से आचार्य बन जाता है। आचार्य बनने के बाद जब वह उसी शहर में पुनः लौटता है तो राय भोलानाथ और रत्ना उसका आदर–सत्कार करते हैं और अंत में रत्ना की शादी आचार्य के साथ हो जाती है। इस कहानी में प्रेमचन्द ने पुनः दलित प्रताड़ना को दर्शाया है। प्रेमचन्द यहाँ बतलाना चाहते हैं कि जब किसी व्यक्ति की आर्थिक सत्ता एवं सामाजिक सत्ता उच्च हो जाती है तब समाज उसको प्रतिष्ठा देने लगता है। यहाँ तक कि उसकी जाति तक को लोग भूल जाते हैं।

'आगा–पीछा' कहानी अछूत की कहानी है। इसमें भगतराम दलित जाति का है और उसका विद्यालय में नामांकन पैरवी से हो जाता है, किंतु विद्यालय के सहपाठी उसे अछूत ही मानते हैं। इस कहानी में संकेत इस बात की ओर है कि तत्कालीन समाज जाति–प्रथा के रोग से ग्रसित था।

'ठाकुर का कुआँ' कहानी भी जातिगत स्वरूप का परिचायक है। ठाकुर, सामन्त, जमींदार वर्ग दलितों के साथ अमानवीय व्यवहार तो करते ही थे ताकि उनका जीवन नारकीय बन जाय। दलितों को अनेक प्रकार के सामाजिक निषेध का सामना करना पड़ता था।

'बेटी का धन' में ग्रामीणों की जर्जर आर्थिक दशा का चित्रण किया गया है। लगान चुकाने में ग्रामीणों की कमर टूट जाती है। जमींदार ठाकुर जीतन सिंह गाँव वालों को इतना अधिक विवश कर देता है कि उनलोगों को लगान चुकाने के लिए अपनी बेटी के आभूषण तक को गिरवी रखना पड़ता है। 'मुक्ति–धन' कहानी भी लगान देने से संबंधित कहानी है। लगान चुकाने में असमर्थ रहमान अपनी गाय बेच देता है। लगान–प्रथा का वीभत्स रूप तत्कालीन समाज में देखा गया है जिसका चित्रण प्रेमचन्द ने किया है।

'जेल' में लगान के कारण ही किसानों को अपना घर छोड़कर चला जाना पड़ता है। यहाँ भी वही विवशता है।

'पछतावा' में कुँअर विशाल सिंह और उनके कर्मचारी लोग नये–नये ढ़ंग से किसानों का शोषण करते हैं। इस शोषण कार्य में जो भी कर्मचारी आनाकानी करते हैं, उन्हें नौकरी से हाथ धोना पड़ता है।

'बलिदान' कहानी में प्रेमचन्द ने बतलाया है कि जमींदार की इच्छानुसार नजराना नहीं देने पर किसान गिरधारी को अपनी जमीन छोड़ने पर विवश होना पड़ता है और इस दुःख वे वह आत्महत्या कर लेता है

'विध्वंश' में गांव के जमींदार पंडित उदयभानू पाण्डेय भुनगी से दाने भुनने का बेगार लेते हैं और जब एक दिन वह असमर्थ हो जाती है तब उसका भाँड़ खोद देते हैं तथा उसके पत्ते में आग लगा देते हैं। इस दुःख से वह पत्ते की आग में जलकर मर जाती है।

'मोटर की छींटे' कहानी इस बात का परिचय देता है कि धनी वर्ग दलितों का शोषण करके ही आराम का जीवन व्यतीत करते हैं और धन के अभिमान में दलितों की उपेक्षा करते हैं।

'नशा' में शोषण करने के प्रकार को बतलाया गया है। दलितों पर अत्याचार करने में जमींदार कौन–कौन से तरीके अपनाते हैं, इसी का चित्रण इसमें है। ईश्वरी एक बड़े जमींदार का लड़का है जो दलितों को हीन दृष्टि से देखता है।

'खुदाई फौजदार' में भी महाजनी प्रथा का प्रकोप दिखलाया गया है। सेठ नानकचंद गाँव के लोगों को ऋण देते हैं और सूद में उनसे काम लेते हैं। तत्कालीन समाज में सूदखोरी चलन बन चुका था। जमींदार जैसा चाहे, जब चाहे दलितों पर अत्याचार आरंभ कर देता था। सक्षम दलित भी असक्षम बन जाते थे और प्रताड़ना से उब कर आत्महत्या कर लेते थे।

सारांशतः मुंशी प्रेमचन्द ने दलितों से संबंधित हर परिस्थिति का सूक्ष्मता के साथ मार्मिक चित्रण किया है जो तत्कालीन परिस्थितियों को दर्शाने में पूर्णरूपेण सफल रहा है।

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

Self Esteem Among College Students Regarding Academic Performance

Preeti Kumari
Research Scholar,
Deptt. of Psychology,
V.K.S.U. Ara

Abstract:
The current study was conducted to assess the self-esteem and academic performance among university students after arising of several behavioral and educational problems. A total number of 80 students, 40 male students and 40 female students were selected through purposive sampling from Veer Kunwar Singh University, Ara. The participants were administered Rosenberg Self-Esteem Scale and Academic Performance Rating Scale to measure their self-esteem and academic performance. The score of male and female students was compared. Pearson's Product Moment and the t-test were used for statistical significance of data. It was found that there was a significant relationship ($r=0.879$, $p<.01$) between self-esteem and academic performance. Moreover a significant difference was found between male and female students on self-esteem and academic performance scores, which indicate that female students have high scores on academic performance as compared to male students and male students have high scores on self-esteem as compared to female students
Key word: Self-esteem, Academic Performance, Behavioral & Educational Problems.

INTRODUCTION

In Indian culture studies and students behavioral issues have main problem in educational institutes. In all over the world, student's psychological and physical health considered to main issues in studies. In India, where 60% of population is adult, the illiteracy percentage was 72 percent in the youth age 15 to 24 years, 57 percent in the aged 25 to 44 youths, 46 percentage in 45 to 54 years and 38 percent in the people aged 55 to 64 years in the year 2012. It said, India remained below in the illiteracy from China, Iran, Sri Lanka, Nepal and Burma, while it remained above from Afghanistan and Bangladesh. In India, 3 million 75 lakh students were going to school and colleges in the year 2012 out of them 2.6 million were Primary level students, 2.9 million students of high school education and 1.5 million students were of colleges and universities (UNESCO, 2012).

Baumeister, Campbell, Krueger & Vohs, (2003), investigated that Self-esteem has become a household word. Teachers, parents, therapists, and others have focused efforts on boosting self-esteem, on the assumption that high self-esteem will cause many positive outcomes and benefits—an assumption that is critically evaluated in this review. Appraisal of the effects of self-esteem is complicated by several factors. Because many people with high self-esteem exaggerate their successes and good traits, we emphasize objective measures of outcomes. High self-esteem is also a heterogeneous category, encompassing people who frankly accept

their good qualities along with narcissistic, defensive, and conceited individuals. The modest correlations between self-esteem and school performance do not indicate that high self-esteem leads to good performance. Instead, high self-esteem is partly the result of good school performance. Efforts to boost the self-esteem of pupils have not been shown to improve academic performance and may sometimes be counterproductive. Job performance in adults is sometimes related to self-esteem, although the correlations vary widely, and the direction of causality has not been established. Occupational success may boost self-esteem rather than the reverse. Alternatively, self-esteem may be helpful only in some job contexts. Laboratory studies have generally failed to find that self-esteem causes good task performance, with the important exception that high self-esteem facilitates persistence after failure. People high in self-esteem claim to be more likable and attractive, to have better relationships, and to make better impressions on others than people with low self-esteem, but objective measures disconfirm most of these beliefs. Narcissists are charming at first but tend to alienate others eventually. Self-esteem has not been shown to predict the quality or duration of relationships. High self-esteem makes people more willing to speak up in groups and to criticize the group's approach.

High self-esteem does not prevent children from smoking, drinking, taking drugs, or engaging in early sex. If anything, high self-esteem fosters experimentation, which may increase early sexual activity or drinking, but in general effects of self-esteem are negligible. One important exception is that high self-esteem reduces the chances of bulimia in females. Overall, the benefits of high self-esteem fall into two categories: enhanced initiative and pleasant feelings. We have not found evidence that boosting self-esteem (by therapeutic interventions or school programs) causes benefits. Our findings do not support continued widespread efforts to boost self-esteem in the hope that it will by itself foster improved outcomes. In view of the heterogeneity of high self-esteem, indiscriminate praise might just as easily promote narcissism, with its less desirable consequences. Instead, we recommend using praise to boost self-esteem as a reward for socially desirable behavior and self-improvement (Baumeister, Campbell, Krueger & Vohs, 2003).

Lane, Lane & Kyprianou (2004), investigated relationships between self-efficacy, self-esteem, previous performance accomplishments, and academic performance among a sample of 205 postgraduate students. Participants completed measures of past performance accomplishments, self-esteem, and self-efficacy at the start of a 15-week course. Each student's average grade from modules studied was used as the performance measure. Correlation results indicated significant relationships between self-efficacy and self-esteem. Multiple regression results indicated that self-efficacy mediated the relationship between performance accomplishments and academic performance. Findings lend support to the predictive effectiveness of self-efficacy measures in academic settings.

Sadaat, Ghasemzadeh & Soleimani (2012), conducted a research, which aims to study self-esteem and its determined link to academic achievement of university students. According to the results obtained from a study on 370 students, significant difference is observed in self-esteem among male and female students. However, male students for family self-esteem received higher scores than female students ($t= -2/12$), $p< 0.05$). The students of the faculties of basic sciences, psychology and educational sciences, and electro- computer showed

significant difference in self-esteem. Academic self-esteem and family self-esteem on the meaningful level of P< 0.05 had a direct and positive relationship with the academic achievement of students.

Mohammad (2010) highlights the relationship between self-esteem and academic achievement in the pre-university students. Additionally, it aimed to identify whether there are differences in academic achievement between boys and girls. The objectives of this study were achieved by using the Coppersmith questionnaire and the students' grade in their current and previous semesters. The random sampling was used for collecting the data and as a consequence 50 male and 50 female were chosen randomly. The questionnaires were distributed amongst 100 students in Qaemshahr schools. The results demonstrated that there was significant ($p<0.01$) positive relationship between self-esteem and academic achievement. Moreover, there was significant difference in academic achievement between boys and girls. However, no significant difference was found in self-esteem between males and females. The results suggest that high self-esteem is important factor and strengthen the prediction of academic achievement in students.

LITERATURE REVIEW

Abdullah (2000) conducted a study to examine the relationship among achievement motivation, self-esteem, and locus of control and academic performance of university students in a Nigerian University. The purpose was to determine the extent university student's academic performance was influenced by these criterion variables. One thousand, three hundred and thirty-five male and female university students from seven faculties participated in the study. They were selected by stratified cum simple random sampling techniques. Results from multiple regression analysis revealed that clearly the subjective independent variables did not predict objective measure of the students' academic performance. Psycho-sociological evidences abound that lack of achievement motivation and low self-esteem, creates in students lack of interest to strive for high academic performances, and zeal to contribute positively and efficiently to national development.

Utilizing mixed methodology, this research investigates the relationship between self-esteem and academic achievement for young adolescents within two Western cultural contexts: the United States and England. Quantitative and qualitative data from 86 North American and 86 British adolescents were utilized to examine the links between self-esteem and academic achievement from the beginning to the end of their academic year during their 11th–12th year of age. For both samples, quantitative results demonstrated that fall self-esteem was related to multiple indicators of later year academic achievement. While country differences emerge by the end of the year, math appears to have a consistent relationship with self-esteem in both country contexts. Qualitative analyses found some support for British students' self-perceptions as more accurately reflecting their academic experience than the students from the United States (Booth & Gerard, 2011).

Akinleke (2012) conducted a study and the aim of this study was to discover how test anxiety and self esteem affect academic performance. Two hundred and fifty randomly drawn final year National Diploma (NDII) students of the Federal Polytechnic, Ilaro were involved in the study. They were given two questionnaires that took between forty and forty five minutes to complete. The study was carried out in a classroom environment during regular

school hours. After collecting information from the students through questionnaires, their comprehensive Grade Point Averages (GPA) in previous year were also collected. This GPA data were then compared to the scores obtained from the questionnaires. This study discovered that overall, low anxiety students had higher GPAs than high anxiety students and that there is a positive relationship between self esteem and academic performance. The implication of the findings were that stakeholders in education should formulate policies that help students to cope with anxiety and also initiate programs that will assist the process of learning and mastering challenges as such would result in higher academic achievement

Hypothesis:

1. There would be a positive relationship between self-esteem and academic performance among university students.
2. There would be a significant difference in scores on self-esteem scale among male and female university students.
3. There would be a significant difference in scores on academic performance scale among male and female university students.

METHOLOGY

The 80 students and their ages were 18 to 25, studied in master degree programs selected from Veer Kunwar Singh University. The purposive sampling technique was used t collect the data from the desired participants. The sample of study is divided into two groups, first group consists of 40 male students and second group is consists of 40 female students, studied in master degree programs.

Measures:

Rosenberg Self-Esteem Scale (Rosenberg, 1965)

The scale is a ten item Likert scale with items answered on a four point scale - from strongly agrees to strongly disagree. The original sample for which the scale was developed consisted of 5,024 High School Juniors and seniors from 10 randomly selected schools in New York State. Instructions of test are these, below is a list of statements dealing with your general feelings about yourself. If you strongly agree, circle SA. If you agree with the statement, circle A. If you disagree, circle D. If you strongly disagree, circle SD. Scoring of test is as follows, SA=3, A=2, D=1, SD=0. Items with an asterisk are reverse scored, that is, SA=0, A=1, D=2, SD=3. Sum the scores for the 10 items. The higher the score, the higher the self esteem (Crandal, 1973).

Variables

Definition of Self-esteem

Self-esteem reflects a person's overall subjective emotional evaluation of his or her own worth. It is a judgment of oneself as well as an attitude toward the self (Hewitt, 2009).

Definition of Academic Performance

Academic performance is the outcome of education— the extent to which a student, teacher or institution has achieved their educational goals (Annie, Howard & Mildred, 1996).

Procedure:

In order to fulfill the requirements of current research 80 subjects were selected from Veer Kunwar Singh University. The age range of the subject was 18 to 25 years and studied in master degree programs. There were many expected and unexpected hurdles for collecting

the data, so for reducing these difficulties permission letter was provided to the administrators of the university so that encounter hurdles in the data collection process may be dealt easily. This permission letter was shown to authorities and assurance of confidentiality also given to them. The rationale of study was explained to the participants. Brief instructions about questionnaire were given to participants on first page. It was made that all information would be kept confidential and would be utilize only for research purpose. They were requested to complete the questionnaire. Approximately all the participants completed the questionnaires in the presence of researchers. Researchers clarified or interpreted the questions to the less educated or illiterate participants. It took 10 to 15 minutes for the completion of the protocols. They were also mention their age, gender, qualification and working type in which they work as demographic variables.

Pearson's product moment correlation method and t-test were used to find out the significance level of data through SPSS.

RESULTS

Table I

Pearson's Correlation between self-esteem and academic performance N=80

	Self-esteem (Sel)	P value
Academic Performance (AP)	0.863(**)	0.007

Table: I indicates that the results are significant at 0.007 levels. It also shows that there is a strong positive correlation between self-esteem and academic performance among university students.

Table II

Mean values of male and female students on self-esteem N=80

Group	Mean	S.D	df	t-test	p
Self-esteem (Sel)					
Male (N=40)	28.7	4.05	54	6.98	0.004
Female (N=40)	22.5	2.67			

Table: II indicates that male students had higher self-esteem than female students. It also supports the results that there is a significant deference between female and male students scores on self-esteem.

Table III

Mean values of male and female students on academic performance N=80

Group	Mean	S.D	df	t-test	p

Academic Performance (AP)					
Male (N=40)	25.6	3.94	43	8.09	0.004
Female (N=40)	19.4	2.73			

Table: III indicates that female students had higher academic performance than male students. It also supports the results that there is a significant deference between female and male student's scores on academic performance.

DISCUSSION

India is developing country; now a day's faces many problems like flood, terrorism, degrading social status and earth quick etc. unfortunately India government is fail to release pressure of these problems and due to these problems, students faced many problems in educational institutes. Due to insufficient educational budget, Pak government increases the fees every year. This issue leads the students to quit their studies. If they continue their studies, their educational level is very poor.

The result of current study indicated that male students have high level of self-esteem and female students have higher academic performance. As it can be seen in result section, table # 1 indicates that there is a strong positive correlation (r = 0.863) between self-esteem and academic performance among university students, which also indicates that the results are highly significant at 0.007 level.

The table # 2 of the current study also shows that male students have high scores on self-esteem as compared to female child students and results are significant at 0.007 levels. The probable causes of these findings may be more independent status of males than of females, which is given them by culture. Hence this given status makes males comparatively more social and strong. The findings of the current study are consistent with a number of other studies.

The table # 3 of the current study indicates that female students have higher academic performance as compared to male students and results are significant at 0.007 levels. The findings of the current study are also consistent with a number of other studies. The relationship between self-esteem and academic achievement is one that is regarded by many educators as a well-established fact. This belief has been often invoked in order to argue against the provision of ability grouping for gifted students. Refuting that commonly-held belief, this research examined the relationship between self-esteem and academic achievement in 65 high-ability secondary students, a sample drawn from a longitudinal study of over 900 students. The research demonstrated that there were no differences in measured self-esteem between the gifted and non-gifted students. More contentiously, though, the research found no correlation between self-esteem and academic achievement for the gifted group (Vialle, Heaven & Ciarrochi, 2005).

In a cross sectional study was carried out to examine the relationship between self –esteem and student's academic performance among the second year undergraduates of Faculty of Health Sciences and Faculty of Medicine. Undergraduates (n= 220, 110 males) were selected via systemic random sampling, responded on survey domains regarding their self-esteem, body area satisfaction, stress and demographic data using 3 scales – Rosernberg Self-Esteem

Scale (RSES), Perceived Stress Scale (PSS) and Body Area Satisfaction Scale (BASS). The study has found that the mean score for self-esteem scales was 17.44±3.44 with score ranged from 0 to 30 (RSES); the mean of CGPA was 3.022±0.41. The correlation between self esteem and academic performance were analyzed using Pearson's correlation and linear regression, results showed that students with higher self-esteem perform better in their academic ($p< 0.0005$, $r=0.32$); self esteem score and body area satisfaction was significant ($p< 0.05$, $r=0.016$) and self esteem and stress is inversely significant ($p< 0.05$, $r=-0.198$). In conclusion, self-esteem is one of the key factors in affecting an individual's academic performance, more significant than other contributing factors including stress and body image (Rosli, Othman,Ishak, Lubis, Saat & Omar, 2011).

CONCLUSION

Keeping in view the findings of the current study it is concluded that there exists a strong positive correlation between self-esteem and academic achievement in university students. Furthermore, it can be said that high level of self-esteem leads to good academic performance. It has been found that female students had higher academic performance as compared to male students. It has also been found that male students had higher self-esteem as compared to female students.

However, considering the limitations of the current study, it is recommended that in future studies data may be increased and random sampling technique may also be used to get more accurate results. More variables like age and education may also be studied.

REFERENCES

Abdullah, O. E. (2000). Relationship Among Achievement Motivation, Self-Esteem, Locus of Control and Academic Performance of Nigerian. The Nigerian Journal Of Guidance And Counselling Vol. 7 (1): pp. 130-141

Akinleke, O.W. (2012). An Investigation of the Relationship between Test Anxiety, Self Esteem and Academic Performance among Polytechnic Students in Nigeria. International Journal of Computer Applications 51(1):47-50.

Annie, W., Howard, W.S. & Mildred, M. (1996), "Achievement and Ability Tests - Definition of the Domain",Educational Measurement 2, University Press of America, pp. 2–5, ISBN 978-0-7618-0385-0 Baumeister, R.F., Campbell, J.D., Krueger, J.I. & Vohs, K.D. (2003). Does High Self-Esteem Cause Better Performance, Interpersonal Success, Happiness, or Healthier Lifestyles? Psychological Science in the Public Interest, vol. 4 no. 1 1-44. doi: 10.1111/1529-1006.01431

Booth, M.Z. & Gerard, J.M. (2011). Self-esteem and academic achievement: a comparative study of adolescent students in England and the United States. Retreived from http://www.ncbi.nlm.nih.gov/pmc/articles/PMC3779915/

Crandal, R. (1973). The measurement of self-esteem and related constructs, Pp. 80-82 in J.P. Robinson & P.R. Shaver (Eds), Measures of social psychological attitudes. Revised edition. Ann Arbor: ISR.

El-Anzi. & Owayed, F. (2005). ACADEMIC ACHIEVEMENT AND ITS RELATIONSHIP WITH ANXIETY, SELF-ESTEEM, OPTIMISM, AND PESSIMISM IN KUWAITI STUDENTS. Social Behavior and Personality: an international journal, Volume 33, Number 1, pp. 95-104(10).

Hewitt, J.P. (2009). Oxford Handbook of Positive Psychology. Oxford University Press. pp. 217–224.ISBN 978-0-19-518724-3.

Joshi, S. & Srivastava, R. (2009). Self-esteem and Academic Achievement of Adolescents. Journal of the Indian Academy of Applied Psychology, Vol. 35, Special Issue, 33-39.

Lane, J., Lane, A. M. & Kyprianou, A. (2004). SELF-EFFICACY, SELF-ESTEEM AND THEIR IMPACT ON ACADEMIC PERFORMANCE. Social Behavior and Personality: an international journal, Volume 32, Number 3, 2004, pp. 247-256(10).

Mohammad, A. (2010). Relationship Between Self-esteem and Academic Achievement Amongst Pre-University Students. Journal of Applied Sciences 12/2010; DOI: 10.3923/jas.2010.2474.2477

Rosli, Y., Othman, H., Ishak, I., Lubis, S. H., Saat, N. Z. M. & Omar, B. (2011). Self-esteem and Academic Performance Relationship Amongst the Second Year Undergraduate Students of Universiti Kebangsaan Malaysia, Kuala Lumpur Campus. Universiti Kebangsaan Malaysia Teaching and Learning Congress 2011, Volume II, MALAYSIA.

Sadaat, M., Ghasemzadeh, A. & Soleimani, M. (2012). Self-esteem in Iranian university students and its relationship with academic achievement. Procedia - Social and Behavioral Sciences, Volume 31, 2012, Pages 10–14. doi:10.1016/j.sbspro.2011.12.007

Twinomugisha, S.R. (2008). The relationship between Seld-esteem and academic achievement . Retrieved from http://www.academia edu/ 836793 1/SELF_ESTEEM_ AND_ACADEMIC_ACHIEVEMENT.

UNESCO. (2012). India rank 180 in literacy rate at world level: UNESCO. Retrieved from http://dunyanews.tv/index.php/en/India/203470-India-ranks-180-in-literacy-rate-at-world-level.

Vialle, W. J., Heaven, P. C. L. . & Ciarrochi, J. V. (2005). The relationship between self-esteem and academic achievement in high ability students: Evidence from the Wollongong Youth Study.. Australasian Journal of Gifted Education, 14 (2), 39-45.

Zimmerman, B.J. (2010). Self-Regulated Learning and Academic Achievement. Educational Psychologist, Volume 25, Issue 1, 1990, 3-17. DOI: 10.1207/s15326985ep2501_2

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

मुगलकालीन भारत में शिक्षा और साहित्य का विकास

विजय प्रताप सिंह
सहा0 आचार्य (इतिहास विभाग)
सर्वोदय महाविद्यालय,
धीनपुर, मऊआइमा, प्रयागराज

भारत में मुस्लिम शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य मुसलमानों की शिक्षा व ज्ञान में वृद्धि करना था। क्योंकि विधा विहीन मानव तो पशु के समान है। शिक्षा के अभाव में मानव अपना विकास समुचित ढंग से नहीं कर सकता। जिससे न तो सभ्य समाज और न ही सभ्य देश का निर्माण हो सकता है। शिक्षा के विषय पर **पैगम्बर मुहम्मद साहब** का प्रसिद्ध कथन है, कि ''प्रत्येक मुसलमान पुरुष और मुसलमान स्त्री को शिक्षा प्राप्त करनी चाहिए।[1]

मुगल शासक विद्यानुरागी थे। इसलिए मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद भारत में शिक्षा और साहित्य का अत्यधिक विकास हुआ। बाबर एक उत्कृष्ट लेखक और कवि भी था। हुमायूं विद्वान था, तो अकबर अशिक्षित होते हुए भी विद्या एवं विद्वानों दोनों को संरक्षण प्रदान किया। इसलिए अकबर के शासन काल को शिक्षा एव साहित्य का स्वर्णकाल कहा गया है। जहांगीर एक अत्यन्त सुशिक्षित और विद्वान व्यक्ति था। शाहजहाँ और औरंगजेब भी विद्यानुरागी थे। जब मुगलों ने उत्तरी भारत पर विजय प्राप्त की तो भारतीय उपमहाद्वीप में फारसी भाषा का प्रवेश हुआ।[2]

भारत में मुगलों नें लगभग दो सौ वर्षों तक एक बडे भू–भाग पर प्रत्यक्ष रूप से शासन किया जिसकी प्रक्रिया सर्वप्रथम उत्तर भारत में शुरू हुई थी। मुगलों के भारत में आने से न केवल शिक्षा और साहित्य का वरन् वास्तुकला, विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी, चित्रकला, संगीत कला, नृत्यकला आदि का भी विकास हुआ। जिसका श्रेय तत्कालीन मुगल शासकों पर जाता है।[3]

मुगलकालीन भारत में तत्कालीन शिक्षा का लक्ष्य मुस्लिम सिद्धान्तों के अनुसार नैतिक सदाचार के गुणों का विकास करना था। जिससे कि मानव जीवन को सरल व सुगम वातावरण में ढाला जा सके। जिससे जनकल्याण की भावना का प्रमुख रूप से विकास हो सके। जो कि कार्य प्रणाली में सुगमता ला सके। इसके अलावा शिक्षा का उद्देश्य सुख सुविधा को प्राप्त कर जीवन का उचित तरीके से निर्वहन करना था। इस कारण ऊँचे पदों पर पहुँचने वाले लोग सदा प्रलोभन से घिरे रहते थे। जो कि समाज में असमानता का कारण बना। यही कारण था कि मुस्लिम शासक विद्यार्थियों को काजी, वजीर व सिपहसालार तथा प्रशासन के अनेक पदों पर नियुक्त कर देते थे।[4] जैसे–जैसे शिक्षा का विकास मुसलमानों में होता गया तो हिन्दुओं ने भी उच्च पद प्राप्त करने के लिए फारसी भाषा का अध्ययन किया, क्योंकि तत्कालीन भारत में शिक्षा प्राप्त करने की प्रमुख भाषा फारसी ही थी।

हजरत अब्दुल कुहुस गंगोही के अनुसार– ''ज्ञानार्जन का लक्ष्य जीवन में अपने कर्त्तव्यों का पालन करना है। बिना ज्ञान के वास्तविक रूप में इस्लामिक आस्था नहीं हो सकती। सभी ज्ञान का एक मात्र लक्ष्य ईश्वर का प्रेम प्राप्त करना है।'' मुसलमान शासकों ने भारत भूमि पर शासन व्यवस्था को सुदृढ़ करने के लिए शिक्षा को प्रमुख अंग के रूप में अपनाया। इसी परिप्रेक्ष्य में उस समय शिक्षण संस्थाओं में धार्मिक पृष्ठभूमि की शिक्षा अधिकतर प्रदान की जाती थी।

भारतीय भाषाओं के विकास और सृजन का श्रेय मुगलों को नहीं दिया जा सकता परन्तु परोक्ष रूप से उन्होंने कहीं न कहीं प्रश्रय प्रदान किया। जिस प्रकार का वातावरण तात्कालिक परिवेश में था। उसमें शांत स्थिर जल में भारतीय जीवन सांस्कृतिक अभ्युत्थान के लिए प्रमाणित हुआ और महत्वपूर्ण भूमिका के रूप में स्वयं को प्रमाणित कर सका। हालांकि फारसी साहित्य का भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में विशेष महत्व नहीं है फिर भी मुगलों की सांस्कृतिक प्रवीणता निश्चित रूप से श्रेष्ठता की परिचायक है। जो तात्कालिक तथ्यों के अवलोकन व अध्ययन से चलती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रावत, पी0एल0, हिस्ट्री ऑफ इण्डियन एजुकेशन आगरा, पृ0सं0–85
2. वर्मा, हरिशचंद्र भाग दो (1540–1761), पृष्ठ सं0–564
3. चन्द्र सतीश, मध्यकालीन भारत (सल्तनत से मुगल काल तक) पृष्ठ सं0–(235–236)
4. जाफर एस0एम0 एजुकेशन पृष्ठ सं0–4
5. रशीद ए0एल0, पृष्ठ सं0–(152–153)

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

मृणाल पाण्डे के साहित्य में प्रेम, विवाह

डॉ0 देवेन्द्र प्रताप सिंह

प्राचार्य, कूबा पी0जी0 कालेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

प्रेम, जो ना शास्त्रों की परिभाषा में मिलेगा, न ही शस्त्रों के बल में, न पाताल के गहराईयों में, न आकाश के तारों में। प्रेम उस वायु की भांति है जो हमें दिखाई नहीं देती, परन्तु वह हमें जीवन देता है। इस प्रकार प्रेम जीवन की अद्‌भुत शक्ति है तथा उसके बिना जीवन निस्सार है। रामनरेश त्रिपाठी के शब्दों में–

''गंध विहिन फूल है जैसे, चन्द्र चंद्रिका हीन,
यों ही फीका है मनुष्य का, जीवन प्रेम विहीन।।[1]
प्रेम स्वर्ग है स्वर्ग प्रेम है, प्रेम अशंक अशोक,
ईश्वर का प्रतिबिंब प्रेम है, प्रेम हृदय आलोक।।''

प्रेम, ईमानदारी, निश्छलता तथा विश्वास भरा लगाव होता है जिस पर नारी का सम्पूर्ण अस्तित्व टिका होता है। भोगमयी भावना से प्रेम को पृथक करते हुए प्रभा खेतान लिखती हैं–प्रेम के कई रूप हैं और प्रेम की उम्र लंबी होती है जिसकी तुलना में देह की उम्र छोटी होती है। कामना का सुख तो हारमोंस पर आधारित होता है और यह बड़े सीमित समय के लिए मनुष्य को उपलब्ध होता है लेकिन प्रेम तो उसे हर समय उपलब्ध है। यह आपके व्यक्तित्व पर निर्भर है कि आप देह से परे जा सके और प्रेम को अपने जीवन में महसूस कर सके। ''मैक्समूलर के अनुसार प्रेम के अधिक्ता 'स्मर' (कामदेव) का नाम एक धातु 'मर' से बना है इस धातु के मर्द रूप का अर्थ है– पिघलना अथवा खण्ड खण्ड हो जाना और इसी के दूसरे रूप मृण का अर्थ है चमकना, साफ करना, पवित्र करना। यानि मूल अर्थ में प्रेम वह उदात भावना है जो एक पाषाण को भी पिघला कर नरम तरल मानवीयता से भर दे और अहंकार जैसे तत्वों को हटाकर चित्त को साफ, पवित्र कर दे। इसी मूल अर्थ को आधार बनाकर साहित्यकार मृणाल पांडे लिखती है ''हम स्त्रियां इस उदात प्रेम चित्रण का नहीं, स्त्री–पुरूष संबंधों की उस अश्लील प्रस्तुति का विरोध करती है, जहां प्रेम की मानवीय उदारता के बजाय स्त्री का संबंध शर्मनाक और घृणास्पद किस्म के रिश्तों का एक उत्पीड़न भरा मिश्रण बनाकर सामने लाया जाता है। स्त्रियों के लिए ही नहीं, प्रेम की यह विकृति प्रस्तुति सबके लिए अमंगलकारी है।''[2]

इतिहास के काल प्रवाह के साथ–साथ संबंधी अभिरूचियों में बदलाव आया है। नयायुग अपने साथ नया जीवन बोध ही नहीं लाता, जीवन की सर्जनात्मक गतिविधि के नए रूप और प्रतिमान भी लाता है। जीवन और समाज के बुनियादी ढांचे में परिवर्तन के साथ नए विचारों–मूल्यों की अभिव्यक्ति आज साहित्य–लेखनों में होने लगी है। ऐसे में सम सामाजिक–कथाकर, साहित्यकार जीवन समर के नए संदर्भ–संबंधों के बदलाव को वर्णनात्मकता की झाड़ू से बटोर कर प्रस्तुत ही नहीं करता, बल्कि संबंधों को प्रतीकों–बिंबों में सतर्कता से परिभाषित भी करता है। इसलिए मृणाल पांडे के साहित्य में ''खजुराहो के भिति शिल्पों में उन्मुक्त प्रेम का चित्रण समानता के आधार पर दिखाई देता है खजुरोहां के भितिशिल्पों में स्त्री पुरूष के बीच उन्मुक्त प्रेम का अनेक तरह से चित्रण हुआ है। यह चित्रण

अश्लील क्यों नहीं ? क्योंकि वह दो ऐसे मनुष्यों के बीच भावनाओं के सहज शारीरिक आदान–प्रदान को दिखाता है, जो मैत्री और बराबरी के स्तर पर अपना अहं, अपना बड़प्पन, सामाजिक व्यक्तित्व सब भुला कर एक उदात कोमल भावना का आदान–प्रदान कर रहे हैं। यही सहज भावना गीत गोविंद या कुमारसंभव या मीरा की प्रेम कविताओं सहित हमारे अमर काव्य में भी व्याप्त है। वहां जो आराध्य या आराध्या हैं, वह सैकड़ों नातों के बावजूद लीला सहचर या सहचरी है। हीन उत्पीड़न दास नहीं है और मूल भावना समर्पण की है छीन–झपट भय की नहीं।''[3]

प्रेम में प्रेमी की दृष्टि ही सुन्दर हो जाती है। वह जिस वस्तु से प्रेम करता है, वह स्वतः सुन्दर प्रतीत होने लगती है। आधुनिक प्रेम सौन्दर्य का अनुगामी है। आज सौन्दर्य देखकर ही प्रेम पनपता है। यह सौन्दर्य समाप्टि के साथ ही नष्ट भी हो जाता है। बदलते परिवेश, आर्थिक, नैतिक सम्बन्धों ने आदिम राग शक्ति, काम और प्रेम को भी दूषित कर दिया है। आज स्त्री भोग्य बनकर रह गयी है। उसके प्रति दैहिक आकर्षण और सम्भोग के अतिरिक्त जैसे अन्य कोई रिश्ता बन पाना कठिन हो गया है।

प्रेम संवेदना पर आधारित विरूद्ध उपन्यास की नायिका रजनी और उदय की पहली मुलाकात न्यूयार्क में होती है और दोनों एक दूसरे को दिल दे बैठते हैं। दोनों के प्रेम का जिक्र रजनी की बड़ी बहन बिल्लो अपने पति नरेश भाई से इस प्रकार करती ''दो–चार दिन बाद बिल्लों ने बड़ी अर्थ पूर्ण कंजी शरारत से उसे देखते हुए कहा था कि उनके एक दोस्त का उन दिनों एक निमंत्रण आया है, उसका एक दोस्त है, बिल्लो ने नरेश भाई की और एक आंख दबा दी थी, 'जो रज्जू पर एकदम जट्टू। 'यानी हुकलाईन सिंकर। ''नरेश भाई ने एक धौल लगाई थी। ''क्यों भाई छुपे रूस्तम्।''[4]

कला मनुष्य की आंतरिक अभिव्यक्ति होती है जिसमें मनुष्य अपने जीवन की अनुभूतियों एवं भावनाओं को ज्ञानवर्धक तरीके से संकेतों एवं चित्रों की सहायता से व्यक्त करता है। उन भावनाओं का प्रभाव दूसरों पर पड़ता है और उनमें अनुभूति होती है। ऐसे ही प्रेम भरी भावनाओं को अभिव्यक्ति कागज पर ब्रश एवं रंग द्वारा देवी उपन्यास की ललिता मौसी करती है जो परंपराओं एवं वर्जनाओं को तोड़ने वाली, रूढ़िवादी परिवार में जन्म लेने वाली, उन्मुक्त स्वभाव वाली, 32 वर्षीय शिक्षिका है। विलायत से लौटे डॉक्टर मौसा के साथ ललिता के प्रेमालाप को चित्रित करती हुई मृणाल पांडे लिखती हैं ''उस दिन जब जंगल में पहुंचकर ललिता ने तस्वीर बनानी शुरू की तो बजाए लता वृक्षों के कुमारसंभव के दृश्य कागज पर उभरने लगे, शिव को पाने के लिए तप करती अपर्णा पार्वती, लास्य मुद्रा में विष्णु और लक्ष्मी, बुरांश की शाखा पर चोचे जोड़े बैठे पडुक–पडुकी। उधर डॉक्टर साहब के मन पर भी ललिता मौसी की छवि छप गई थी। उसका विचित्र वेश बेझिझक निगाह लमटंडम देह, उसके भारी वक्ष और पृथुल नितंब डॉक्टर के भुलाए नहीं भूल रहे थे। ऐसे ही स्त्री तो चाहिए थी उन्हें और फिर हालांकि ललिता मौसी का शादी वादी का इरादा कतई नहीं था। उसने डॉक्टर साहब को हां कर दिया।''[5]

वास्तविक प्रेम पैसे, रूपए, दौलत को लक्ष्य करके नहीं उपजता है। प्रेम हृदय की भावनाओं का एक रागात्मक योग है। यह बिना जगाए ही जग जाता है। जब यह अपने प्रेमी या प्रेमिका के प्रति उफान पर होता है तो वह अपनों को भी दुश्मन बना लेता है। इसी की झलक हमें मृणाल पांडे के उपन्यास 'सहेला रे' के अंजली बाई और ताजुद्दीन के मध्य दिखाई पड़ता है। अंजली के कैरियर के प्रति सचेत मां हीरा बाई जब अपने बेटी और ताजुद्दीन के बीच का रोड़ा बनती है तो वह अपने मां का दुश्मन बन बैठती है और प्रेमी की याद में सदैव निर्जीव सी पड़ी रहती है। तभी तो हीराबाई अपनी सहेली हुस्नाबाई को पत्र लिखकर अपने बेटी की स्थिति के बारे में बताते हुए कहती हैं–''बड़ी पछताई मैं उस नमक हराम को लेकर। जाते–जाते भी मेरी बेटी का दिल साथ ले गया और उसकी जगह उसके सीने में मानों बर्फ की एक सिल्ली रख गया। अब हाल यह है कि मां और मर्दजात दोनों ही के

नाम से अंजलि को गहरी चिढ़ हो गई है। इतनी कि महफिलों में जाने से पेश्तर मुझे बनते संवरते देख दिल पर सौ सौ बान चलाती घायल करती रहती है।''[6]

जब कोई व्यक्ति आपका प्रेम ठुकरा देता या समझ नहीं पाता है तो वह उदास हो जाता है फिर वह उसे बलपूर्वक पाना चाहता है। कुछ बलपूर्वक प्रेम पर अधिकार करना चाहतें हैं किंतु यह आवश्यक नहीं है जिसे वह प्रेम करती है वह भी उससे प्रेम करें। ऐसा ही प्रेम का चित्रण प्रतिशोध कहानी एवं हिमुली हिरा मणि कथा में किया गया है। हिमुली हीरामणि कथा में एक सामान्य दुकानदार का बेटा ''सुनास ने किसी उत्सव में अचानक मुंबा नगरी के परम धनुषाली नगर सेठ की कन्या दंम्भिनी को देखा था। प्रथम दृष्टि में ही उस पर आंसक्त होकर अब वह दिन रात मुंह लटकाए अपने ही कक्ष में बैठा रहता है। न खाता है न पीता है। कहता है यदि विवाह करेगा तो दंम्भिनी से ही।'' इससे सुनास के माता–पिता बहुत चिंतित रहते हैं। सुनास के हठ को पूरा करने के लिए उसके परिवार का शुभ चिंतक हीरामणि शुक एक शब्द युक्त योजना बनाता है। यह योजना देवाज्ञा में बदल कर नगर सेट अम्बष्ठ से कन्यादान करवा देता है। ''कोई कुछ कहता, उससे पूर्व कंदरा के द्वारा से बसको चकित करती हुई एक गंभीर वाणी आई, ''देखो सेठ, मैं मुंबा देवी बोलती हूँ। नगर तथा समुद्र जल की अधिष्ठात्री। अपने वाणिज्य को समुन्नत तथा अपनी कन्या को सुखी देखना चाहते हो तो मेरा आदेश मानते हुए उसे इस सेठ के सुलक्षणी पुत्र सुनाय को शीघ्र विवाह में दे दो।''[7] इस प्रकार में मृणाल पांडे अपने साहित्य में प्रेम की उदात एवं अनुदात दोनों भावों को बड़ी ही संजीदगी से सजाया है। उनके कथा साहित्य में प्रेम के प्रति नारी एवं पुरूष के अलग–अलग दृष्टिकोण देखने को मिलते हैं। एक तरफ नारी जहां अपने प्रेमी को उन्मुक्त वह स्वतंत्र छोड़ने में विश्वास रखती है वही अगर पुरूष किसी नारी पर आसक्त हो जाए तो उसे येन केन प्रकारेण पाने की चेष्टा करता है।

विवाह का तात्पर्य है ''विवाह विशिष्ट वहनम् ''अर्थात विशिष्ट रूप से वहन करना। विवाह शब्द का प्रयोग दो अर्थों में किया जाता है। प्रथम, विवाह संस्कार के रूप में द्वितीय, इस संस्कार से उत्पन्न दापंत्य जीवन के रूप में। व्यापक दृष्टिकोण से विचार करने पर विवाह व्यक्तिगत बन्धन नहीं है। यह एक सामाजिक संस्कार है। केवल एक स्त्री और एक पुरूष के गठबंधन को विवाह नहीं कह सकते क्योंकि उन दोनों व्यक्तियों के साथ उनका समाज, उनका कुल, उनका धर्म जुड़ा रहता है। विवाह का अर्थ है– दो कुलो का, उनके आचार विचार का, उनकी संस्कृतियों का संगम। विवाह स्त्री पुरूष को मर्यादा की सीमा में बांधता है, स्वस्थ समाज का विकास करता है, उनके उच्छृंखल संबंधों पर प्रतिबंध लगाकर वैवाहिक संबंध को नैतिक स्तर का उच्चतम आधार प्रदान करता है। प्राचीन काल से ही सामाजिक जीवन में विवाह का विशिष्ट महत्व रहा है ''स्त्री और पुरूष के बीच यौन संबंध एवं सामाजिक सहानुभूति को बंधनों के मर्यादित और स्थाई रूप देने की प्रथा विवाह के रूप में प्राचीन काल से चली आ रही है। ''अतः विवाह एक महत्वपूर्ण साझेदारी है जिसमें स्त्री और पुरूष अपना संपूर्ण प्रेम प्रवाहित करके एक दूसरे के लिए अनन्य बन जाते हैं।''[8]

रविन्द्रनाथ मुखर्जी के अनुसार ''विवाह एक अति प्राचीन एवं अनिवार्य सार्वभौम संस्था है जो प्रत्येक मानव समूह में चाहे वह प्राचीन हो अथवा अर्वाचीन सभ्य हो या असभ्य, समान अथवा असमान रूप से विद्यमान है।''[9]

मृणाल पांडे अपने साहित्य के मध्यम वर्गीय लड़कियों का त्रासदी पूर्ण दांपत्य जीवन का चित्रण करती हैं। वह दबे स्वर में नहीं बल्कि प्रतिबद्धता के साथ, बुलंद स्वर में, उन निरपराध, नासमझ लड़कियों का पक्ष लेती है जो शादी के बाद मजबूरन ढर्रे पर आ जाती हैं जिनको थोथे आश्वासनों से फुसलाया जाता है। 'दरम्यान' कहानी में लेखिका कहती हैं 'ईधर वह ओवर टाइम में लगता और उधर वह ढर्रे पर ले आयी जाकर बड़ी आसानी से माओं–ननदों, चाचियों वगैरह के कोलाहलमय बीहड में खो

जाती। पर वह यह कतई नहीं कर सकता कि शांता की तरह–बीवी और –भरे पूरे व्यक्तित्व वाली एक लड़की को एकदम एक सपाट चपटेपन में तब्दील कर एक आदर्श बहू धाय बना डालें जो उबासियों छोड़ती हुई बारी–बारी से अम्मा जी और उसके सिरहान चवर डुलाती खड़ी रहे।''[10] गृहस्थ जीवन में शांता शर्म व गुलामी की जंजीरों में बंध जाती है। वह दब्बू, एकदम सपाट और आयाम हीन औरत बन जाती है। जिसे देखकर कथा नायक अचंभित होकर सोचता है– 'शायद उसनें अपनी सारी अनुभूतियाँ और चेतना तंतुओं को ऐसा भीतर सिकोड़ लिया है कि आदर–अपमान, दुख–सुख किसी का भी उस पर असर नहीं होता। दिन आते हैं और चले जाते हैं पर उसकी जिंदगी का ढर्रा वहीं रहता है, चाहे हिंदुस्तान में हो या दस हजार मील दूर यहां पर।''[11] मृणाल पांडे ऐसी परिस्थितियों के लिए उत्तरदायी भावहीन एवं कुहासा सदृश्य प्यार पर आधारित उस संबंध का प्रतिकार करने की सलाह देती है जो नारी को पशु तुल्य एवं संदेहास्पद बना देती हैं। जिससे वह मात्र दया के पात्र रह जाती है।

वैवाहिक बंधन में अपने व्यक्तित्व एवं अस्तित्व को समाप्त कर रूढ़ि परंपरा पर चलने वाली 'समुद्र की सतह से दो हजार मीटर ऊपर' कहानी की ओडिसी भारतनाट्यम नृत्यांगना शादी के संबंध में अपने अनुभव के आधार पर कहती हैं कि ''विवाह, शुरू हुई अंत की शुरूआत के बराबर है''[12] इस प्रकार शांता एवं प्रख्यात नृत्यांगना दोनों वैवाहिक बंधन के ढर्रे पर आ जाती है। शांता अपने मुख से उफ तक नहीं करती है जबकि प्रख्यात मृयांगना स्वयं एवं समाज से अपने अस्तित्व की तलाश करते हुए प्रश्न करती है कहां हैं–''कहां–कहां'' मेरा वह मनोरम संसार ? मेरी आवाज मेरे ही भीतर बजती है। मेरी विक्षिप्तता का शून्य मेरा उजाड़।''[13]

'रास्ते पर भटकते हुए' उपन्यास की मंजरी न तो समाज से प्रश्न करती है, न ही झींक–झींक कर जीना चाहती है बल्कि अपने जीवन को जिंदादिली से बिताना चाहती है। इस उपन्यास में लेखिका अपर वर्ग के पुरूष का नश्तर सदृश्य क्रूरताएं व घड़ियालू आँसू का चित्रण किया है जो धन के बल पर बहला फुसलाकर गरीब वर्ग की मंजरी से शादी रचा लेता है। परन्तु इस प्रकार का वैवाहिक सम्बन्ध बहुत कम टिकाऊ होता है क्योंकि उसका आधार प्रेम ना होकर डर व मजबूरी होती है। विवाह के बाद इस बात को मंजरी भली भांति समझ जाती है। वह कहती है–'' बाईस की मैं भले ही तलवार नहीं उठा पायी थी, लेकिन यह अच्छी तरह समझ गयी थी कि हमारे यहाँ एक आम वैवाहिक जिन्दगी के बंधन को जो चीज टिकाऊ बनाती है, वह परस्पर प्रेम, आदर की भावना नहीं, अवसर सिर्फ महमहाते डर की एक गाँठ होती है। अकेलेपन का डर, लोक निन्दा का डर भविष्य में फिर–फिर गलती दोहराने का डर।''[14]

मृणाल पाण्डे ने वर्तमान समय में बाल विवाह के बने रहने एवं उससे जुड़ी समस्याओं को भी उजागर किया। पटरंगपुर ''उपन्यास की आमा व उसकी बेटी सुनैना का विवाह बाल्यावस्था में ही हो जाता है। मिठाई की शौकिन आमा को जब मायके वाले मिठाई भेजते तो सास ताना मारते हुए उसे छिपा देती। आमा बताती है ''मिठाई लौटाई नहीं कभी भी उनकी सास चंपा बहू ने पिटारे में च्याम्प के धर देने वाली हुई। आमा और उसके देवर चनिका दिन में, उसके सो जाने पर चाबी उड़ा के भगाभक खाने वाले हुए। आहो बच्चे ही तो ठहरे, दोनों दस की ये हुई, आठ के चनिका ठहरे।''[15] रूढ़ परंपराओं में पली, बढ़ी आमा अपने जीवन से सीख नहीं लेती बल्कि अपने बेटी का भी विवाह कम उम्र में ही करवा देती है जबकि उनकी बेटी सुनैना पढ़ने में बहुत तेज थी और वह पढ़ना चाहती थी। इस प्रकार रूढ़ मानसिकता ने सुनैना की पढ़ाई पर अंकुश लगा दिया और उसका शौक धरा का धरा ही रह गया। रिक्ति कहानी में भी सुलभा की मां का विवाह सामाजिक परिस्थितियों के कारण पढ़ाई रोककर छोटी उम्र में ही कर दिया जाता है। इस बात का दुख उसके मन में आजीवन बना रहता है।

हमारे देश में लड़कियां ब्याह नहीं करती बल्कि ब्याही जाती हैं। विवाह भारतीय परिपेक्ष में ही नहीं, विश्व परिपेक्ष में स्त्री की अनिवार्य नियति रहीं है। जीवन में स्थिति बदलने का एक भाग अवसर भी, किंतु इस अवसर के उपभोग का चयन का अधिकार स्त्री के पास नहीं। आजादी के पूर्व ही इस स्थिति में परिवर्तन आने लगा था, स्वतंत्रता के बाद से संविधान द्वारा प्रदत्त विशेष विवाह अधिनियम 1954 के द्वारा विवाह के संबंध में स्त्री को स्वयं निर्णय करने का अधिकार प्राप्त हुआ। इस प्रकार बदलते परिवेश में स्त्री के निर्णय में उसका स्वछंदता वादी दृष्टिकोण दिखाई देता है। स्त्री अपनी दृष्टिकोण, अपनी सोच, अपने परिवेश को महत्व देने लगी है यही कारण है कि वह वैवाहिक जीवन के प्रति कटुता, विषमता में प्रभावित हो रही है। पर्याप्त युवतियां विवाह को आवश्यक नहीं मानती, वह अविवाहित रहकर भी जीवन व्यतीत करने में कटिबद्धता बना दिखाई देती हैं। विवाह का विरोध करते हुए 'हमका दियो परदेश' उपन्यास मौसी अपनी मां से कहती हैं– ''कोई जरूरी नहीं है। हम लोग क्या'' खरगोश हैं ? हमारी हेडमिस्ट्रेस को देखो, उन्हें तो पति या बच्चे की कोई जरूरत नहीं है। मजे में रहती है।''[16]

पटरंगपुर उपन्यास की सावित्री पढ़ी लिखी–विद्वान महिला है जो विवाह न करने नौकरी करती है। एक तरफ गांव वाले उस पर गर्व करते हैं तो दूसरी तरफ उसके भाग्य को कोसने से नहीं चूकते। किंतु विवाह न करना उसका सबसे बड़ा दुर्भाग्य है। उसके संबंध में गांव वाले कहते हैं '' अहा सावित्री की मांग में सिंदूर पड़ जाता तो अच्छा'' होता, पर अब जो क्या करेगी शादी ब्याह ? भाग ठहरा, और क्या ? लेडीज टेलर कहानी की सुमनलता अपने सात बहनों में सबसे छोटी है, उसे अपने पिता की देखभाल व घर की जिम्मेदारी को निभाने के लिए मजबूरन अविवाहित रहना पड़ता है। उसके संबंध में लोग बात करते हुए कहते हैं–''उसके बाप को फिलीज हो गया–मां पहले से ही सुरपुर चली गई थी, बहने ससुराल वाली हुई। सो मास्टरनी बिचारी स्कूल से पहले भी बूढ़े की तीमारदारी करती वापस आकर भी। छुट्टी के दिन भी उसकी छुट्टी नहीं। न पिकनिक, न सिनेमा। गुम्म सी हो गई थी वह।..... एक दिन खबर हुई कि एक अधेड़ मेडिकल रिप्रेजेंटेटिव अक्सर मास्टरनी जी के घर देर गए बैठने लगा था इधर मुंह मारने से बाज जो क्या आने.....वाली हुई ?''[17]

मीटिंग कहानी की नायिका पढ़ लिखकर नौकरी करने की इच्छा के कारण समय रहते विवाह नहीं कर पाती। सगे संबंधी उसकी ओर उंगली उठाने लगते हैं। मजबूरन वह घर से दूर रहकर नौकरी करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि अविवाहित स्त्रियों के प्रति सम्मान अनुदार हाोता है उन पर अनेक प्रकार के बंधन लगाए जाते हैं और वे सुख सुविधाएं प्राप्त नहीं होते जो विवाहित स्त्रियों को होती है। परिणाम स्वरूप अपनी स्वाभाविक इच्छाओं को दबाने के कारण उनके जीवन में रिक्कता व शून्यता प्राप्त हो जाती है। स्वतंत्र विचार वाली स्त्रियों को अनेक लांछनायें सहनी पड़ती है और उनके चरित्र पर अनेक आरोप लगाए जाते हैं।

मृणाल पांडे अपने साहित्य में अधिकांशतः अपने देश के शिक्षित वर्ग को ही प्रेम विवाह में चित्रित किया है। उनका संबंध न केवल अपने देश के विपरीत जाति व धर्म बल्कि अंतर्राष्ट्रीय स्तर के जन समुदाय के बीच में बना है। मृणाल ने प्रेम विवाह से जुड़ी उन सभी समस्याओं को उठाया है जो समाज में व्याप्त जड़ता, प्रगतिहीनता एवं अमानवीयता से उपजती है और अपने परिवार के लिए कष्ट का कारण बनती है। आज स्त्रियां परंपरागत मार्ग को त्याग कर आधुनिकता को अपना रही हैं अतः उनका सक्रिय होना स्वाभाविक है।

'दोपहर की मौत' कहानी में भारतीय संस्कृति में पला बढ़ा राघव नौकरी के लिए विदेश जाता है। वहां एक विलायती लड़की जेनी के संपर्क में आकर उससे विवाह करने का फैसला करता है। अपना फैसला पत्र के माध्यम से अपने माता–पिता को बताता है। माता–पिता द्वारा इंकार करने पर भी

वह उसी विलायती लड़की से शादी कर लेता है। परंतु वह अपने माता पिता का ख्याल करता रहता है। दुर्भाग्यवश कार दुर्घटना में उसकी मौत हो जाती है। यहाँ माता–पिता उसके द्वारा किए गए कार्यों और लाए गए सामान को देखकर बेहाल हो जाते हैं। विलायती बहू होने के कारण उसका यहां आना संभव नहीं था। यह दुख को और बढ़ा देता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दूर जाकर प्रेम विवाह करके जीवन चलाने के दौरान यदि कोई दुर्घटना हो जाती है तो उसके संबंधित माता–पिता का जीवन नरक हो जाता है।

'दुर्घटना' कहानी में भारतीय शिक्षित युवक अपनी सांस्कृतिक एवं आर्थिक अभिरूचियों से मिलती जुलती युवती से प्रेम विवाह कर लेता है। इधर अपने खून पसीने से सींचकर विलायती शिक्षा पूरी कराने वाले पिता कहते हैं – ''सप्तपदी करा लेते, बाकी चाहे न भी करते, कायदा होता है। 'कगार' कहानी में विष्णु एक विलायती युवती मिली से प्रेम विवाह कर लेता है। अपने प्रेम को प्रसन्न रखने के लिए वह हिंन्दुस्तान वापस आकर बसने का इरादा छोड़ देता है। उसके दो बेटे भी पैदा होते हैं। अपनी अपनी संस्कृति एवं बच्चों के प्रति संस्कार को लेकर आपस में मनमुटाव होता है और अंत में दोनों अलग–अलग रहने का फैसला करते हैं। आतताई' कहानी में नरेश एक विदेशी युवती से प्रेम विवाह करता है नरेश की मां को अंतर जाति'' विवाह बंधन पर विश्वास न रहने से सोचती है कि यह विवाह ज्यादा दिन न टिकेगा।

पितृदाय कहानी में सुमति डॉक्टर बनकर अमेरिका में नौकरी करती है। वह बचपन से ही जहीन, सुंदर, मुंहफट व दबंग है। वह जैफरी के साथ प्रेम विवाह करती है। संबंधों में दरार आने पर वह अपने पति से तलाक बड़ी मुश्किल से ले पाती है। अपने पिता की स्वास्थ्य खराब होने की सूचना पाकर वह अपने भाई को पत्र लिखती है। उस पत्र में पिता के लिए तड़प उठने या कलपने का भाव बिल्कुल नहीं था बल्कि अपने नीग्रोपति जैफरी से छुटकारा पाने की तड़प जरूर था। रूबी और कौवे कहानी में भी विभिन्न संस्कृति सामाजिक परिवेश एवं परम्परा वाले परिवारों में शादी के परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाले पारिवारिक सामाजिक टकराहटों का चित्रण किया गया है।

''पटरंगपुर पुराण' उपन्यास में भी प्रेम विवाह का चित्रण किया गया है। जिसमें एक विदेशी युवती को धर्मांतरण कराकर शुद्धिकरण किया जाता है और सामाजिक लोक लाज पर, पर्दा डालने का प्रयास किया गया था। राजीव इंजीनियरिंग की पढ़ाई करने विदेश गया। वहाँ से वह मीम व्याह के लाया। उसके माँ बाप ने आर्य समाज में हिन्दू बनाकर इसका नाम सरिता रख दिया परन्तु तीन–चार साल में लड़ाई झगड़ा करके मीम वापस अपने मुल्क लौट गयी।

मृणाल पांडे के साहित्य में चित्रित प्रेम विवाह अधिकांशतः असफल ही नजर आते हैं। प्रेम विवाह पाश्चात्य संस्कृति की देन है। पाश्चात्य संस्कृति में पहले प्रेम किया जाता है बाद में विवाह करके सांसारिक प्रेम स्थापित किया जाता है। भारतीय संस्कृति में विवाह पूर्व प्रेम को अपराध समझा जाता है। घर के बुजुर्ग प्रेम विवाह का प्रायः विरोध करते हैं। उन्हें लगता है कि समाज में प्रतिष्ठा धूमिल होगी।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विवाह संस्था में अनेक धार्मिक एवं रूढ़ परंपरा व्याप्त है। इसका अधिकांश भाग नारी पर ही लागू होता है, मानो वह रूढ़ तत्व है। उसके मन में समाज के प्रति असंतोष है। शोषक के प्रति उनकी अभिव्यक्ति मुखर हो रही है। आज के परिवर्तित होते समाज में नारी वैवाहिक जीवन से उत्पन्न होने वाली घटनाओं को सहन करने के लिए तैयार नहीं है। वह शिक्षित हो रही है इसलिए वह पारंपरिक मूल्यों के अनुसार अपना जीवन व्यतीत नहीं करना चाहती है। वह अपने जीवन में जय–पराजय–, राग–विराग, आशा–आकांक्षा, वेदना–संवेदना, पीड़ा–प्रताड़ना को महसूस करती है। इन सब को भोगते हुए उनमें जीवन संघर्षों से जूझने की जिजीविषा व जीवटता है। मृणाल पांडे अपने

साहित्य में दो सभ्यताओं एवं संस्कृतियों से जूझते हुए न केवल प्रवासी भारतीय बल्कि विदेशी चरित्रों के जीवन में आए उतार–चढ़ाव, अकेलापन, घुटन, निरीहता एवं विखंडन को दर्शाया है। उनका नारीवादी दृष्टिकोण देश से परदेश तक फैला है।

संदर्भ सूची :

1. डा0 नगेन्द्र हरदयाल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0सं0–479
2. पाण्डे मृणाल, स्त्री देह की राजनीति से देश की राजनीति तक पृ0सं0–28
3. वही पृ0सं0–28
4. पाण्डे मृणाल, विरूद्ध उपन्यास पृ0सं0–87
5. पाण्डे मृणाल, देवी उपन्यास पृ0सं0–103
6. पाण्डे मृणाल, सहेला रे उपन्यास पृ0सं0–97
7. पाण्डे मृणाल, हिमुली हिरामणी की कथा पृ0सं0–50
8. दूबे कपिलदेव, भारतेन्दु के गद्य साहित्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन पृ0सं0–72
9. मुखर्जी रविन्द्रनाथ भारतीय सामाजिक संस्थायें पृ0सं0–358
10. पाण्डे मृणाल, यानी कि एक बात थी पृ0सं0–118
11. वही पृ0सं0–115
12. पाण्डे मृणाल, यानी कि एक बात थी पृ0सं0–161
13. वही पृ0सं0–164
14. पाण्डे मृणाल, रास्ते पर भटकते हुए उपन्यास पृ0सं0–32
15. पाण्डे मृणाल, पटरंगपुर पुराण उपन्यास पृ0सं0–41
16. पाण्डे मृणाल, हमका दियो परदेश उपन्यास पृ0सं0–94
17. पाण्डे मृणाल, बचुली चौकीदारिन की कढ़ी पृ0सं0–194

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

Postmodernism and Contemporary Indo-Anglican Poetry

***Girish Chandra Pant ** Dr. Sharmila Saxena**

*****Research Scholar **Professor and Head Dept. OfEnglish

S. B.S.Govt.P.G. College, Rudrapur, U. S. Nagar

Postmodernism by and large is a western literary movement that came into being after the Second World War. High modernists, the exponents of which were T. S. Eliot, Larkin and W. H. Auden, are considered the precursors of this movement. Postmodernism is seen an enlargement and break away with modernism, its predecessor. It's quiet obvious that any latter concept may borrow the elements from the former one, consciously or unconsciously.Modernism emerged as an iconoclastic approachfollowing the various traditionallyrecognised and accepted literary concepts.Modernismdidn't come into being of its own accord, it was rather a conscious effort to break with the past, embracing a new way of thinking. Its manifestation was seen first of all in the field of architecture and soon itcrept in to the other areas of art. Here were established and confirmed some new codes. The period of First World Warand a couple of following decadesaw modernism flourishing. It was a consciouseffort to break with the existing traditions of art and literature. Modernism was a cultural movement –

> A key cultural -artistic, architectural and literary – moment and movement marking the early decades of the 20th century ('the modern age'), is modernism.

Nair, P. K. *A Short History of English Literature*,Foundation,2013, p 314.

The modernists introduced a new chapter by initiating an exotic vogue in the field of literature.They went for a highly complex structure. Their works were self-reflexive. Here started fragmenting and breaking up time frames and plots. Their literature was urban. It was obsessed with the world wars and speaks of the technology of warfare and military. An apocalyptic approach can also be seen in the modernist literature. It got it's ramifications in various artisticways of expression i.eexpressionism, impressionism, imagism, cubism, surrealism, futurism, and mortician. Modernism as is evident was a neoteric approach and brought a paradigm shift in the literary approach.

> Post modernism is a critical approach and philosophy that has influenced visual arts, architecture and literature from the 1950s. It refuses to accept any 'grand' or 'unified' theory that supposedly explains everything... Postmodernism prioritizes the local and the native over the universe. It believes that human knowledge is always fragmentary and limited...

Nair, P. K. *A Short History of English Literature*, Foundation, 2013, p 377.

Postmodernism is both an advancement and enlargement of its predecessor 'modernism'. Modernism laid emphasis on the ascetic adherence to form and structure while postmodernists adopted a liberal and lenient approach towards the same. They also

repudiated the elitist view of the modernists in the usage of language and style. Postmodernism commenced in Europe after 1960s. It was advance phase of modernist with certain obvious differences. A rapid globalization and exodus influenced this age. Various threats and new challenges in the post-war world gave a new dimension to the art and literature. Here took birth a typical scepticism. The technological evolution in the civil as well as military area, various liberation movements including feminism, awareness of economic inequalities and class division, emergence of U.S.A as a new world- all these phenomena affected the literature of this age.

> For the postmodernist, by contract, fragmentation is an exhilarating, liberating phenomenon, symptomatic of our escape from the claustrophobic embrace of fixed system of belief. In a word, the modernist laments fragmentation while the postmodernists celebrate it.

Barry, Peter. *Beginning Theory – An Introduction to Literature and Cultural Theory*, Viva Books,Third ed. p 81.

Thus fragmentation is the common element in both the literary practices. Refusal of any ‘grand’ or ‘meta’ makes postmodern literature admissible and accessible to the reader and that was the reason it eclipsed the influence of modernism and for decades it dominated as a literary trend. Postmodernism, initially was applied to the fictitious narrative. James Joyce's stream of consciousness and Samuel Backett'stheory of ‘absurd’ initiated a new vogue in the fiction writing and are seen as the whistle-blowers of postmodernism. If we talk of its practice in poetry, the high modernists had already paved path for its advancement. T. S. Eliot, W. H. Auden, Philip Larkin and Ezra Pound had been the precursors of this movement. T. S. Eliot, in his Magnum opus, ‘Wasteland’showed the power of fragmentation, the core element of both the theories and Ezra Pound dubbed his ‘The Cantos' as ‘rag bag' which was indicative of the liberation from the thematic ascetics and adoption of a liberal and open approach to the themes and styles.Among the practitioners of postmodernism there is a long queue of poets. Some of them are B. S. Johnson, Raymond Federman, Alan Ginsberg, Paul Auster, Dorris Lessing, Susan Howe, Ishmael Road and many others who popularized this theory in poetry.

To measure poetry within the parameters of postmodernism, it can be done on some grounds which may help to understand the features of postmodern poetry. First of all it iconoclasm- the postmodernists have been iconoclastic in terms of following the putrid traditional codes and embrace any novel element openly. They are receptive to common unlike the modernists. Second thing is groundlessness- their poetry is not grounded on the strict literary theories like various ‘isms’ of modernism which claim that poetry can be expressed as precisely as it is fancied and imagined. They employ flat, media like images without any references beyond themselves. They don’t admit the determinacy of meaning and deny a final or preferred interpretation. This approach alone gave birth to various postmodern theories like - post structuralism and deconstruction and new historicism. Formlessness is another feature of the postmodern poetry. They discard the over obsession of the modernists with organic form and agreement. They fragment texts and turn them into collages. They avoid moulding their views with the power of metaphors and other literary tropes. They mix genres with pastiche. They promote what is socially adaptable. Then there comespopulism –a

political approach that tries to impress upon the ordinary people who feel that their concerns are disregarded by established elite groups. Postmodernists saw everything under the sun as treatable in poetry. They disregarded the modernist obsession with the elitist literary language. They freed poetry from the clutches of the modernist seriousness and promoted playfulness. They accept the media images and embody them in their verses.

> ... Postmodernism rejects distinction between 'high' and 'popular' art which was important in modernism and believes in excess, in gaudiness, and in 'bad-taste' mixtures of qualities. It disdains the modernist asceticism as elitist and cheerfully mixes, in the same building, bits and pieces from different architectural periods – a mock – Georgian pediment here, a tongue-in cheek classical portico there...

Barry, Peter. *Beginning Theory – An Introduction to Literary and Cultural Theory,* Third ed., p 81.

The pace of postmodernism as a literary theory has been gradual in India. As the world wars have been decisive factors for the transformative shift in the literary trends worldwide, India had been struggling to regain her recognition. Most of the poemscomposed were in the admiration of the grand heritage of India, the knowledge and wisdom nurtured in the scriptures, the agony felt by the mother nation under the foreign aggression, fragrance of native soil and value based cultural integration. The age of experimentation started only after the freedom of India. The poets like Missing Ezekiel, A. K. Ramanujam, Kamla Das, Jayant Mahapatra, K. N. Daru wala, ArunBalkrishna, Kolkatkar and R. Parthsarthyproduced a literature that marked the greatness of Indo- Anglican poetry. It was the modernist phase of India. Here literature underwent a transformation and experimentation. An urban slant was evident in poetry of this age. The societal changes began to occur during the 90s. Pacing industrialization, urbanization and globalization brought revolutionary changes in the field of art and literature. Twenty first century has prepared a new ground for arts and literature in India. The technological advancement has added a new chapter to the literary book of Indian literature in English. This is truly a postmodernist phase from India's point of view. Here the voice became more natural. The societal structure started to become more complex. The urbanisation necessitated a class consciousness and identity crisis and value crisis began to be felt. Several social maladies became known. The environmental and ecological crisis is a fresh threat. Here gets culminated the crisis as strife between survival and sustenance is at its height.

If we talk of the practice of postmodernism in the contemporary Indo- Anglican poetry, it has become an essential element of it. The contemporary poets are the true products of the age and their zeal to connect with the masses is remarkable.The prominent figures of contemporary Indo-Anglican poets are –TishaniDoshi, MeenaKandaswamy,AkhilKatyal, Arjun Rajendra, Harnidh Kaur, Sonnet Mondal, NabanitaKanungo, ArundhatiSubramaniam. We hear a sharp voice in favour of the contemporary problems and exigencies. Arjun Rajendran in his poem 'Interviewing a Beetroot' writes:

> First boil it with your eyes
>
> Highlight some keywords in the resume; organic, pesticides,
>
> Monsanto...

Ask about its weakness–if it says

I have always been fresh, look unimpressed.

A successful interviewer treats

All

Beetroots like fungi.

'Interviewing a Beetroot' by Arjun Rajendran; Source – Bombay Literary Magazine

The contemporary poetry talks of the postmodern exigencies of the common man. Resume has become an essential for the postmodern man. Postmodernism incorporates various literary theories which followed it. Feminism itself has reached a realistic phase. Here is debated threadbare the feminine issues. The contemporary circumstances are extremely hostile to the women. Themalpractices like girl infanticide, gender biases and the heinous crimes of murder and rapes are prevalent without any cure. TishaniDoshiin her poem '*Girls are Coming out of Woods's* has delineated the deplorable condition of the girls:

Girls are coming out of woods,

Wrapped in cloaks and hoods,

Carrying iron bars and candles

And a multitude of scars, collected

On acres of premature grass and city

Buses, in temples and bars...

tishanidoshi.weebly.com

It's indeed conscience rending to hear of such plight of women and girls in a nation where it's claimed that women are worshipped and a woman alone can feel the anguish of the victim. One more crisis of humanity that the race undergoes today is the warfare. Ceaseless threat of cross border military entanglements is a great source of vexation for the innocent soldiers and their families. Their sacrificial dedication and devotion lets the nation sleep peacefully but they are treated mechanically and are victimized for the vanity of the super ambitious and selfish leaders. Akhil Katyal in his poem '*To the Soldier in Siachen'* has voiced the plight of the warring soldiers. These helpless figures, like 'baited bears' are forced to obey the command of their patrons.

Come back,

The snow is treacherous,

Come back,

They are making you fight a treacherous war,

you were not born in snow

you do not know snow, come back,

I don't want you to fight that war in our name,

I want you to rest, I want you to be able to feel your fingers,

I want the snow in your veins to give way,

For you to be able to breathe, to melt

Into a corner, to sleep.

iwp.uiowa.edu

This is what a common man also feels. Soldiers, it is said fight for the common people. They indeed do however a common man never wants them to lose their lives. The postmodernists have given ample room to the sufferings of the common and downtrodden in his works. Postmodernists see the bizarre as an object to be captured. They have a great zeal to reflect. The postmodernist poets mix the current situation with the past to make it relevant and befitting to the purpose. Harnidh Kaur in her poem *Eklavya* fuses the present circumstance with that of the remote past of India.

I wish you were here to see

Wars fought with nine fingers

Attacking a keyboard with ideas...

Creativeyatra.com

Sonnet Mondal in his poems- 'Smoke', 'Nature Today', 'Africa – Soldiers and Survivers', 'Loyal Bullets' 'Iran 1980' and many others, has raised the diverse issues pertaining to catastrophic human position in today's world. He has dealt with the issues of catastrophic depletion of nature, environmental pollution, modern day warfare with a delicate sensibility and empathy.

They attack with guerrilla style,

Eyes become one with interstices between jungle leaves

Dancing a tribal dance of death

And when the real predator looks in your eyes

You will realise

Its race what we call human.

Mondal, Sonnet. *Prismatic Celluloid*, Authorspress, 2014, p 23.

Postmodernism finds its reflection in its own ramifications i.e existentialism, theory of absurd, surrealism, populism, post structuralism, deconstruction and feminism. The contemporary poets of India are globally aware and are outspoken for the modern vices – social or political. All of them have demonstrated a flair that is original and unstained. They are candid and are the poets of common man.

WORKS CITED:

... Nair, P. K. *A Short History of English Literature,*Foundation, 2013, p 314.

... Barry, Peter. *Beginning Theory – An Introduction to Literature and Cultural Theory,* Viva Books, Third ed. p 81.

... *Interviewing a Beetroot'* by Arjun Rajendran; Source – Bombay Literary Magazine

... *tishanidoshi.weebly.com*

... *Creativeyatra.com*

... Mondal, Sonnet. *Prismatic Celluloid,* Authorspress, 2014, p 23.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

Changing Condition of women in Kumaun Mandal from Pre-Independence to the Present

Professor Girish Ranjan Tewari (H.O.D.),
Jashoda Bisht Research scholar
Department of Journalism and Mass Communication,
D.S.B. Campus, Kumaun University Nainital, Uttrakhand

ABSTRACT

Women issues are rooted in depth in Kumaun Mandal. The females are known as the backbone of Kumauni society, they are perfect in household activities and the outside work as well. From dawn to dusk the females perform various duties as looking after their animals, kids and senior citizens of the family. The women in Kumaun Mandal have been facing many challenges but the issues like child marriages, child motherhood, health issues, rape, domestic violence, selling of a girl child, forced prostitution etc. are such issues which cannot be separated from the life of Kumauni women. The rape cases which are registered in Uttrakhand are especially committed by the keen and family members or neighbors of the victims. According to the news reports in most of the cases the girls were raped by their step fathers, uncles, brothers etc. on 22 April, 2017, a 13 year old girl from *Rajpura Haldwani* was raped by her step father who was her former uncle. In another case on 14 may, 2013, two real sisters (both were minor) sold one 17 year girl in Kotdwar even the police was also involved in this case. There are so many missing females in Kotdwar who couldn't be found which indicates the status of human trafficking in this area. The cases related to crime against women are hardly registered hence the condition of women in Uttrakhand is pathetic. In Kumaun Mandal nearly one woman from each household goes through any type of violence but they don't file any cases against such crimes because the females tend to be tolerance and should think about the so called family image.

Kumaun Mandal is ignored by the government because of the poor leadership rather than Gadhwal Mandal. The government is opening more vine shops instead of industries and educational institutions. The family income (basically earned by the females) goes behind liquor and gambling by the man if the females oppose this they get reward by domestic violence, bashing, abusive language, disrespect and torture at home. Sometimes the females themselves caught in this dirty business of selling liquor. One similar case was highlighted in 2011 when *Sheela Lohni* of *Sera Suraidhar* was set on fire by her drunken husband and the land lord of that house launched an FIR claiming that she had damaged to property worth 25 lakh instead of the crime committed by the man. In further investigation the lady of the house *Manju Joshi* found guilty for keeping liquor of worth 25 lakh for selling purpose. In fact the

women are found guilty in many cases of crimes against women in Kumaun Mandal, which indicates the seriousness of the increasing women issues in society.

INTRODUCTION

Women issues in Kumaun Mandal before independence

The women in Kumauni society have been facing challenges for many centuries. One of the challenges intended for the Girls of a particular caste in Kumaun Mandal as well in Gadhwal was forced prostitution. "Nayak" was one of the famous caste of Uttrakhand belongs to Ramgarh of Nainital district, Patti Givad, Naya Chokot, and Katarmal of Almora district, some villages of Pithoragarh, Kali Kumaun and Patti Malla-Talla, Kalighat, Langoor and Udaypur of Garwal. This caste was following a vulgar tradition where they forced their daughters to involve in prostitution and earn the livelihood for the entire family. They started sending their Girls to Meerut, Moradabad, Bareilly, Delhi, Lacknow, and Mumbai and even sold to the Britisher's. The leaders of Uttrakhand never took interest in this matter because it belongs to a particular caste but when these girls were being called "Pahari prostitutes" by the outsiders then the local leaders started a campaign for removing this tradition from Uttrakhand.

In 1911-12, Arya Samaj took interest in this matter, later *Badri Dutt Pandey, Govind Ballabh Pant, Krishnand Shastri, Devi singh* and other political leaders of Uttarakhand supported this movement but the Nayak girls were not ready to get rid of this tradition. The local journalist furthermore joined this movement and constantly wrote in Almora Akhbar, Gadhwali, Kumaun Kumud, Shakti etc. in 1929 the Nayak Sudhar Bill was passed where the prostitution became illegal for the girls below the age of 18, but still this evil system could not stopped. *Heera Devi* a socialist requested to the Nayak Girls –"I request to my Nayak sisters to be progressive for making their life better, if you want to sell your body, than why you are not devoting it for nation building? It will surely improve your present and after life". In 1931 again ten new rules were introduced under the Nayak improvement bill but still the tradition is continuing in Uttrakhand. This movement could not became successful because of the involvement of one particular caste and their careless attitude, but there should be some strict laws for banning such immoral traditions in society,

Women issues in Kumaun Mandal after independence

The people of Kumaun Mandal were always neglected by the government. Although the people of Uttrakhand had a long struggle for the separate state but they could not successes in carving the separate state, the women were still struggling for the daily needs, rights, respect, and equal position in society etc. Kumauni women's were dominated even after independence; their husbands were busy in gambling and drinking. On top of that the work performed by the female comes under non-economic activities; they had no right on property, land, children, animals, house and other important areas. These females were forced to sell their body, work alone in their fields, the girls were married soon and no provision of re-marriages was there for the child widows. There were some major following issues faced by women in Kumaun Mandal after independence:-

- **Alcohol and Drugs** was commonly used by the males in Kumaun Mandal, and it was a burning issue for the whole society. In 1984 an anti liquor movement "Nasha Nahi Rojgar Do" was led by the "Uttrakhand Sangharsh Vahini", which came under "Uttrakhand Mahila Manch" later. (Pandey, 2016)This agitation could never get the government support; neither B.J.P. nor I.N.C leaders took interest in replacing the vine shops from Kumaun Mandal. This agitation widened in Uttrakhand but the new liquor shops were proposed by the government even in the interior areas which were even not developed properly. Hence people were more interested in selling and consuming alcohol rather opening schools or other employment opportunities. The crime rates were also increasing due to the consumption of liquor and the condition of women became worse after independence in Uttrakhand.
- **Education and employment** was just a dream for the youth, the young boys were more interested in army and laborer work due to lack of education. Most of the youngsters migrated towards the plain regions and never came back. This attitude was frustrating the women and they agitated for education and employment opportunities but the constipated ideas of the government never helped any movements in Kumaun Mandal. The Women also blamed media for irresponsible attitude towards these movements as this news got a very little space by most of the newspapers and were not highlighted by electronic media.
- **Politics and Policies** were the only hope of women in Uttrakhand, and they switched this movement towards politics. The slogans *"vote ki takat samajhkar, vote dene aa rahi, mil kar ham apni, jindagi badlane ja rahi. Haq, samman, or vikas ki ladai me, ham auratai barabar ki bhagidar hain".* Were shouted everywhere. Now they participated in elections but they face another challenge here, on 8 may, 2007, out of 6086 candidate's only 369 females won which was 6% of the 403 seats. The list was as follows-

Political Party	Total Participants	Women Participants
BSP	403	14
SP	393	27
BJP	350	34
INC	393	36
Rastriya Lok Dal	254	15
CPI	21	01
BKP (MAALE)	33	03
BKP (CPIM)	14	0

The women in Kumaun Mandal did everything for overcoming from all problems, poorty, unemployment, domestic violence, crimes against women, education, health facilities and more but the things were out of control. The condition was always challenging for women

and now the situation is worse because the lack of resources and unemployment people started migration, hundreds of villages in Kumaun Mandal are now barren but still there is a ray of hope that one day this region will flourish and develop.

Role and contribution of women during Uttrakhand state struggle movement

In the medieval period, the Uttarakhand region was consolidated under the Garhwal Kingdom in the west and the Kumaon Kingdom in the east. During this period, learning and new forms of painting (the Pahari School of art) developed. Modern-day Garhwal was likewise unified under the rule of Parmars who, along with many Brahmins and Rajputs, also arrived from the plains. After India attained independence from the British, the Garhwal Kingdom was merged into the state of Uttar Pradesh, where Uttarakhand composed the Garhwal and Kumaon Divisions. Until 1998, Uttarakhand was the name most commonly used to refer to the region, as various political groups, including the Uttarakhand Kranti Dal (Uttarakhand Revolutionary Party), began agitating for separate statehood under its banner. Although the erstwhile hill kingdoms of Garhwal and Kumaon were traditional rivals the inseparable and complementary nature of their geography, economy, culture, language, and traditions created strong bonds between the two regions. These bonds formed the basis of the new political identity of Uttarakhand, which gained significant momentum in 1994, when demand for separate statehood achieved almost unanimous acceptance among both the local populace and national political parties.

The most notable incident during this period was the Rampur Tiraha firing case on the night of 1 October 1994, which led to a public uproar. On 24 September 1998, the Uttar Pradesh Legislative Assembly and Uttar Pradesh Legislative Council passed the Uttar Pradesh Reorganization Bill, which began the process of forming a new state. Two years later the Parliament of India passed the Uttar Pradesh Reorganization Act, 2000 and thus, on 9 November 2000, Uttarakhand became the 27th state of the Republic of India.

Role and contribution of women in making of Uttrakhand

In the beginning of 20^{th} century the women in Kumaun Mandal participated clearly in political activities. They left their houses, restrictions of their families, all their household duties and become an icon for the public. Although there were thousands women who participated in the making of Uttarakhand but here are some important women who played a crucial role in this movement.

1. **Bishani Devi Sah**- Bishani was born on 12 October, 1902 in Bageswer. She was married at the age of 16, and soon lost her husband. The family and society started torturing and blaming her for the death of her husband, so she decided to join the agitation. She was arrested in 1930 and became one of the most active women revolutionary UP which was discussed in Amrit Bazar magazine of 10 October, 1930. She died at the age of 93 in 1974, the people of Almora still remembers her as Bishani Bubu for her bravery and devotion for the people.
2. **Kunti Devi**- she was born in a prosperous family of Almora in 1906 and married to Gangilal Verma at the age of 13^{th}. At a very young age she had two sons and one daughter and in her young age she lost her husband. After losing her husband she

joins the campaign of the Uttarakhand state struggle movement. She started uniting the women of Kumaun Mandal and made many women groups. She herself march through Almora, Haldwani, Kalaghungi, Kotabag, Patkot, Don Pokhar, Okhaldungha, Talli Seri, Betalghat, Simlkha, Majhedi, nainital etc. and encourage women for contributing in the agitation.

3. **Bhagirathi Devi Verma**- she was born on 10 November, 1904 in malli Bazar Almora. She was married at a very young age with Laxmilal Verma. She was the women of high willpower and united women such as Sheela Devi, Manoharidevi, Shanti Devi, Parvati Devi, Sulochana Devi, Daya Devi, Bhuvaneshawari Devi, Heera Devi, Bhagwati Devi, Basanti Devi, Munni Devi and many more women. She started her struggle against liquor and led the anti liquor movement in Kumaun Mandal. She was honored by the contemporary state government for her contribution and devotion.
4. **Tulsi Devi Rawat-** Tulsi Devi was born at the age when education was less respected for girls in society in 1904. She was very studious and found of reading but her wish was not fulfilled by her father. She was married with Durga Singh Rawat who was a tax officer in Pithoragarh and a native of Almora. She strongly opposed the dominance of women in family as well in society. She was a writer and persist her struggle through writing. She wrote for magazines, newspapers and her poetry was impressive. She believe that women are as powerful as men, she encourage women like-

   "E bahin jag utho, vir tatvo ko apnao.
   Rastra ki pukar par, balidan ho jao.
   Vir janni ho tum, tanik na ghabrao.
   Rastra ki pukar par balidan ho jao. "

   She also opposed untouchability, caste system, domestic violence and other social issues. She believed that girls should be equally educated for the betterment and development of society.
5. **Bhagirathi Devi Chauhan**- she was born at Natthor in Badhiyawala village district Bijnor in 1918. She was married with Tughlaq singh Chauhan of Udaypur. She learns the art of archery, shooting etc. She worked for the upliftment of the *"Nayak"* girls and trained them in self employment. She also led the anti liquor movement and worked for women health care. Her bold and lioness attitude forced the government to arrest her so many times; even she gave birth to her son in jail which was a unique incident. The people of Uttrakhand will remember her for her courageous attitude.
6. **Durga Devi Pant**- Durga Devi was born in Almora at Selakhola (Thapalia) in 1892. Her father was a social worker and founded a primary school in his area where she studied till class 4^{th}. She was married with Hargovind Pant who was a freedom fighter. Along with her husband she united Kunti Devi, Bishani Sah, Tulsi Rawat, Jivanti Thakurani and more than 100 women and made a women organisation. After the arrest of Badri Dutt Pandey and other leaders she organised meetings at Nanda Devi Ground Almora to support the movement. She led the anti liquor movement in many areas of Kumaun Mandal as well supported the women. As she had no children hence she treated everyone like her own child which made her every body's mother.

Her motherly nature and contribution will be remembered for years in Kumaun Mandal

7. **Meera Behan**- Meera Behan was a character inspired by Gandhiji. Her real name was ***Medeleen sleam*** born in Britain in 27 nov, 1892. She read about Gandhi in Romarola's book and came to India. She followed Gandhiji and learned Indian art and culture for one year. She joined Gandhiji and his Satyagarha's . She came in Haridwar in 1945 where she worked for the rural people. She settled in Tehari Gadhwal and aware people about the importance of trees, environment and other social issues. She worked for women empowerment and wrote about Gandhi. She was awarded with Padamvinhushan by the Indian government for her services and worked for India. Tara Devi- she was the mother of the most wanted freedom fighter Mr. Revadhar Pandey. She witnessed the torture and restlessness life of the families of these freedom fighters. She supported the women rights and gave equal respect to the females in families as well in society. When the females were dominated and ill treated in society and it was believed that all the religious rituals should be performed by men she declare that in the absence of her son (Mr. Revadhar Pandey), her daughter in law will perform the funeral and other rituals after her death. She was the women of high values and courage. Although she never participated openly in the movement but she gave her great contribution behind the curtain. She also became the role model for the females of Kumaun Mandal.

List of some important women in districts of Kumaun Division-

1. **Almora**- Nevati Devi, Jevati Devi, Smt. Bishani Devi, Smt. Bishnuli Devi and Harpyari.
2. **Nainital**- Kanti Devi, Chandra Devi, Dhanna Devi, Padi Devi, Pani Devi, Pooran Devi, Smt. Phabiya Devi, Bishani Devi, Bhagirathi Devi, Malti Devi, Vidhya Devi 'Desh Sevak', Shobhawati Mittal, Saraswati Devi and Saraswati Devi.(Kumaun Division)
3. **Dehradun**- Uma Devi, Chandrawati Lakhanpal, Prema Devi, Yashodhara Devi, Yagyawati Devi, Ramlubhai Devi, Vishnu Devi, Shyama Devi, Smt. Sharnada Tyagi and Saraswati Devi. (Deharadun Division)
4. **Chamoli**- Smt. Lati Devi, Smt. Kuvari Devi, Smt. MadoGari Devi, Smt. Mukari Devi, Smt. Maldeai Devi, Smt. Seeta Devi, Smt. Dhuma Devi, Smt. Rajeshwari Devi and Smt. Sumati Devi.
5. **Pithoragarh**- Gomti Devi.

Uttrakhand is also well known for the mass agitation of the 1970s that led to the formation of the Chipko environmental movement and other social movements. Though primarily a livelihood movement rather than a forest conservation movement, it went on to become a rallying point for many future environmentalists, environmental protests, and movements the world over and created a precedent for non-violence protest. It stirred up the existing civil society in India, which began to address the issues of tribal and marginalized people. So much so that, a quarter of a century later, India Today mentioned

the people behind the "forest satyagraha" of the Chipko movement as among "100 people who shaped India". Gaura Devi was the leading activist who started this movement other participants was Chandi Prasad Bhatt, Sunderlal Bahuguna, and Ghanshyam Raturi. Likewise the women also played important role in Uttarakhand state movement.

METHODOLOGY

This study is descriptive in nature. It covers secondary data. The secondary data were collected from standard books, journals, magazines, newspaper and website.

LIMITATIONS OF THE STUDY

Due to time constraints, the study has been conducted with limited sample size. The researcher has concentrated on the **changing condition of women in** Kumaun Mandal only.

CONCLUSION

The women here are highly empowered given all the issues as they have to take charge of their families. In a region popular for tourism and alcoholism at the same time, the ruling perception ends with scars on a woman's body. Here the schools and houses are on the toughest terrain and the resources don't exist largely. Sometimes farming is the only option. In majority cases they are unemployed and addicted to the toxic things. So from roof to ground a woman handles all the necessary aspects of running a family. Role and contribution of women during Uttrakhand state struggle movement was very important and in many areas of Uttrakhand the number of female voters is more than the males but still the women related issues from the election campaign is missing. The women in Kumaun Mandal are still struggling for the basic issues like water supply, sanitation, health facilities, education, employment, consumption of liquor. The health of hill women could be intrinsically linked with the status of farm women who play an important role in agricultural development. In India, they constitute about half of rural population 30% of them are directly engaged in farming. On the domestic side she is wife, mother and housewife as a productive member in agriculture too she toils unpaid and her contribution in agriculture goes unnoticed and remain as invisible works in the farm.

REFERENCE

1. Chauhan, J. (1998, july-december). Savtantra Senani. *Uttra mahila patrika* , pp. 59,60,61.
2. Fonia, K. s. *Uttranchal Rajya nirman ka sankshipt itihas.* binsar publishing house
3. Kaira, S. *kumaun me mahilao ka rastriya sangram tatha sthaniya jan aandolano me yogdan(20th century).* unpublished.
4. Kaira, S. (1998, july-december). Prakher Sangrami Mahilaaei. *Uttra mahila patrika* , pp. 52,53,54,55,56,57.

5. Kandpal, D. (1998, July-December). Moin Karanti Ki Purodha: Tara Devi. *Uttra Mahila Patrika* , pp. 62,63.

6. Negi, K. (1998, July- December). Meera Bahan "ek vilakshan vyaktitva". *Uttra Mahila Patrika* , pp. 57,58.

7. Pandey, V. (2016, July-September). Nashakhori ke virudhha janta ki akjutata ka sahi vakkt. *Uttra mahila Patrika* , p. 4.

8. Rautela, R. (2017, october-december). Hinsa v Sharab ke Khilaf Chuppi Todne Ke lie Sangharsh. *uttra mahila patrika* , p. 28.

9. Sah, J. (1998, july-december). Nayak Sudhar Andolan. *Uttra mahila patrika* , pp. 47,48,49.

10. Tandon, D. K. *Bhartiya sanskriti.* estern book linkers Delhi.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

COVID-19 के वर्तमान परिप्रेक्ष्य में प्रवासी मजदूरो की चुनौतियाँ

अभिषेक कुमार गुप्ता
(रिसर्च फैलो)
समाजविज्ञान संकाय
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल
विश्वविद्यालय जौनपुर
(स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, पीरनगर, गाजीपुर उ0प्र0)

डॉ0 नितिन कुमार राय
विभागाध्यक्ष (अर्थशास्त्र)
समाजविज्ञान संकाय
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल
विश्वविद्यालय जौनपुर
(स्वामी सहजानन्द स्नातकोत्तर
महाविद्यालय, पीरनगर, गाजीपुर उ0प्र0)

प्रस्तावना

कोरोना वायरस एक लेटिन भाषा है। जिसका शाब्दिक अर्थ 'क्राउन' से है। क्योंकि इस वायरस को जब हम सूक्ष्मदर्शी (Microscope) द्वारा देखते हैं। तो यह एक 'क्राउन' जैसा दिखाई देता है। पहली बार कोरोना वायरस की पहचान 1960 में हुई थी। वर्तमान में 2019–20 में इसकी पहचान चीन में 'वूहान' के 'हूर्बई' प्रान्त में 01 दिसम्बर, 2019 को हुई। वैज्ञानिकों ने इसे कोरोना वायरस से पहले '2019-nCOV' नाम दिया। COVID-19 के लिए SARS-COV 2 वायरस जिम्मेदार है। भारत में COVID-19 का पहला मामला 30 जनवरी, 2020 को दर्ज किया गया। W.H.O. ने COVID-19 को विश्व महामारी घोषित कर दिया है।

भारत एक विकासशील देश है, जहाँ 130 करोड़ आबादी में असंगठित क्षेत्र के लगभग 45 करोड़ श्रमबल में से करीब 30 प्रतिशत श्रमिक प्रवासी मजदूर है, जो गांवो, छोटे–शहरों, औद्योगिक, कृषि एवं व्यावसायिक रूप से विकसित क्षेत्रो में जाते है। एक ''प्रवासी श्रमिक'' वह व्यक्ति होता है, जो या तो अपने देश के भीतर या इसके बाहर काम करने के लिए पलायन करता है। प्रवासी श्रमिक आमतौर पर उस देश या क्षेत्र में स्थायी रूप से रहने का इरादा नहीं रखते है। जिसमें वे काम करते है।

2014 में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन का अनुमान था दुनिया भर में 232 मिलियन अन्तर्राष्ट्रीय प्रवासी ने कम से 12 महीनो के लिए अपने गृह देश से बाहर थे और उनमें से लगभग आधे आर्थिक रूप से सक्रिय होने का अनुमान लगाया गया था। निति आयोग के अनुसार असंगठित क्षेत्र देश के 85प्रतिशत मजदूरो को रोजगार देता है, जबकि वर्ष 2018–19 के आर्थिक सर्वे के अनुसार 93 प्रतिशत श्रमिक अनौपचारिक क्षेत्र में है। देश की सकल आय में इस क्षेत्र का योगदान 49 प्रतिशत के करीब है।

प्रवासी मजदूरो की चुनौतियाँ

कोरोना महामारी में प्रवासी मजदूरो को बहुत ही ज्यादा मुश्किलो का सामना करना पड़ रहा है। प्रवासी मजदूरो की चुनौतियाँ निम्न प्रकार है–

1. रोजगार की उम्मीद खत्म होने का सबसे बड़ा खतरा

- **लॉकडाउन की वजह से जॉब मार्केट पर असर–** हमने लॉकडाउन से पहले 15 दिन का सर्वे के दौरान देखा कि श्रमिक भागीदारी दर **(लेबर पार्टिसिपेशन दर) 42** फीसदी से भी नीचे आ गई। वह गिरकर **36**फीसदी के स्तर पर आ गई है।

- **बेरोजगारी दर–**
  लॉकडाउन के पहले 42 फीसदी श्रमिक भागीदारी रेट में 6–7 फीसदी को रोजगार नहीं मिलता था। अब लॉकडाउन के दौरान गिरकर 36 फीसदी पर आ चुकी श्रमिक भागीदारी रेट 23 फीसदी को रोजगार नहीं मिल रहा है।

2. भोजन की समस्या

प्रवासी मजदूरो की दूसरी सबसे बड़ी समस्या भोजन की है। रोजगार के बंद होने से प्रवासी मजदूरो को आर्थिक समस्या से जूझना पड़ रहा है। जिससे भोजन की समस्या बढ़ती जा रही है।

3. कोरोना वायरस से ग्रसित होने का भय

प्रवासी मजदूरो की तीसरी समस्या यह है कि कोरोना वायरस से ग्रसित होने का भय ज्यादा है। बहुत से प्रवासी मजदूर वायरस की डर की वजह से घर नहीं लौट रहे है।

- वर्तमान में भले ही उद्योगो में काम कम हो गया है या रूक गया है परन्तु लॉकडाउन समाप्त होते ही श्रमिको की मांग में तीव्र वृद्धि होगी। श्रमिको की पूर्ति न हो पाने से उत्पादन पर नकरात्मक रूप से प्रभवित होगा।
- लॉकडाउन समाप्त होने के पश्चात श्रमिक वर्ग की महानगरों में स्थिर औद्योगिक इकाईयों में कार्य हेतु वापस न लौटने की भी आशंका है।
- बड़ी संख्या में श्रमिकों के पलायन से महानगरों को प्राप्त होने वाला राजस्व भी नकारात्मक रूप से प्रभावित हो जायेगा।

जनगणना रिपोर्ट 2011

Migration

Reason for Migration	Number of Migrants	
	Person	Males
Total Migrants	9,83,01,342	3,28,96,986
Reason for Migration work/ Employment	1,44,46,224	1,23,73,333
Business	11,36,372	9,50,245

प्रवासी मजदूरो के लिए सरकार द्वारा किया गया प्रयास

प्रवासी मजदूरो की समस्याओं का सरकार द्वारा समाधान करने का प्रयास निम्न प्रकार है :–

- **प्रवासी मजदूरो को रोजगार देने के लिए 'माइग्रेशन' आयोग का गठन–**
  सरकार ने यह स्पष्ट किया है कि कोई भी राज्य जो इन कामगारो को यू0पी0 से अपने राज्य में रोजगार के लिए आमंत्रित करना चाहते है, उसे राज्य सरकार से इसकी अनुमति लेनी होगी।
- **दोगुना राशन–**
  केन्द्र सरकार प्राथमिकता परिवारों और अंत्योदय परिवारो को तीन महिनो के अवधि के लिए दोगुना राशन प्रदान करेगी।
- **प्रवासियों के लिए आश्रय–** प्रवासी श्रमिको को अस्थायी रूप से आश्रय प्रदान करने के लिए स्कूल, कॉलेज, स्टेडियम, सामुदायिक हॉल आदि का उपयोग किया।

- **प्रवासी श्रमिको का उत्पीड़न न हो–**
  सभी राज्यों के पुलिस को सख्त निर्देश दिए गये है कि वे शहरों में फंसे प्रवासी श्रमिको का उत्पीड़न, उनसे मारपीट न करें अथवा पैसा न माँगे, इस तरह के व्यवहार को रोकने के लिए ऐसे अधिकारियों के खिलाफ कार्यवाही की जायेगी।
- **आवश्यक वस्तुओं कीमतों नियंत्रित रखना–**
  जैसे ही शहरों में लॉकडाउन होता है, घबराहट में की जाने वाली खरीदारी और जमाखोरी को कम करने के लिए आवश्यक वस्तुओं को नियंत्रित कीमतों पर उपलब्ध कराना। इस उद्देश्य के लिए दुकानों (सरकारी और निजी) के वर्तमान नेटवर्क का उपयोग किया जा रहा है।
- **दहशत पर नियंत्रण–**
  दैनिक जीवन के व्यवधान में काम करने के लिए प्रत्येक जिला प्रशासन द्वारा लोगो को आवश्यक वस्तुओं और सेवाओं को प्राप्त करने हेतु एक दैनिक (क्षेत्रवार) रोस्टर बनाये है।
- **मनरेगा श्रमिको के लिए बाद में काम की गारण्टी–**
  बाद के महिनों में, जब सामुदायिक फैलाव का जोखिम कम हो जायेगा, जब जो काम करने के इच्छुक है उन्हे आश्वस्त करें कि उनके लिए कम से कम 20 दिन प्रतिमाह काम उपलब्ध रहेगा।

नियोजित प्रवासी आयोग द्वारा निम्नलिखित बातों पर ध्यान

- श्रमिकों के अधिकारों की रक्षा करना।
- प्रवासी श्रमिकों के शोषण की रोकथाम।
- बीमा सुविधा प्रदान करना।
- श्रमिकों को सामाजिक सुरक्षा।
- पुनः रोजगार सहायता।
- बेरोजगारी भत्ते का प्रावधान।
- सामाजिक, आर्थिक और कानूनी सहायता मजदूरो को सुनिश्चित करने के लिए एक ढांचे का निर्माण।

References

Magazines And News Paper

- Economics Survey (Magazines)
- Yozna (Magazines)
- India Today (Magazines)
- Times of India (News Paper)
- The Indian Express (News Paper)
- The Hindustan Times (News Paper)

Web Sites

- www.wikkipedia.com
- www.glossery.econoguru.com
- www.scribid.com
- www.ssrn.com

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

कमलेश्वर की कहानियाँ : शिल्पगत अध्ययन

पंकज कुमार मौर्य

शोध छात्र (हिन्दी विभाग) नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय, प्रयागराज

कमलेश्वर का नाम हिन्दी कथा साहित्य में बहुत ही आदरपूर्वक लिया जाता है। उन्होंने अपनी लेखनी के द्वारा कथा साहित्य को समृद्व किया। उन्होंने नई कहानी आन्दोलन को चलाया ही नहीं बल्कि उसको प्रतिष्ठित भी किया। नई कहानी आन्दोलन के साथ नई कहानी में शिल्प के विविध प्रयोग किये गये, जो विचारगत एवं विषयगत रहें हैं परन्तु नई कहानी में कलात्मक प्रयोग अधिक किये गये। शिल्प कलात्मक निर्वाह पद्धति माना जाता है। शिल्प के माध्यम से लेखक अभिव्यक्ति हेतु बाध्य होता है। वास्तव में सार्थक अभिव्यक्ति को कलात्मक रूप में सुसज्जित करने का नाम ही शिल्प है।

शिल्प विधि से तात्पर्य किसी कृति के निर्माण की उन सारी प्रक्रियाओं तथा रचना पद्धतियों से है जिनके जरिए रचनाकार अपनी अमूर्त जीवनानुभूतियों, मनः प्रभावों तथा विचारों और भावों को मूर्त रूप देकर अत्यन्त संवेद्य एवं सौन्दर्य मूलक बनाता है। 'शिल्प' का शाब्दिक अर्थ है– हस्तकला, बनावट या साहित्य के संदर्भ में 'किसी कथाकार या रचनाकार द्वारा अपनी रचनाओं में प्रयुक्त किया जाने वाला भावाभिव्यक्ति का विशिष्ट ढंग' या किसी चीज को बनाने या रचने का ढंग अथवा तरीका। शिल्प के विषय में राजेन्द्र यादव की मान्यता है। **"जिन संवेदना चित्रों से लेखक अपने अनुभवों, अनुभूतियों को पाता है। उन्हें अधिक समृद्ध, सम्पादित और सार्थक करके, अधिक युक्तिपूर्ण ढंग से अनुशासित करके, इस प्रकार सम्प्रेषित करता है कि वे दूसरों के लिए भी बन जाएँ। उन संवेदना चित्रों को अधिकाधिक संप्रेषणीय बनाने के लिए लेखक को शिल्प का सहारा लेना पड़ता है।"**[1] शिल्प विधान रचना के आन्तरिक एवं वाह्य पक्ष से सम्बन्ध रखती है। कमलेश्वर के कथा साहित्य में शिल्प विधान सुसंगठित, कलात्मक एवं सफलढंग से किया गया है।

कमलेश्वर नई कहानी के प्रमुख शिल्पी हैं। एक सच्चे शिल्पी की भाँति वे निरन्तर प्रयोग करते, उसे तोड़ते बदलते एवं संशोधित करते रहते है। उनकी कहानियाँ का तेवर समय के प्रवाह के साथ बदलता रहा है। जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण उन्मुक्त एवं स्वतंत्र रहा है। इसलिए कथा के कथ्य और शिल्प दोनों में जीवन अपने पूरे वैविध्य के साथ उभर आया है अर्थात् कमलेश्वर शिल्प एवं कथ्य की दृष्टि से समकालीन हिन्दी कहानी के चतुर चितेरे हैं।

शिल्प रचना के बाहर की कोई चीज नहीं है। किसी भी कलाकृति के लिए कथ्य और शिल्प अलग–अलग नहीं होते है। यही कारन है कि समय के बदलाव के साथ–साथ जब साहित्य की संवदेना प्रभावित होती है तो शिल्प भी प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता हैं। असल में शिल्प के अन्तर्गत वे सभी युक्तियाँ आती है जिनका उपयोग रचनाकर अपनी बातों कि अभिव्यक्ति के लिए करता है अर्थात शिल्प सम्भवतः हम वह साधन कह सकते हैं जिसके द्वारा रचनाकार अपनी विषय वस्तु की खोज करता है। उसकी छानबीन करता है, उसका विकास करता है और उसके माध्यम से वह अपने आप को सम्प्रेषित करता है। अनुभूति से अभिव्यिक्ति तक की प्रक्रिया ही सृजन की प्रक्रिया है। अनुभूति और अभिव्यक्ति

की आन्तरिक एकता से ही रचना शब्दों के माध्यम से अपने आप प्रकट होती है। कथ्य और शिल्प (अनुभूति और अभिव्यक्ति) की आंतरिक एकता के सम्बन्ध में मोहन राकेश ने कहा है–**"शिल्प का विकास लेखक की प्रयोग चेतना पर इतना निर्भर नहीं होता जितना उसकी वस्तु की आंतरिक अपेक्षा पर। ..... अर्थात् वस्तु को शिल्प से अलगाया नहीं जा सकता; प्रयोग के लिए प्रयोग नहीं होता; संकेत के लिए संकेत नहीं दिया जाता; यह सृजन के भीतर से उभरता है।"**[2] अर्थात् सफल रचना के लिए अनुभूति एवं अभिव्यक्ति की आन्तरिक एकता नितांत आवश्यक है। अनुभूति के प्रति लेखक जितना प्रमाणिक होता है, अभिव्यक्ति के स्तर पर भी वह उतना ही प्रमाणिक होगा ऐसा दावा नहीं किया जा सकता। अत्यन्त सुन्दर, गर्मस्पर्शी तथा करूण कथ्य को कलात्मक स्तर पर पहुँचाने में असफल लेखकों की कमी यहाँ नहीं है। इसी कारण अनुभूति की मौलिकता ही लेखक की श्रेष्ठता साबित नहीं करती अपितु अभिव्यक्ति की कलात्मकता भी उतनी ही महत्वपूर्ण बात है। इसी अभिव्यक्ति के स्तर पर लेखक आम आदमी से हटकर विशिष्ट बन जाता है। परन्तु मात्र 'कलात्मक अभिव्यक्ति' यह किसी भी लेखक की अन्तिम कसौटी नहीं बन सकती। इन दोनों का अद्‌भुत समन्वय ही किसी रचना की श्रेष्ठता के लिए जरूरी है।

कमलेश्वर की कहानियों में अनुभूति और अभिव्यक्ति का सुन्दर समन्वय हुआ है। इस सम्बन्ध में कमलेश्वर की मान्यता है **"कला के स्तर पर कहानी मेरे लिए एक बहुत ही कठिन विधा है। हर कहानी एक चुनौती बनकर मेरे सामने आती है और उसके सब सूत्रों को सँभालने से नसें फटने लगती हैं। ..... तमाम ऐसी तकलीफें मुझे उसी वक्त सताती है और मैं भागता रहता हूँ .... यह भागना तब तक चलता रहता है, जब तक अनुभव अनुभूति में आत्मसात नहीं हो जाता। उसके बाद लिखना मेरी मुक्ति का प्रयास बन जाता है।"**[3] अर्थात् कहानी की सृजन यात्रा जिन्दगी, जिन्दगी के अनुभव, अनुभव का अनुभूति में परिवर्तन अभिव्यक्ति। इसलिए ही लिखना यातनापूर्ण बन जाता है। एक श्रेष्ठ रचना के लिए अनुभूति की मौलिकता और अभिव्यक्ति की कलात्मकता आवश्यक है।

कमलेश्वर ने कथ्य के अनुसार शिल्प बदलने को जरूरी माना, क्योंकि आज की कहानी का उद्‌देश्य मात्र मनोरंजन करना ही नहीं है और न ही उसे परम्परागत फार्मूले के अन्तर्गत आलोचित किया जा सकता है। कमलेश्वर के कथनानुसार **"इस विभाजन और अंगभंग ने कहानी की आत्मा को मार दी और उसके स्वतन्त्र विकास का जो सिलसिला शुरू हुआ था, वह अवरूद्ध हो गया"**[4] कमलेश्वर ने अपने कथा साहित्य में मध्यवर्गीय जीवन एवं निम्नमध्यवर्गीय जीवन के हर रंग को, हर उतार चढ़ाव को अपने कहानियों का विषय बनाया उनके अनुसार **"नई कहानी आग्रहों की कहानी नहीं है, प्रवृतियों की हो सकती है और उसका मूल स्रोत है जीवन का यथार्थ बोध और इस यथार्थ बोध को ले चलने वाला वह विराट मध्यवर्ग और निम्नमध्यवर्ग है जो अपनी जीवन शक्ति से आज के दुर्दान्त संकट को जाने अनजाने झेल रहा हैं।"**[5] मध्यवर्ग एवं निम्नमध्यवर्ग के जीवन संघर्षों की सही अभिव्यक्ति ही कमलेश्वर की कहानियों का प्रमुख विषय रहा।

लेखन के अपने पहले दौर से कमलेश्वर शिल्पगत चेतना से सजग है। कथ्य के अनुरूप शिल्प बदलने की इन्हें आवश्यकता महसूस हो रही थी या यूं कहें कि इनका कथ्य अपनी प्रकृति के अनुसार नये–नये रूप धारण कर रहा था परम्परागत पद्धति से अनुभूति को व्यक्त करना कठिन हो रहा था। इस नयी अनुभूति ने नये शिल्प की उद्‌भावना हो गई है। नये शिल्प का नया प्रयोग हम इनके 'राजा निरबंसिया' में देख सकते है। इसमें दो युगों के बदलाव को एक साथ दिखाना चाह रहे हैं। बचपन में माँ के द्वारा कही गयी कहानी अचेतन मन में है और इधर जगपती की नये जीवन की नयी कहानी। ये दोनों कहानियाँ परस्पर विरोधी है। परन्तु इनके विरोध से ही दो युगों के बदलाव को रखा जा सकता है। इस कारण ये दोनों कहानियाँ समानान्तर चलने लगती है और इस तरह एक नये शिल्प का जन्म

यहाँ हो जाता है। 'राजा निरबंसिया' में एक लोककथा की पृष्ठभूमि में समकालीन मध्यवर्गीय परिवार के जीवन संघर्ष को नितान्त अनूठे ढ़ग उभारा गया है। 'राजा निरबंसिया' कहानी में लोककथा का प्रयोग तथा शिल्प सम्बन्धी नवीनता के विषय में डॉ0 नामवर सिंह ने कहा है। **"शिल्प विधान का यह नया प्रयोग कहानी में अनेक अर्थो एवं व्याख्याओं की सम्भावना भर देता है।"[6]** यों ऐसे एक नए शिल्प के प्रयोग में उन्हें कहें तो सौ प्रतिशत सफलता प्राप्त हुई है।

कमलेश्वर की 'नीलीझील' भी शिल्प की दृष्टि से नया प्रयोग ही है इसमें काव्यात्मकता अधिक उभरकर आई है। फिर भी इसमें कविता और कहानी का अद्‌भुत सम्बन्ध हम देख सकते हैं। 'नीलीझील' के शिल्प पर काफी टीका हुई है। डॉ0 इन्द्रनाथ मदान के अनुसार **"कविता की उदास छाया कहानी पर मंडराती है। पारवती के चल बसने के बाद कहानी अपने पाँवों पर चलने के बजाय लेखक के सहारे लंगड़ाने लगती है। ..... राजा निरबंसिया की तरह कमलेश्वर इस कहानी में नये माध्यम की आजमाइश करना चाहते है। पहले की रचना प्रक्रिया कहानी में है और दूसरी का सृजन कविता और कहानी के दो धरातलों पर किया गया है।"[7]**

पहले दौर की इन कहानियों में शिल्प के दर्शन होते हैं। कहानी का आरम्भ किसी मनःस्थिति, घटना, वातावरण का चित्रण अथवा ऐसी ही किसी स्थिति से शुरू होता है। फिर पाठको को पात्रों के नाम उनकी स्थिति अथवा उनके सम्बन्धों का एहसास हो जाता है। आरम्भ में कहीं पर भी पात्रों का परिचय नहीं होता अथवा कहानी के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार के संकेत नहीं होते। अनुभूति की उस विशिष्ट स्थिति के साथ पाठक एकदम जुड़ जाता है। पात्रों की उस विशिष्ट मानसिकता को वह स्वीकार कर लेता है। बिना उसके परिचय के ही यह स्थिति काफी दूर तक चलती है। बीच में अचानक कहीं तो उन पात्रों का विस्तार के साथ परिचय कराया जाता है। बिना किसी परिचय के ही पाठक उन पात्रों की मानसिकता को जीने लगता है। अनुभूति की प्रखरता के कारण ही ऐसा सम्बन्ध होता है। यह शिल्पगत विशिष्टता कमलेश्वर की अधिकतर कहानियों में देखने को मिलती है।

'खोई हुई दिशाएँ' में दूसरे तीसरे पृष्ठ पर चन्दर का परिचय दिया जाता है। 'गर्मियों के दिन' में वैद्य जी का परिचय दूसरे पृष्ठ के उत्तरार्ध से शुरू हो जाता है। 'बयान' कहानी में फोटोग्राफर के सम्बन्ध में चौथे पृष्ठ पर जानकारी दी गई हे। 'नीलीझील' में तीसरे पैराग्राफ पर महेश पाण्डे के सम्बन्ध में थोड़ा सा संकेत दिया गया है। 'नागमणि' में विश्वनाथ का परिचय छठे पृष्ठ पर दिया जाता है। 'आसक्ति' में सुजाता और विनोद की पिछली जिन्दगी की चर्चा ग्यारहवें पृष्ठ पर दी गई है। उपर्युक्त उदाहरणें से स्पष्ट है कि कमलेश्वर पात्रों का परिचय देने में जल्दबाजी नहीं करते उस स्थिति को जीते समय जहाँ जरूरत पड़े वहाँ पिछली जिन्दगी के संकेत अथवा वर्णन अपने आप आ जाता है।

कमलेश्वर के अधिकाशं कहानियों के केन्द्र में 'मनः स्थिति' ही है। इस मनः स्थिति को स्वाभाविक विकास बतलाया जाता है। पात्र उस विशिष्ट मनः स्थिति को जीने लगते है। मनःस्थिति और परिवेश में अभिन्नता स्थापित हो जाती है, धीरे–धीरे यह मनःस्थिति एक विशिष्ट ऊँचाइ तक चली जाती है, और वहीं कहानी समाप्त हो जाती है। इसे हम 'मनःस्थिति' की चरमसीमा कह सकते हैं। अकेलेपन की मनःस्थिति को लेकर जीने वाला 'खोई हुई दिशाएँ' में चन्दर अन्त में अपनी सोई हुई पत्नी को जगाकर पूछने बैठता है कि क्या वह उसे पहचानती है? 'नीलीझील' का महेश पाण्डे मन्दिर बनवाने के बजाय झील खरीद लेता है। 'तलाश' की ममी की उदासी अन्तिम वाक्य के द्वारा स्पष्ट हो जाती है। 'मांस का दरिया' की जुगनू मदनलाल को बुलवाना चाहती है। इस प्रकार इन कहानियों में भी यह 'चरमस्थिति' है परन्तु यहाँ मन की चरम अवस्था है, घटनाओं की नहीं। इसी चरम अवस्था के कारण पाठकों की उत्सुकता अंत तक बनी रहती है।

डॉ0 धनंजय वर्मा ने अपने एक लेख में इनकी कहानी यात्रा के सम्बन्ध में लिखा है। कि **"वे पहले परम्परा और परिवेश बोध के प्रति फिर परिवर्तित सामाजिक सन्दर्भ और यथार्थ के प्रति और फिर रूप और शिल्प के प्रति जागरूक रहे हैं।"**[8] कमलेश्वर की शिल्प यात्रा उलझे हुए शिल्प से लेकर सपाट शिल्प तक की है। असल में कमलेश्वर पहले कहानीकार है। जिन्होंने प्राचीन एवं नवीन कथाओं को जोड़कर एक मिश्रित शिल्प को जन्म दिया है। अपने पूर्ववर्ती कथा परम्पराओं को तोड़ने के साथ–साथ अपनी कहानियों द्वारा स्थापित जमीन को भी निरन्तर तोड़ने एवं अस्वीकार करते आगे बढ़ने की अद्‌भुत क्षमता कमलेश्वर में है। यही तो इनके व्यक्तित्व की खूबी है।

सन्दर्भ :

1. राजेन्द्र यादव, एक दुनिया समानान्तर (भूमिका)
2. डॉ0 इन्द्रनाथ मदान, हिन्दी कहानी : अपनी जबानी पृ0 28
3. कमलेश्वर, आत्मकथ्य–माँस का दरिया पृ0 9–10
4. कमलेश्वर, नई कहानी की भूमिका पृ0 159
5. कमलेश्वर आत्मकथ्य–माँस का दरिया पृ0 6
6. डॉ0 नामवर सिंह, कहानी–नई कहानी पृ0 29–30
7. डॉ0 इन्द्रनाथ मदान हिन्दी कहानी : अपनी जबानी पृ0 120
8. सं0 सुरेन्द्र, नई कहानी : दशा, दिशा, संभावना पृ0 92

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय, मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

पन्धारी लाल

शोधछात्र
शिक्षक शिक्षा संकाय,
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय),
प्रयागराज (उ0प्र0)

प्रस्तावना–

महाभारत काल में स्त्रियों का बहुत ही सम्मान था। स्त्रियाँ विशेष पूज्य मानी जाती थीं और यह विश्वास था कि जहाँ नारियों का सम्मान होता है वहाँ देवता निवास करते हैं और जहाँ वे सम्मानित नहीं होती वहाँ कोई भी आयोजन सफल नहीं होता है।

यत्र नार्यस्तु पूजयन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।।

विवेकानन्द के अनुसार, ''स्त्रियों की स्थिति में सुधार हुए बिना विश्व के कल्याण का कोई दूसरा मार्ग नहीं है।''

बालिकाओं की स्थिति से तात्पर्य यह है, कि एक समाज विशेष में बालिकाओं का क्या स्थान है, उन्हें पुरुषों से ऊँचा, बराबर या नीचा क्यों माना जाता है, कि किसी संस्कृति में बालिकाओं के प्रति पुरुषों का क्या दृष्टिकोण पाया जाता है! इसके अलावा बालिकाओं की स्थिति के निर्धारण में इस बात का विशेष महत्त्व है, कि उन्हें कौन–कौन से अधिकार प्राप्त हैं, विभिन्न क्षेत्रों में उनके क्या–क्या कार्य हैं तथा उनसे किन भूमिकाओं की अदा करने की आशा की है, इन सभी बातों पर विचार से ज्ञात होता है, कि भारतीय समाज में बालिकाओं की स्थिति विशेषतः वैदिक काल में काफी उच्च रही है। यहाँ वैदिक और उत्तरवैदिक काल में बालिकाओं की स्थिति पुरुषों के बराबर रही है, तथा उन्हें पुरुषों के समान ही सब अधिकार प्राप्त रहे हैं। धीरे–धीरे पुरुष में अधिकार प्राप्ति की लालसा बढ़ती गयी परिणाम स्वरूप स्मृति काल, धर्मशास्त्रकाल, तथा मध्यकाल में इनके अधिकार छिनते गये और इन्हें परतन्त्र, निस्सहाय निर्बल मान लिया गया परन्तु समय ने पलटी खाया, अंग्रेजी शासनकाल में देश में राजनीतिक और सामाजिक क्षेत्र में जागृति आने लगी, समाज सुधारकों एवं नेताओं का ध्यान बालिकाओं के प्रति पुरुषों का क्या दृष्टिकोण है? इस ओर गया।

हमारे समाज में बालिकाओं की परिस्थिति बहुत ही निम्न है, तथा प्रत्येक स्तर पर पुरुष वर्ग को विशेष वरीयता दी जाती है, जो कि बालिका निरक्षरता का प्रमुख कारण है, ''माता–पिता की

रूढ़िवादिता, बालिका अध्यापिकाओं की कमी, सामाजिक रीति–रिवाज और प्रतिबन्ध ग्रामीण क्षेत्रों में अधिकतर माता–पिता यह समझते हैं, कि बालिकाओं के शिक्षित होने से क्या होगा, जब उनको घरेलू कामकाज ही करना है, ग्रामीण क्षेत्रों में बालिकाओं को शिक्षा के लिए घर से कोसों दूर, कुछ माता–पिता नहीं भेजना चाहते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में बालिका के किशोर होते ही उसके आने–जाने पर पाबंदी लगा दी जाती है, यदि विद्यालय अधिक दूरी पर स्थित है और परिवहन की सुविधा नहीं है, और बालिका अध्यापिका उपलब्ध नहीं है, तो समस्या और भी अधिक जटिल हो जाती है। सरकार द्वारा गाँव में अनौपचारिक शिक्षा की कोई व्यवस्था नहीं है, जिससे वे लड़कियाँ जो घरेलू कामकाज करती हैं और उन्हें स्कूल जाने का वक्त नहीं मिलता, जिसके कारण वे शिक्षा ग्रहण करने से वंचित रह जाती हैं, रही बात शिक्षा ग्रहण करने की तो वहीं घरों की बालिकाएँ ही माध्यमिक स्तर की शिक्षा ग्रहण कर पा रही हैं, जो आर्थिक रूप से सम्पन्न हैं और वे बालिकाएं जिनका परिवार पूर्णरूप से शिक्षित है। सरकार द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में कई सुविधा दी गई है, कमजोर वर्गों के लिए जैसे–अनुसूचित जाति के लड़के व लड़कियों को छात्रवृत्ति दी जाती है, परन्तु यह छात्रवृत्ति भी समय पर नहीं मिल पाती और छात्रवृत्ति रूक जाने के कारण उन बालिकाओं की पढ़ाई में परेशानी होती है, इसके कारण से बालिकाएं पूर्ण शिक्षा ग्रहण से वंचित रह जाती हैं। इन सब समस्या के चलते ही बालिकाओं को शिक्षा ग्रहण करने में बड़ी कठिनाईयों का सामना करना पड़ रहा है।

वर्तमान में बालिकाओं की शिक्षा हेतु सरकारी स्तर पर विशेष प्रावधान किये गये हैं जिनमें सर्व शिक्षा अभियान, मध्यान्ह भोजन योजना, बेटी बचाओ बेटी पढ़ाओ, कस्तूरबा गाँधी बालिका आवासीय योजना के साथ–साथ विद्यालयों में अध्यापिकाओं की नियुक्ति एवं बालिकाओं से सम्बन्धित समस्याओं को मद्देनजर रखते हुए उन्हें दूर करने का प्रयास किया जा रहा है। जहाँ तक देखा जाय तो बालिकाएँ शिक्षा तो ग्रहण कर रही हैं लेकिन वहीं उनके समायोजन में दिक्कत देखने को मिलती है जिससे उनकी शिक्षा अवरूद्ध होने के साथ उनके विद्यालय में ठहराव, नामांकन एवं वृद्धि में गिरावट भी होती जाती है।

अतः अध्ययनकर्ता द्वारा बालिकाओं के विद्यालय में होने वाली समस्याओं को देखते हुए उनके समायोजन का अध्ययन किया गया है।

समस्या कथन–

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय, मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन

अध्ययन का उद्देश्य–

प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित उद्देश्यों का अध्ययन किया गया है–

1. कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।
2. कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।
3. मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ–

उद्देश्यों की पूर्ति हेतु निम्नलिखित परिकल्पनाओं का परीक्षण किया गया है–

1. कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
2. कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।
3. मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में कोई सार्थक अन्तर नहीं है।

शोध प्रविधि–

इस शोध अध्ययन हेतु वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत सर्वेक्षण विधि का प्रयोग किया गया है। प्रयागराज मण्डल के कस्तूबरा गाँधी बालिका विद्यालय, मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालयों तथा राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालयों में अध्ययनरत् बालिकाओं को जनसंख्या माना गया है। उद्देश्यानुसार प्रयागराज मण्डल के 2 कस्तूबरा गाँधी बालिका विद्यालय, 2 मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालयों तथा 2 राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालयों का चयन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में बालिकाओं के समायोजन अध्ययन हेतु सीमा रानी एवं डॉ0 बसन्त बहादुर सिंह द्वारा निर्मित ''एजुकेशनल एडजेस्टमेण्ट इन्वेन्ट्री'' का प्रयोग किया गया है। आँकड़ों के सांख्यिकी विश्लेषण के लिये मध्यमान, मानक विचलन, मानक त्रुटि एवं 'टी' परीक्षण का प्रयोग किया गया।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

उद्देश्य–1 कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी सं0 1

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता का मध्यमान, मानक विचलन एवं टी–मान

क्र0सं0	न्यादर्श	(N)	(M)	(S.D.)	$D=(M_1 \sim M_2)$	σ_D	(t)	सारणी मान
1.	क.गाँ.बा.वि.	50	38.60	6.88	3.84	1.17	3.28*	1.98 df=98
2.	मा0प्रा0अनु0 मा0वि0	50	34.76	4.60				

*0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक

व्याख्या–

उपर्युक्त सारणी सं0 1 कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन क्षमता का मध्यमान क्रमशः 38.60 एवं 34.76 तथा मानक विचलन क्रमशः 6.88 एवं 4.60 है। परिगणित टी–मान 3.28 है। मुक्तांश 98 तथा 0.05 सार्थकता

स्तर पर टी–अनुपात का सारणी मान 1.98 है अर्थात् परिगणित टी–अनुपात सारणी मान से अधिक है, अतः कहा जा सकता है कि 0.05 सार्थकता स्तर पर शून्य परिकल्पना निरस्त की जाती है।

अतः कहा जा सकता है कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन क्षमता की अपेक्षा उच्च है।

उद्देश्य–2 कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी सं0 2

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता का मध्यमान, मानक विचलन एवं टी–मान

क्र0सं0	न्यादर्श	(N)	(M)	(S.D.)	D=(M_1~M_2)	σ_D	(t)	सारणी मान
1.	क.गाँ.बा.वि.	50	38.60	6.88	3.98	1.37	2.91*	1.98 df=98
2.	रा.आ.प.वि.	50	34.62	6.85				

*0.05 सार्थकता स्तर पर सार्थक

व्याख्या–

उपर्युक्त सारणी सं0 2 कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन क्षमता का मध्यमान क्रमशः 38.60 एवं 34.62 तथा मानक विचलन क्रमशः 6.88 एवं 6.85 है। परिगणित टी–मान 2.91 है। मुक्तांश 98 तथा 0.05 सार्थकता स्तर पर टी–अनुपात का सारणी मान 1.98 है अर्थात् परिगणित टी–अनुपात सारणी मान से अधिक है, अतः कहा जा सकता है कि 0.05 सार्थकता स्तर पर शून्य परिकल्पना निरस्त की जाती है।

अतः कहा जा सकता है कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन क्षमता की अपेक्षा उच्च है।

उद्देश्य–3 मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन का तुलनात्मक अध्ययन करना।

सारणी सं0 3

मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता का मध्यमान, मानक विचलन एवं टी–मान

क्र0सं0	न्यादर्श	(N)	(M)	(S.D.)	D=(M_1~M_2)	σ_D	(t)	सारणी मान
1.	मा.प्रा.अनु.मा.वि.	50	34.76	4.60	0.14	1.17	0.11	1.98 df=98
2.	रा.आ.प.वि.	50	34.62	6.85				

*0.05 सार्थकता स्तर पर असार्थक

व्याख्या–

उपर्युक्त सारणी सं0 3 मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन क्षमता का मध्यमान क्रमशः 34.76 एवं 34.62 तथा मानक विचलन क्रमशः 4.60 एवं 6.85 है। परिगणित टी–मान 0.11 है। मुक्तांश 98 तथा 0.05 सार्थकता स्तर पर टी–अनुपात का सारणी मान 1.98 है अर्थात् परिगणित टी–अनुपात सारणी मान से कम है, अतः कहा जा सकता है कि 0.05 सार्थकता स्तर पर शून्य परिकल्पना स्वीकृत की जाती है।

अतः कहा जा सकता है मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता एक–दूसरे के बराबर है।

निष्कर्ष–

अध्ययन के निष्कर्ष निम्नलिखित हैं–

- ❖ कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में अन्तर है अर्थात् कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की अपेक्षा उच्च है।
- ❖ कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में अन्तर है अर्थात् कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की अपेक्षा उच्च है।
- ❖ मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं के समायोजन में अन्तर नहीं है अर्थात् दोनों विद्यालयों में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता समान है।

निहितार्थ–

कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं की समायोजन क्षमता दोनों विद्यालयों में अध्ययनरत् बालिकाओं की अपेक्षा उच्च पाया गया। समायोजन क्षमता कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय में अध्ययनरत् बालिकाओं का अधिक पाया जाना इस बात को इंगित करता है कि क. गाँ.बा.वि. में अध्ययन करने वाली बालिकाएँ गरीबी रेखा से नीचे, ग्रामीण क्षेत्र की होने के कारण उनकी आवश्यकता एवं माँगे कम होती हैं जिसके कारण वे हर जगह पर अपने आपको समायोजित कर लेती हैं तथा माता–पिता के पढ़े–लिखे न होने के कारण भी वे आत्मनिर्भर होकर पढ़ती हैं जिससे उनके विद्यालय, स्कूल एवं समन्वय समूह में समायोजन आसानी से हो जाता है वहीं मान्यता प्राप्त अनुदानित माध्यमिक विद्यालय एवं राजकीय आश्रम पद्धति विद्यालयों में पढ़ने वाली बालिकाएँ घर पर ही रहकर स्कूल जाती हैं और उनकी आवश्यकताएँ अधिक तथा उनमें अपने सामाजिक–आर्थिक स्तर का प्रभाव होता है जिसके कारण उनमें समायोजन क्षमता कम हो सकती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची :

- ओमप्रकाश (2013). माध्यमिक स्तर के सरकारी एवं निजी विद्यालयों के विद्यार्थियों में अनुशासन, आत्म–प्रत्यय एवं समायोजन का अध्ययन, शोध–प्रबन्ध शिक्षाशास्त्र, श्री जगदीशप्रसाद झाबरमल टिबड़ेवाला विश्वविद्यालय, विद्यानगरी, झुंझनूं, राजस्थान
- आनन्द और यादव (2006). 'द इनक्लूजन ऑफ एस0सी0 गर्ल्स इन एजूकेशन : ए लॉग पाथ अहेड'', पैरियाडिक रिसर्च, वॉ0 6, इश्शू–2, पृ0 84
- जोशी, एस (2014). कस्तूरबा गाँधी आवासीय विद्यालयों में संचालित जीवन कौशल गतिविधियों का अध्ययन, पी–एच.डी. कोर्स वर्क डिजर्टेशन, डिपार्टमेन्ट ऑफ एजुकेशन, कुमाऊँ विश्वविद्यालय।
- जैन, निशा (2014). उच्च माध्यमिक स्तर के विद्यार्थियों के तनाव व समायोजन में सम्बन्ध का अध्ययन, इण्टरनेशनल रिसर्च जर्नल फॉर मल्टीडिस्पिलनरी स्टडीज, वॉल्यूम–1, इश्शू–2, पृ0 1–4
- देवी रश्मि एवं मिश्रा, राजन (2015). बालिका शिक्षा की स्थिति एवं विकास में आँगनबाड़ी एवं समुदाय की सहभागिता का अध्ययन, एशियन ग्लोबल जर्नल (ए मल्टीनेशनल मल्टीडिस्पिलनरी रिसर्च जर्नल), वॉ0 2, इश्शू–4, पृ0 22–24
- मण्डल, पुष्पा (2009). रोल ऑफ कस्तूरबा गाँधी बालिका विद्यालय इन द एजुकेशनल डेवेलपमेन्ट ऑफ शेड्यूल ट्राइब गर्ल्स इन झारखण्ड, जर्नल ऑफ इण्डिया, एजूकेशन, 33, 16–58

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

महात्मा गाँधी के विचारों की प्रासंगिकता एवं वर्तमान विश्व

डॉ0 पंकज कुमार जायसवाल

राजनीति विज्ञान विभाग,
श्रीमहन्त रामाश्रयदास स्नातकोत्तर महाविद्यालय
भुड़कुड़ा गाजीपुर
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर

महात्मा गाँधी एक युग पुरुष थे उन्होंने जहाँ एक ओर भारतवासियों में स्वाधीनता की भावना जागृत की वहीं उनके सामाजिक जीवन को भी प्रभावित किया तथा साहित्यकारों के प्रेरणास्रोत भी बने। गाँधी जी कोई दार्शनिक नहीं थे वे एक सच्चे विचारक एवं सन्त थे। उनका सारा जीवन कर्ममय था। व्यक्तिगत साधना में उनका विश्वास था। उनके जीवन का लक्ष्य केवल अंग्रेजी सत्ता से छुटकारा दिलाना नहीं था। भारत और सारे विश्व का सत्य एवं अहिंसा के आदर्शों पर निर्माण करना था। गाँधी जी ने पहली बार सत्य, अहिंसा और शत्रु के प्रति प्रेम, आध्यात्मिक और नैतिक सिद्धान्तों का राजनीति के क्षेत्र में इतने विशाल पैमाने पर प्रयोग किया और सफलता प्राप्त की।

गाँधी जी ने जहाँ एक ओर भारत को अंग्रेजों की गुलामी से मुक्ति दिलायी वहीं दूसरी ओर संसार को अहिंसा का ऐसा मार्ग दिखाया जिस पर यकीन करना कठिन तो नहीं पर अविश्वसनीय जरूर था।

दुनिया के करोड़ों लोगों के दिलों पर राज करते हुये बापू के मोहनदास करमचन्द से राष्ट्रपिता बनने की उनकी यात्रा बेहद दिलचस्प ही नहीं वरन् अचंभित कर देने वाली थी। उनका ईश्वर और प्रार्थना पर अटूट विश्वास था। उनकी व्यक्तिगत मान्यता थी कि प्रार्थना के द्वारा हम अपने जीवन में आने वाली सभी कठिनाईयों का दृढ़तापूर्वक सामना कर सकते हैं क्योंकि सच्ची प्रार्थना कभी व्यर्थ नहीं जाती। हिन्दू, मुसलमान, इसाई सभी की उपासना पद्धति भिन्न होने के बाद वह है तो उसी परम सर्वशक्तिमान में श्रद्धा। मूर्तिपूजा में भी उनका यकीन था लेकिन वह अन्धविश्वास और पाखण्ड के खिलाफ थे। ईश्वर को गाँधी जी सात्विक आनन्द की संज्ञा देते थे क्योंकि उनमें स्वयं सत्य का निवास है। गाँधी जी ने जीवन पर्यन्त सत्य को सर्वोपरि माना। गाँधी जी ने अपनी आत्मकथा में बताया है जब मैं निराश होता हूँ तब मैं याद करता हूँ कि इतिहास सत्य का मार्ग होता है किन्तु प्रेम इसे सदैव जीत लेता है। यहाँ अत्याचारी और हत्यारे भी हुये हैं। वह कुछ समय के लिए अपराजेय लगते थे किन्तु अन्त

में उनका पतन भी होता है। उसका सदैव विचार करें। मरने के लिए मेरे पास बहुत से कारण हैं किन्तु मेरे पास किसी को मारने का कोई भी कारण नहीं है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि महात्मा गाँधी ने राजनीति समाज अर्थ एवं धर्म के क्षेत्र में आदर्श स्थापित किये उसी के अनुरूप लक्ष्य प्राप्ति के लिए स्वयं को समर्पित ही नहीं किया बल्कि देश की जनता को भी प्रेरित किया और आशानुरूप परिणाम भी प्राप्त किये। उनकी जीवन दृष्टि भारत ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करती है। आज गाँधी हमारे बीच नहीं हैं किन्तु एक प्रेरणा और प्रकाश के रूप में लगभग सभी मुद्दों पर उनका मार्गदर्शन निरन्तर हमारे साथ है। जिसका सामना किसी व्यक्ति, समाज या राष्ट्र को करना पड़ता है। इक्कीसवीं सदी में गाँधी की प्रासंगिकता प्रत्येक क्षेत्र में है। उस अहिंसावादी पुरुष के सिद्धान्तों के महत्व को समझकर ही स0रा0 संघ ने 2 अक्टूबर को विश्व अहिंसा दिवस के रूप में मनाने की घोषणा की।

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि विश्व जिस विनाश के ज्वालामुखी पर खड़ा है इससे केवल गाँधी जी ही बचा सकते हैं। उनकी क्षमता से प्रभावित होकर लार्ड माउण्टवेटन ने कहा था ''जो 30 हजार हथियार बन्द सेना नहीं कर सकी थी वह गाँधी जी ने कर दिया। वे अकेले ही पूरी सेना हैं।''

आज गाँधी जी न सरल हैं, न जटिल हैं, आस्थाओं का यह युग पुरुष अपने ही देश में तलाशा जा रहा है। आतंक के साये में जी रहे सभी लोग न सत्य, न प्रेम और न अहिंसा से सरोकार रखते हैं। यही हमारी कमजोरी है, यही हमारी विवशता है। श्रीमन्नरामायण के शब्दों में ''आज के मानव के सभी दुःखों को दूर करने का एक मात्र रामबाण औषधि गाँधीवाद है।''

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

परिषदीय विद्यालय एवं सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध

लालजी राम पाल
शोध छात्र,शिक्षक–शिक्षा संकाय,
नेहरू ग्राम भारती (मानित विश्वविद्यालय) प्रयागराज (उ0प्र0)

सारांश

प्रस्तुत अध्ययन में परिषदीय विद्यालय एवं सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध है जिसके अन्तर्गत परिषदीय विद्यालय एवं सी. बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण के मध्य सम्बन्ध का अध्ययन किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत सहसंबंधात्मक सर्वेक्षण विधि को अपनाया है। प्रस्तुत अध्ययन में प्रयागराज जनपद के परिषदीय विद्यालयों एवं सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में सम्मिलित किया गया है। प्रस्तुत अध्ययन में प्रयागराज जनपद के परिषदीय विद्यालय एवं सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों का चयन यादृच्छिक विधि से किया गया तत्पश्चात् 2 परिषदीय विद्यालयों से 60 विद्यार्थियों (प्रत्येक विद्यालय से 30 विद्यार्थियों) तथा सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों के 2 विद्यालयों से 60 विद्यार्थियों (प्रत्येक विद्यालय से 30 विद्यार्थियों) अर्थात् कक्षा–8 के कुल 120 विद्यार्थियों का चयन यादृच्छिक न्यादर्शन विधि से चयनित किया गया। विद्यार्थियों का शैक्षिक निष्पत्ति मापने के लिए डा0 ए0के0 सिंह, रीडर, मनोविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना एवं डॉ0 (श्रीमती) ए. सेन गुप्ता द्वारा निर्मित General Classroom Achievement Test (GCAJ) का प्रयोग किया गया है। विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण को मापने के लिए प्रो0 के0एस0 मिश्र द्वारा निर्मित 'फैमली इन्वायरमेण्ट इन्वेंटरी' का प्रयोग किया गया है। पारिवारिक वातावरण परिसूचि में कुल 100 प्रश्न है। आंकड़ो के विश्लेषण के लिए सहसंबंध आघूर्ण गुणांक सांख्यिकी विधियों की सहायता से समस्या के उद्देश्य को प्राप्त किया गया।

निष्कर्ष–

अध्ययन के निष्कर्ष में पाया गया कि–

- ❖ परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयाम अंकुश, रक्षारूपेण, दंड, समरूपता, सामाजिक पृथक्तता, पारितोषिक, विशेषाधिकार से वंचित, प्रोत्साहित, अनुशंसा एवं कुल पारिवारिक वातावरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध नहीं है जबकि पारिवारिक वातावरण के मात्र एक आयाम अस्वीकरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध है।
- ❖ सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयाम समरूपता, विशेषाधिकार से वंचित, अनुशंसा एवं कुल पारिवारिक वातावरण का शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध है जबकि अंकुश, रक्षारूपेण, दंड, सामाजिक पृथक्कता, पारितोषिक, प्रोत्साहित एवं अस्वीकरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध नहीं है।

शब्द सूचक– परिषदीय विद्यालय, सी.बी.एस.ई. विद्यालय, विद्यार्थी, शैक्षिक निष्पत्ति, पारिवारिक वातावरण

प्रस्तावना–

पारिवारिक वातावरण विद्यार्थियो के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र पर अत्यधिक प्रभाव डालता है परिवार के प्रेम और सहानुभूति के वातावरण मे दी जाने वाली शिक्षा ही स्वभाविक और स्थायी होती है परिवार का वातावरण बालक के विकास का आधारशिला है जहॉ बालक का सर्वांगीण विकास होता है। बालक का स्कूल माता की गोद से प्रारम्भ हो जाता है। और परिवार मे ही रहकर शिक्षा ग्रहण करता है। जन्म लेने के बाद बालक का सर्व प्रथम अपने माता–पिता से सम्पर्क होता है। माता–पिता का स्नेह बालक के व्यक्तित्व विकास मे सहायक होता है ।यदि माता–पिता अपने को अत्यधिक स्नेह देते है तो बालक के व्यक्तित्व विकास असंतुलित हो सकता है। अत्यधिक स्नेह पाकर बालक मे दूसरो पर निर्भर रहने की प्रवृत्ति आ जाती है। इसके विपरीत यदि बालक को माता–पिता का उपयुक्त स्नेह प्राप्त नही होता है तो वह अन्तर्मुखी स्वभाव का हो जाता है अपराध विज्ञान विशेषज्ञो का कहना है कि स्नेह के अभाव मे भी बालक अपराधी बन जाता है बालक को बाल अपराधी या समाज का उपयोगी सदस्य बनाने मे परिवार का महत्वपूर्ण योगदान होता है परिवार बालक के लिए अत्यन्त आवश्यक है । परिवार के बिना वह अधूरा है। परिवार ही उसे वह सब कुछ सिखाती है। जो कोई और नही सिखा सकता।

पेस्टालाजी के अनुसार, परिवार स्नेह प्यार तथा स्नेह का केन्द्र होता है एवं शिक्षा का सर्वोत्तम स्थान व बालक की प्रथम पाठशाला है ।

भिन्न–भिन्न वातावरण वाले परिवार के बालक के विकास पर भिन्न–भिन्न प्रभाव पडता है। जिस परिवार के सदस्यो मे परस्पर संघर्ष विनाशात्मक आलोचनाए द्वेष और ईर्ष्या की भवनाए आदि पाई जाती है अर्थात जिन परिवारो मे पति–पत्नी भाई–बहन पिता–पुत्र दादा–दादी की दुराचरण मिथ्यावादिता चोरी आदि की आदतें बालक के व्यक्तित्व विकास पर बहुत प्रभाव डालती है। पूर्व अध्ययनों के आधार पर **बॉरबोरा (2001)** ने निष्कर्ष में पाया गया कि साक्षर माता–पिताओं के बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि उच्च रहती है तथा उनकी लड़कियों की शैक्षिक उपलब्धि उनके लड़के से अधिक है। यह तथ्य प्राप्त किया गया कि अशिक्षित माता–पिता अपने व्यस्त कार्यक्रमों के कारण अपने बच्चों की शिक्षा के प्रति जागरुक नहीं हैं। **बोरो बोरो, रूपा दास (2001)** ने निष्कर्ष में पाया कि– लड़कों की तुलना में लड़कियों की शैक्षिक उपलब्धि अच्छी पायी गयी। अभिभावकों की अशिक्षा और असुविधाओं का अभाव निम्न शैक्षिक उपलब्धि का कारण पाया गया। अशिक्षित अभिभावकों के बच्चों की शैक्षिक उपलब्धि निम्न पायी गयी। **मारलेने एवं माया (2004)** ने ***अध्ययन में इंगित किया कि*** किशोर एवं माता–पिता के बीच लगाव की निरन्तरता एवं विश्वास को कायम रखकर सम्बन्धों को स्थायी बनाया जा सकता है। यह सम्बन्ध मानसिक स्वास्थ्य एवं दूसरे शैक्षिक व्यवसायिक ज्ञान जो उनके विकास के लिए जरूरी है, को मजबूत एवं टिकाउ बनाता है। **बसंल, शैली (2006)** ने अध्ययन में प्राप्त हुआ कि घर का स्वस्थ वातावरण उच्च उपलब्धि प्राप्तकर्त्ताओं की उपलब्धि प्रेरणा से सकारात्मक रूप से जुड़ा हुआ है। यह पाया गया कि घर के वातावरण की गुणवत्ता बिगड़ी थी, उपलब्धि प्रेरणा का स्तर भी बिगड़ा हुआ था। आन्तरिक नियंत्रण की स्थिति का घर के वातावरण की गुणवत्ता से महत्त्वपूर्ण सकारात्मक रूप से सहसम्बन्धित था। आन्तरिक नियंत्रण की बाह्य स्थिति उपलब्धि से महत्त्वपूर्ण रूप से सम्बन्धित नहीं थी और आन्तरिक नियंत्रण की स्थिति गुणवत्ता से। **कैटरिना (2015).** ने अध्ययन में इन्होंने इंगित किया कि परिवार को अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण शैक्षिक इकाई के तौर पर माना जाता है और इसमें माँ की भूमिका ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। पिता का व्यवहार अपने लड़के एवं लड़की के लिए एक खास अनुभव का होता है। वह उनके लिए विचारों का स्रोत है। एक अच्छा पिता अपने पुत्री के लिए आदर्श एवं पुत्र के लिए उदाहरण होता है। एक माँ अपने बच्चों के सामाजिक विकास के लिए भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है और परित्याग, उदारता और दयालुता के गुणों से बच्चों के भावी जीवन की पटकथा तैयार करती है।

प्राप्त अध्ययनों के आधार पर ज्ञात होता है कि विद्यार्थियों के शारीरिक, मानसिक, व्यक्तित्व विकास, संवेगात्मक के साथ–साथ उनके क्रिया–कलापों एवं शैक्षिक निष्पत्ति के साथ सकारात्मक सम्बन्ध होते हैं। अतः अध्ययनकर्त्ता वर्तमान शिक्षा व्यवस्था को देखते हुए दो अलग–अलग विद्यालयों के विद्यार्थियों पर उनमें संबंध का देखने का प्रयास किया है।

समस्या कथन–

''परिषदीय विद्यालय एवं सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध का अध्ययन।''

अध्ययन का उद्देश्य–

प्रस्तुत अध्ययन में निम्नलिखित उद्देश्यों का अध्ययन किया गया है–

1. परिषदीय विद्यालय विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध का अध्ययन करना।
2. सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में संबंध का अध्ययन करना।

परिकल्पनाएँ–

1. परिषदीय विद्यालय विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में कोई सार्थक सहसंबंध नहीं है।
2. सी.बी.एस.ई. विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति का उनके पारिवारिक वातावरण में कोई सार्थक सहसंबंध नहीं है।

शोध विधि–

प्रस्तुत अध्ययन में वर्णनात्मक अनुसंधान के अन्तर्गत सहसंबंधात्मक सर्वेक्षण विधि को अपनाया है।

जनसंख्या–

प्रस्तुत अध्ययन में प्रयागराज जनपद के परिषदीय विद्यालयों एवं सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों में अध्ययनरत् विद्यार्थियों को जनसंख्या के रूप में सम्मिलित किया गया है।

न्यादर्श

प्रस्तुत अध्ययनमें प्रयागराज जनपद के परिषदीय विद्यालय एवं सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों का चयन यादृच्छिक विधि से किया गया तत्पश्चात् 2 परिषदीय विद्यालयों से 60 विद्यार्थियों (प्रत्येक विद्यालय से 30 विद्यार्थियों) तथा सी0बी0एस0ई0 विद्यालयों के 2 विद्यालयों से 60 विद्यार्थियों (प्रत्येक विद्यालय से 30 विद्यार्थियों) अर्थात् कक्षा–8 के कुल 120 विद्यार्थियों का चयन यादृच्छिक न्यादर्शन विधि से चयनित किया गया।

प्रयुक्त उपकरण

विद्यार्थियों का शैक्षिक निष्पत्ति मापने के लिए डा0 ए0के0 सिंह, रीडर, मनोविज्ञान विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना एवं डॉ0 (श्रीमती) ए. सेन गुप्ता द्वारा निर्मित General Classroom Achievement Test (GCAJ) का प्रयोग किया गया है। विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण को मापने के लिए प्रो0 के0एस0 मिश्र द्वारा निर्मित 'फैमली इन्वायरमेण्ट इन्वेंटरी' का प्रयोग किया गया है। पारिवारिक वातावरण परिसूचि में कुल 100 प्रश्न है।

सांख्यिकी विधियाँ

आंकड़ो के विश्लेषण के लिए सहसंबंध आघूर्ण गुणांक सांख्यिकी विधियों की सहायता से समस्या के उद्देश्य को प्राप्त किया गया।

आँकड़ों का विश्लेषण एवं व्याख्या–

1. परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध का अध्ययन

सारणी संख्या–1

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध

क्र0सं0	पारिवारिक वातावरण की विमाएँ	सहसंबंध गुणांक r (N=300)
1	अंकुश	-0.178
2	रक्षारूपेण	0.286
3	दंड	0.091
4	समरूपता	-0.016
5	सामाजिक पृथक्कता	0.131
6	पारितोषिक	-0.063
7	विशेषाधिकार से वंचित	-0.040
8	प्रोत्साहित	0.000
9	अस्वीकरण	0.363*
10	अनुशंसा	0.274
11	कुल पारिवारिक वातावरण	0.237

*.05 स्तर पर सार्थक

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अंकुश एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.–0.178 जो . 05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अंकुश एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के रक्षारूपेण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.286 जो . 05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के रक्षारूपेण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के दंड एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.091 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के दंड एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के समरूपता एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक –0.016 जो .05 (5 प्रतिशत) पर सार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के समरूपता एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के सामाजिक पृथक्कता एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.131 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के सामाजिक पृथक्कता एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारितोषिक एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक –0.063 जो .05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारितोषिक एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के विशेषाधिकार से वंचित एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक –0.040 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के विशेषाधिकार से वंचित एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के प्रोत्साहित एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.000 जो . 05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के प्रोत्साहित एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अस्वीकरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.363 जो .05 (5 प्रतिशत) पर सार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अस्वीकरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशंसा एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.274 जो . 05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशंसा एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.237 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

2. सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध का अध्ययन

सारणी संख्या–2

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध

क्र0सं0	पारिवारिक वातावरण की विमाएँ	सहसंबंध गुणांक r (N=300)
1	अंकुश	0.325
2	रक्षारूपेण	0.019
3	दंड	0.242
4	समरूपता	0.417*
5	सामाजिक पृथक्कता	0.241
6	पारितोषिक	0.063
7	विशेषाधिकार से वंचित	0.400*
8	प्रोत्साहित	0.329
9	अस्वीकरण	0.320
10	अनुशंसा	0.367*
11	कुल पारिवारिक वातावरण	0.735*

*.05 स्तर पर सार्थक

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अंकुश एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.325 जो . 05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अंकुश एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के रक्षारूपेण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.019 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के रक्षारूपेण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के दंड एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.242 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के दंड एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के समरूपता एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.417 जो .05 स्तर पर सार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के समरूपता एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के सामाजिक पृथक्कता एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.241 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के सामाजिक पृथक्कता एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारितोषिक एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.063 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारितोषिक एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के विशेषाधिकार से वंचित एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.400 जो .05 (5 प्रतिशत) पर सार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के विशेषाधिकार से वंचित एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के प्रोत्साहित एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.329 जो .05 स्तर पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के प्रोत्साहित एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अस्वीकरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.320 जो .05 (5 प्रतिशत) पर असार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अस्वीकरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित नहीं है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशंसा एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.367 जो .05 (5 प्रतिशत) पर सार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के अनुशंसा एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध गुणांक 0.737 जो .05 (5 प्रतिशत) पर सार्थक है। परिणामतः सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण एवं शैक्षिक निष्पत्ति आपस में सम्बन्धित है।

निष्कर्ष–

अध्ययनोपरान्त निम्नलिखित निष्कर्ष प्राप्त हुये–

- परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयाम अंकुश, रक्षारूपेण, दंड, समरूपता, सामाजिक पृथक्तता, पारितोषिक, विशेषाधिकार से वंचित, प्रोत्साहित, अनुशंसा एवं कुल पारिवारिक वातावरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध नहीं है जबकि पारिवारिक वातावरण के मात्र एक आयाम अस्वीकरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध है।
- सी.बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयाम समरूपता, विशेषाधिकार से वंचित, अनुशंसा एवं कुल पारिवारिक वातावरण का शैक्षिक निष्पत्ति में संबंध है जबकि अंकुश, रक्षारूपेण, दंड, सामाजिक पृथक्कता, पारितोषिक, प्रोत्साहित एवं अस्वीकरण का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध नहीं है।

सुझाव–

परिषदीय विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयाम का उनके शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध न पाया जाना इस बात को इंगित करता है कि उनके शैक्षिक कार्यों में अभिभावकों की सहयोगिता, प्रेरणा एवं विद्यार्थियों की आवश्यकता पर विशेष ध्यान न दिया जाना हो सकता है वहीं सी. बी.एस.ई. विद्यालयों के विद्यार्थियों के पारिवारिक वातावरण के आयामों का विद्यार्थियों के शैक्षिक निष्पत्ति में सम्बन्ध पाया जाना इस बात को इंगित करता है कि सामाजिक–आर्थिक स्तर से सम्पन्न व्यक्ति अपने बच्चों को अच्छी से अच्छी शिक्षा दिलाने हेतु उनकी आवश्यकताओं के साथ–साथ उनके शैक्षिक कार्यों में विशेष ध्यान देता है तथा घर–परिवार में बच्चों की शिक्षा के साथ–साथ उनमें समानता एवं दूसरों के सामने अपने बच्चों की अनुशंसा करता है वहीं बच्चों के ऐसे कार्यों को करने से रोकता है जिससे उनके विद्यालय में दिये गये गृह कार्य, प्रोजेक्ट कार्य या ट्यूशन अवरूद्ध हो।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची:

- क्रो, एल. डी. एण्ड क्रो, ए. (1956). एडोलसेन्ट डेवलपमेंट एण्ड एडजेस्ममेन्ट स्टेट्स : मैकग्रॉ हिल।
- कैटरिना (2015). फादरर्स एण्ड मदर्स रोल्स एण्ड देयर पार्टिकुलरटिईस इन राइसिंग चिल्ड्रेन, एक्टा टेक्नोलॉजिका डुबनिसी, वाल्यूम–5, इश्शू–1, पृ0 45–50
- गुप्ता, कृष्ण कुमार (2006), उच्च एवं निम्न सामाजिक–आर्थिक स्तरों का छात्र–छात्राओं की शैक्षिक उपलब्धि, समायोजन एवं सृजनशीलता पर प्रभाव का एक तुलनात्मक अध्ययन, पी0एच–डी0, डॉ0 राम मनोहर लोहिया, अवध विश्वविद्यालय, फैजाबाद।
- गुप्ता, रत्ना (2011) ने उच्च और निम्न शैक्षणिक उपलब्धि की किशोरियों के समायोजन एवं व्यक्तित्व का तुलनात्मक अध्ययन (जनपद सन्त रविदासनगर, भदोही के विशेष सन्दर्भ में), शोध प्रबन्ध (गृह विज्ञान), वीर बहादुर सिंह पूर्वान्चल विश्वविद्यालय, जौनपुर,
- डी0 रूपा बारवोरा (2001) – जर्नल ऑफ इण्डियन एजूकेशन, XVVII(1), पेज 59–65।
- बोरो–बोरो, रूपदास (2001). *इनफ्लूएन्स ऑफ पैरेन्टस लिटरेसी ऑन द एकेडमिक एचिवमेन्ट ऑफ चिल्ड्रेन बिलांगिंग टू द बैकवर्ड क्लासेज'',* एजूकेशन रिसर्च वाल्यूम II (1993– 2000)।
- मारलेने एवं माया (2004). एडोल्वसेन्ट–पैरेन्ट अटैचमेन्ट : बॉण्ड्स दैड सर्पोट हेल्थी डेवेलपमेन्ट. पेडियाट चाइल्ड हेल्थ, वाल्यूम–9, नं0 8, पृ0 551–555

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

मुक्तिबोध की कविताओं में सर्वहारा वर्ग की अभिव्यक्ति

नमित कुमार सिंह
शोध छात्र
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
प्रयागराज

हिन्दी साहित्य जगत में मुक्तिबोध सर्वाधिक चर्चित और विलक्षण प्रतिभा के धनी कवि हैं। उन्होंने अपनी सृजन शक्ति के आधार पर आधुनिक साहित्य जगत में अपना एक विशिष्ट स्थान बनाया है। वह एक प्रखर बुद्धि सम्पन्न साहित्यकार थे। उनकी छवि एक प्रगतिशील और संघर्षशील संश्लिष्ट कवि के रूप में अधिक प्रचलित रही है। मुक्तिबोध को प्रगतिशील कविता और नयी कविता के बीच का एक सेतु भी माना जाता है। इनकी कविताएं चिन्तन और शिल्प की दृष्टि से हिन्दी साहित्य जगत की अमूल्य धरोहर हैं, यह बात उनके साहित्य के सूक्ष्म अध्ययन व अनुशीलन से सर्वदा सत्य साबित होती है। मुक्तिबोध का सारा जीवन संघर्ष में बीता है। यही संधर्ष उनके साहित्य में गहराई से दृष्टिगोचर होता है। मुक्तिबोध के जीवन का यह संघर्ष किसी भी व्यक्ति के संवेदनशील मन में सिहरन उत्पन्न कर सकता है। यही वजह है मुक्तिबोध की कविताओं में समाज के भिन्न–भिन्न स्तरों के लोगों की जिंदगी की अभिव्यक्ति है।

समाज में अनेक समस्याएँ व्याप्त थी। इन समस्याओं में जातिभेद, वर्णव्यवस्था, नारी की शिक्षा व स्वतंत्रता, अछूत, शासक वर्गीय शोषण आदि थी। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद औद्योगिक यन्त्रीकरण ने अनेक सामाजिक समस्याओं का उन्मूलन किया, यह समस्याएं पहले शहर में होती हैं फिर गाँवों में धीरे–धीरे अपने पैर पसारती हैं। स्वतंत्रता के पश्चात देश में पूँजीवाद का तीव्रता से विकास हुआ। पूँजीवाद के विकास के कारण साधारण जन की दिक्कतें बढ़ती चली गई। साधारण जन की यही दिक्कतें उनको अन्दर तक झकझोर कर रख देती हैं। पूँजीवादी शक्तियों का वह पुरजोर विरोध करते हुए, क्रान्ति के द्वारा इनका नाश करना चाहते हैं। कवि का मानना है, क्रान्ति अकेले नहीं सम्पन्न हो सकती है। इसके लिए सर्वहारा, मेहनतकश, आमजन के अपार जन–समूह की आवश्यकता होगी। यह जो सर्वहारा वर्ग है वह विश्व में लगभग एक जैसी जीवन–स्थिति में गुजर–बसर करने को विवश है। मुक्तिबोध ने साधारण जनता का दुश्मन एवं शोषणकर्ता के रूप में पूँजीवादी, पूँजीवाद साम्राज्यवाद एवं नव उपनिवेशवाद को माना है।

सर्वहारा वर्ग मजदूरी कर जीवन यापन करने वाला जन समुदाय है। इसके पास अपना कोई निजी उत्पादन का साधन नहीं होता है। कम्युनिष्ट पार्टी के घोषणा पत्र में सर्वहारा वर्ग के सम्बन्ध में कहा गया है कि ''सर्वहारा अथवा सर्वहारा वर्ग, उन्नीसवीं शताब्दी का श्रमजीवी वर्ग है।''[1] पूँजीवादी समाज में सर्वहारा वर्ग शोषण का शिकार है। इस पूँजीवादी समाज में व्यक्ति स्वातंत्र्य अगर किसी को है तो वह धनिक वर्ग को है। क्योंकि धनिक वर्ग दूसरों की स्वतंत्रता खरीदकर अपनी स्वतंत्रता बढ़ाता है। ''व्यक्ति को खरीदने और बेचने की, खरीदे जाने और बेचे जाने की, दूसरों की स्वतंत्रता को खरीदने की या अपनी स्वतंत्रता बेचने की आज़ादी की मजबूरी है।''[2]

मुक्तिबोध ने पूँजीवादी सत्ता का पुरजोर विरोध किया है, क्योंकि यह वर्ग सर्वहारा वर्ग की जिंदगी को खरीदता है, जो जनतांत्रिक व्यवस्था का हनन है। इनका मानना है– ''जो व्यक्ति स्वातंत्र्य, समाजवाद और जनतंत्र के समन्वय में बाधक हो, या इन दोनों में से किसी एक कार्य उत्सर्ग करने के लिए उत्सुक हो, उस व्यक्ति स्वातंत्र्य का पूरा समाज सार्वजनिक रूप से निंदित और तिरस्कृत करें।''[3]

मुक्तिबोध आम जनता के हिमायती कवि हैं, उन्होंने सर्वहारा वर्ग को प्रेरित करते हुए पूँजीपति तथा शोषक लोगों के विरोध में क्रान्ति चेतना को वाणी दी है। मुक्तिबोध की कविताओं में शोषित वर्ग की संघर्ष प्रियता और क्रान्ति प्रियता अभिव्यक्त हुई है। शोषक वर्ग, सर्वहारा वर्ग को पीड़ित करता है, रात–दिन श्रम करने के बाद भी उसको खाने के लिए भर पेट नहीं मिलता है और न ही पहनने को कपड़ा। सर्वहारा वर्ग को धीरे–धीरे सभी परिस्थितियों का पता चलता है, इन सबका कारण एक मात्र शोषक पूँजीपति हैं और वही उसका सामाजिक शत्रु है। इसी वजह से मुक्तिबोध का झुकाव मार्क्सवाद की तरफ हुआ। इसी झुकाव के कारण ही समाज के दलित, पीड़ित, उत्पीड़ित और शोषण के शिकार हुए सर्वहारा वर्ग के जीवन की समस्याओं से रू–ब–रू होने की ताकत उनकी कविताओं में देखी जा सकती है और इसके साथ ही उनकी कविताओं में पूँजीवाद के शोषण तंत्र के प्रतिरोध की ऊर्जा मिली जिसको वह कुछ यूँ प्रकट करते हैं– ''हमें था चाहिए कुछ और/जिससे खून में बहे किरणें रवि की/कि उससे दिल/अनूठा भव्य अपराजेय टीला हो/कि जिससे वक्ष/हो सिद्धांत–सा मजबूत/भीतर भाव गीला हो।''[4]

मुक्तिबोध समाज सापेक्ष चिंतन के कायल हैं, यही वजह है कि वह अकेले मुक्ति की संभावना नहीं देखते हैं– ''याद रखो/कभी अकेले में मुक्ति न मिलती/यदि वह है तो सबके साथ है।''[5] सर्वहारा वर्ग को पूँजीवाद पर विजय पाने के लिए सभी की साझेदारी और सक्रिय योगदान मुक्तिबोध चाहते हैं, इसी वजह से उन्होंने सबको एकजुट होने की कामना उक्त पंक्तियों में की है।

मुक्तिबोध ने आधुनिक युग की सभी अमानवीय और शोषण के बीच से व्यवस्था को बदलने की आस्था प्रकट की है। उनका मानना था कि सर्वहारा वर्ग की असहनीय पीड़ा की क्रान्ति का मूल आधार है। यही वजह है कि मुक्तिबोध ने श्रमिक तथा सर्वहारा वर्ग को लड़ने के लिए चेतना के माध्यम से तैयार किया है। कवि का कहना है कि, शोषक लोगों की तिलिस्मी सत्ताएँ, जो आम जनता को शोषण के चपेट में लेती हैं, उसे श्रमिक और कष्टजीवियों के प्रतिनिधि को नष्ट करना चाहिए। मुक्तिबोध ने कहा है7 ''कर मुक्त श्वान स्यारों के तन चमगादड़ तन/में अब तक जो मानव बन्दी/तोड़ दे द्वार सौं रूद्ध किये/जो खड़ी शिलाएँ अन्धी/शोषक की आवश्कयताएँ/दे तोड़ तिलिस्मी सत्ताएँ/हे कष्टजीवियों के प्रतिनिधि/नष्ट कर लोक–शशि–ग्रास मग्र/सौ राहु केतु।''[6]

मुक्तिबोध ने दिखाया है कि पूँजीवाद का पर्याप्त विकास हो जाने के कारण और मजदूर तथा समाज के निम्न वर्ग के ऊपर हो रहे अन्याय के कारण ही वर्ग संघर्ष आन्दोलन के रूप में विकसित होता है। मुक्तिबोध की अधिकांश लम्बी कविताओं में इस वर्ग–संघर्ष को चित्रित किया गया है। मुक्तिबोध ने पूँजीपति लोगों की सेना का चित्रण किया है। पूँजीपति शोषक के रूप में लगातार शोषण करते हैं। वे अपनी सेना से सर्वहारा वर्ग, निम्नवर्ग का दमन करते हैं। उनको गोली से दागने के लिए कहते हैं, जिसके भय से सर्वहारा वर्ग के लोग, शोषित वर्ग उनकी क्रूर आँखों से छिपकर चलते हैं– ''मारो गोली, दागों स्याले को एकदम/दुनिया की नजरों से हटकर छुपे तरीके से/हम जा रहे थे कि/आधी रात अँधेरे में उसने/देख लिया हमको/व जान गया वह सब/मार डालो, उसको खत्म खरो एकदम।''[7]

सर्वहारा वर्ग का शोषण जीवन के सभी क्षेत्रों में हमेशा होता रहा है। शोषित वर्ग के पास जीवन–यापन के लिए लगने वाली हर चीज का अभाव होता है, लेकिन ऐसी परिस्थितियों में भी वह चन्द दिनों तक भूखा पेट जीता है, एक के बाद एक दिन निकालकर क्रमशः वह मृत्यु के दाह में चला जाता है। वह इस अभाव के कारणों को मिटाने के लिए अपने जीवन के अन्त तक भरसक संघर्ष करता रहा है, उसके लिए अपमान सहता है। भयंकर चिन्ता का यथार्थ का पहाड़ देखने पर भी वह संघर्ष करता है– ''आज के अभाव के व कल के उपवास के/व परसों की मृत्यु के...../दैत्य के महा–अपमान के, व क्षोभपूर्ण/भयंकर चिन्ता के उस पागल यथार्थ का/दीखता पहाड़.../स्याह।''[8] मुक्तिबोध का साहित्य सर्वहारा वर्ग और मध्यवर्ग की ओर ही झुका रहा। इसी वजह से वह भी अपने जीवन में उन्नति की राहों में नहीं चल पाये। इसी को ध्यान में रखते हुए, अशोक चक्रधर कहते हैं– ''मुक्तिबोध अपनी पूरी जनवादी समझ के बावजूद एक ऐसे समाज के अंग थे जिसमें पूर्ण बुर्जुआ विकास की संभावनाएँ अवरूद्ध होकर जनवादी विकास की संभावनाओं में परिणत होने लगी थी।''[9]

मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में पोस्टर के माध्यम से सर्वहारा वर्ग की जिन्दगी को हौसला देने की कोशिश की है, वह पोस्टरों को रात के अंधेरे में सर्वहारा वर्ग द्वारा लगवाकर क्रान्ति लाना चाहते थे। उनका मानना था कि ये अदना से हड़ताली पोस्टर अपने कंधों पर टूटते आसमान को थामने का हौसला रखते हैं। इन पोस्टरों में ही मानवता की रक्षा करने का दायित्वबोध है। तभी तो वह कहते हैं– ''आदमी की दर्द भरी गहरी पुकार सुन/पड़ता है दौड़ जो/आदमी है वह खूब/जैसे तुम भी आदमी/वैसे मैं भी आदमी/बूढ़ी माँ के झुर्रीदार/चेहरे पर छाए हुए/आँखों में डूबे हुए/ज़िंदगी के तजुर्वात/बोलते हैं एक साथ/जैसे तुम भी आदमी/वैसे मैं भी आदमी/चिल्लाते हैं पोस्टर।''[10]

मुक्तिबोध की कविताओं में चाँदनी शब्द का प्रयोग कई बार आया है। पूँजीवादी मनोवृत्ति के प्रतीक के रूप में चाँदनी का चरित्र अपने पूर्ण विश्लेषण के साथ प्रस्तुत हुआ है। कुछ आलोचक इस चाँदनी को आधुनिकता का पर्याय मानते हैं। ''लेकिन चाँदनी को आधुनिकता कहने से बात नहीं बनती। आधुनिकता तो सर्वहारा वर्ग के सपनों में भी हैं। चाँदनी को निश्चित रूप से पतनशील पूँजीवादी सभ्यता कहने में भी कोई संकोच नहीं होना चाहिए।''[11]

मुक्तिबोध ने दिखाया है कि सर्वहारा वर्ग पूँजीवादी समाज की व्यवस्था में बहुत ही गहराई से दमित और शमित है। सर्वहारा वर्ग के लोगों को अपनी आवाज को भी मुँह से बाहर निकालने की भी स्वतंत्रता नहीं होती। जिसकी वजह से वह खुलकर जी भी नहीं पाते हैं। सर्वहारा वर्ग के लोग पूँजीपतियों के शोषण के दबाव से इतना दबे हुए होते हैं, कि उन्हें चीख निकालना भी नहीं आता। समाज में फैला हुआ पूँजीपति वर्ग पहाड़ियों के रूप जैसा है, जिसके नीचे दब जाने वाला सर्वहारा वर्ग सिर्फ अपनी टूटी पसलियों का मात्र अनुभव करता रहता है। पूँजीवादियों का सर्वहारा वर्ग के ऊपर कितना आतंक हो सकता है, इसका चित्रण कवि इस प्रकार करता है– ''हम एक ढहे हुए मकान के नीचे दबे हैं/चीख निकलना भी मुश्किल है/असम्भव..../हिलना भी/भयानक है बड़े–बड़े ढ़ेरों की/पहाड़ियों–नीचे दबे रहना और/महसूस करते जाना/पसली की टूट हुई हड्डी।''[12]

सर्वहारा वर्ग का जीवन कठिन श्रम के फल के रूप में प्राप्त मजदूरी पर अवलम्बित होता है, क्योंकि उसके जीवन–यापन के अन्य रास्ते बन्द हो गये होते हैं। ऐसी हालत में इनको अपने मालिकों के इशारों पर ही चलना होता है, और इनका जीवन भी इसी पर टिका होता है। यहीं से इनके जीवन में शोषण का चक्र प्रारम्भ हो जाता है। लेकिन जब श्रम का स्वरूप समाजवादी होता है तब श्रम उत्पादन से सर्वत्र खुशहाली आ जाती है। मुक्तिबोध कहते हैं– ''टूटी हुई हाथ की हड्डी/मोच पाँव की/मोच शहर की, मोच गाँव की/जब श्रम की सुगन्ध उठती है/तभी महकती हैं आत्माएँ/मुक्ति, खोल निज द्वार/देखती हैं सब ओर।''[13]

मुक्तिबोध को सर्वहारा–मेहनतकशों की क्रान्तिकारी शक्ति में पूर्ण विश्वास है। सर्वहारा वर्ग ही समाज का विकासमान भाग है। यह सत्य का प्रतिरूप भी है। पूँजीपति कड़ी मेहनत का उचित पारिश्रमिक नहीं देता है एवं इनका जीवन भी जोखिम से भरा होता है। सर्वहारा श्रमिक जन समुदाय कठोर श्रम व अभाव की जिन्दगी गुजारता है। आर्थिक शोषण की चरमावस्था में वह अपना क्रान्तिकारी रूप लेकर उपस्थित होता है जो पूँजीवाद का तख्ता पलट देता और अपना राज्य स्थापित कर लेता है। मुक्तिबोध ने इन सर्वहारा–मेहनतकशों की क्रान्तिकारी शक्ति एवं समाज परिवर्तन की क्रान्तिकारी शक्ति एवं समाज परिवर्तन की क्रान्तिकारी ऊर्जा का विस्तार से विवेचन भी किया है अपनी कविताओं में। इनकी कविताओं से ही सर्वहारा वर्ग की शक्ति पर विश्वास पड़ना शुरू हो गया था। वह कहते हैं– ''सभी उरों के अन्धकार में/एक तड़ित वेदना उठेगी/तभी सृजन की बीज–वृद्धि हित/जड़ावरण की नहीं फटेगी।''[14] मुक्तिबोध समाज के श्रमिकों, मजदूरों और साधारण जनों को शोषण मुक्त समाज की स्थापना हेतु क्रान्ति के पथ पर आगे बढ़ाना चाहता है।

सर्वहारा वर्ग की क्रान्ति समर्थक बुद्धजीवियों की उपादेयता से कवि इनकार नहीं करता है बल्कि अपनी तरफ से उनके लिए सहानुभूति प्रकट करता है। क्रान्तिकारी बुद्धिजीवी वर्ग की मेहनत से साधारण जनों में मुक्ति के विचार उपजते हैं। मुक्तिबोध में जो वेदना, बेचैनी का स्वरूप है, वह व्यक्तिवादी होते हुए भी जनवादी है। कहीं–कहीं यह श्रम की स्थिति में भी उत्पन्न हो जाती है, लेकिन जनवाद एवं व्यक्तिवाद दो बाते हैं। इनमें कोई सामंजस्य व समरूपता के तत्त्व नहीं हैं। मुक्तिबोध सर्वहारा–मेहनतकशों की पंक्ति में स्वयं को स्वीकार करते हैं। ऐसी दशा में सर्वहारा के प्रति कहे गये विचारों में स्वयं के प्रति शंका नहीं करनी चाहिए। इनकी कविताओं में व्यक्त विचार सर्वहाराजनों में पूरी तरह से विलीन हो जाते हैं। वेदना क्रान्ति के पथ पर बढ़ने लगती है– ''पाताल में प्राणों के, दुखती हुई यादों से/तड़पते अनुभव भभक उठते अकस्मात्/अपनी आत्मा की वह घावों भरी आवाज/उठती है दहाड़ और एकाएं/वेदना की सनसनी में गुँथी हुई/सत्य की ज्वाला सी/वह मानव की पुकार।''[15]

मुक्तिबोध सर्वहारा वर्ग की गलियों का चित्रण भी प्रस्तुत करते हैं। सर्वहारा वर्ग की गली कीचड़ में समा गयी है, क्योंकि वहाँ पर गन्दी नाली बह रही है। दिन होते हुए भी वहाँ अन्धकार छाया रहता है। गन्दा पानी वहाँ पर जम जाने के कारण मरे हुए चूहे की सी बदबू आती है। वहाँ पर मानवात्माएँ कैसे रहती होंगी? ऐसे कलुषित वातावरण में सर्वहारा वर्ग राहत की साँस कैसे ले सकता है। मुक्तिबोध अपने आपसे ही प्रश्न करते हैं– ''कीचड़ सनी गली के श्यामल ओझल कोने/मरे हुए चूहे की बास, पुरानी घिन सी/रहती यहाँ मानवात्माएँ कैसी? किन सी?।''[16]

इस प्रकार हम देखते हैं मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं के माध्यम से सर्वहारा वर्ग की प्रतिष्ठा को अभिव्यक्ति दी है। सर्वहारा वर्ग पर हो रहे सभी प्रकार के अत्याचारों को देख कर वह दुःखी होते हें। उनके समस्त काव्य में सर्वहारा वर्ग की मुक्ति की कामना है। मुक्तिबोध ने सर्वहारा वर्ग का चित्रण यथार्थ के धरातल पर किया है। ऐसा लगता है कि कोई सर्वहारा ही अपनी व्यथा–कथा कह रहा हो। उनके मन में विश्वास भी दिखाई देता है कि सर्वहारा वर्ग संगठित होगा, उनमें क्रान्ति की शक्ति जन्म लेगी, संसार में परिवर्तन होगा, और सर्वहारा शोषित वर्ग नयी आशाओं, और विश्वास के साथ खुली हवा में साँस लेगा। इस तरह से मुक्तिबोध के काव्य में सर्वहारा वर्ग के जीवन को यथार्थ रूप में अभिव्यक्ति मिलती है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :–

1. मार्क्स एंगेल्स : कम्युनिस्ट पार्टी का घोषणा पत्र : हिन्दी संस्करण प्रगति प्रकाशन मास्को, पृ0 83
2. नेमिचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली भाग–3, राजकमल प्रकाशन, संस्करण, 1986, पृ0 221
3. वही, पृ0 254
4. नेमिचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली भाग–2, राजकमल प्रकाशन, सं0 1986, पृ0 32
5. वही, पृ0 419
6. वही, पृ0 326
7. वही, पृ0 330
8. नेमिचन्द्र जैन : मुक्तिबोध रचनावली भाग–1, राजकमल प्रकाशन, सं0 1986, पृ0 237–238
9. अशोक चक्रधर : मुक्तिबोध की कविताई, राधाकृष्ण प्रकाशन, सं0–1998, पृ0 15
10. मुक्तिबोध रचनावली भाग–2, पृ0 285–284
11. मुक्तिबोध की कविताई, पृ0 39
12. मुक्तिबोध रचनावली भाग–2, पृ0 134
13. मुक्तिबोध रचनावली भाग–1 पृ0 297
14. मुक्तिबोध रचनावली भाग–1, पृ0 118
15. मुक्तिबोध रचनावली भाग–1, पृ0 318–319
16. मुक्तिबोध रचनावली, भाग–1, पृ0 207

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

शिवमूर्ति के उपन्यास में साम्प्रदायिकता का स्वरूप : त्रिशूल

डॉ0 अश्विनी कुमार
81, पंचवटी विनायकपुर,
कानपुर नगर–208025

साम्प्रदायिकता वर्तमान समय की सर्वाधिक संवेदनशील, जटिल और ज्वलंत समस्या के रूप में उभर कर सामने आई है। साम्प्रदायिकता केवल भारत देश के समाज और संस्कृति के लिए गंभीर समस्या नहीं है, बल्कि आज सम्पूर्ण विश्व इसके विष में डूबा हुआ है। साम्प्रदायिकता का यह विष भारत को देश की आजादी के समय भारत–पाक विभाजन के रूप में सौगात में मिली है। 15 अगस्त 1947 को भारत–पाक विभाजन के समय देश में चारों–ओर साम्प्रदायिकता की आग फैल गई। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात और तीव्र रूप में यह लगातार बढ़ती ही जा रही है। साम्प्रदायिकता एक संकीर्ण मानसिकता है जो विभिन्न धर्मों के अनुयायियों को परस्पर घृणा, द्वेष, संदेह, उपेक्षा आदि भाव रखने की ओर प्रेरित करती है। साम्प्रदायिकता को फैलाने के लिए प्रायः धर्म का सहारा लिया जाता है।

यह धर्म ही है जो हिंसा को भड़काने का काम करता है। भारत बहुधर्मी देश है, यहाँ अधिकांश लोग किसी न किसी धर्म में गहरी आस्था रखते हैं। जिस वजह से धर्म को आसानी से हिंसा का औजार बनाया जाता है। भारत में साम्प्रदायिकता कभी हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच, कभी हिन्दुओं और सिक्खों के बीच या कभी हिन्दुओं और ईसाइयों के बीच होने वाली हिंसक घटनाओं के रूप में देखा जा सकता है। इन्हीं सब हिंसक घटनाओं के कारण अल्पसंख्यक समुदाय का अस्तित्व प्रभावित होता है। भारत देश में अल्पसंख्यक दृष्टि से मुसलमान, सिक्ख, ईसाई, जैन, बौद्ध, हिन्दुओं की संख्या में अल्प हैं। अल्पसंख्यक की दृष्टि से भारत देश में मुसलमान समाज को साम्प्रदायिकता का प्रकोप सबसे ज्यादा उठाना पड़ रहा है।

साम्प्रदायिकता का प्रभाव जब भी बढ़ता है, तब वह शिक्षा, इतिहास, धर्म, भाषा, संस्कृति आदि सभी को प्रभावित करती है। यही वजह है कि इसको मात्र सामाजिक और राजनीतिक संदर्भों में ही नहीं समझना चाहिए, बल्कि इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को भी समझना चाहिए। साम्प्रदायिकता देश की एकता और अखण्डता के लिए चुनौती ही नहीं, बल्कि समूचे राष्ट्र के अस्तित्व के सामने एक प्रश्न चिन्ह लगा देती है। साम्प्रदायिकता ने मानवीय सम्बन्धों, मानवीय मूल्यों की जड़ों को हिला कर रख दिया है। गीतेश शर्मा का मानना है कि– ''साम्प्रदायिकता राष्ट्रीय एकता और अखण्डता के लिए चुनौती नहीं है, बल्कि वह मानवीय मूल्यों एवं संवेदनशीलता के लिए भी एक चुनौती है। साम्प्रदायिक आवेश में इंसान अपनी इंसानी पहचान खो बैठता है। दंगों के दौरान यह बात हमेशा सामने आती है।''[1]

बिपिन चन्द्र ने साम्प्रदायिकता को उपनिवेशवाद का दुष्परिणाम माना है। वह लिखते हैं– ''साम्प्रदायिकता मूलतः उपनिवेशवाद के दुष्परिणामों में से एक है। यह भारतीय अर्थव्यवस्था के

फलस्वरूप अवरूद्ध विकास का परिणाम है। इसके साथ ही साम्प्रदायिकता, हाल के वर्षों के दौरान अर्थव्यवस्था और समाज को विकसित कर पाने में पूँजीवाद की अक्षमता और असफलता का भी प्रतिफल है। उपनिवेशवाद ने एक सामाजिक संरचना प्रदान की जिसने साम्प्रदायिकता को उत्पन्न किया और जिसके भीतर साम्प्रदायिकता की विचारधारा पनप सकी।''[2]

साम्प्रदायिकता के स्वरूप को विभिन्न विद्वानों ने निम्न प्रकार से परिभाषित करने का प्रयास किया है– विसेंट स्मिथ का कहना है– ''एक साम्प्रदायिक व्यक्ति या व्यक्ति समूह वह है, जो प्रत्येक धार्मिक अथवा भाषायी समूह को एक ऐसी पृथक सामाजिक तथा राजनैतिक इकाई मानता है, जिसके हित अन्य समूहों से पृथक होते हैं, और उनके विरोधी भी हो सकते हैं। ऐसे ही व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह की विचारधारा को 'सम्प्रदायवाद' या 'साम्प्रदायिकता' कहा जायेगा।''[3]

अभय कुमार दुबे साम्प्रदायिकता के अर्थ को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं– ''साम्प्रदायिकता का धर्म से केवल इतना ही ताल्लुक है कि वह धार्मिक भावनाओं का राजनीतिक मकसद से दोहन करती है, एक धर्म के अनुयायियों की गोलबंदी करने के लिए वह दूसरे किसी धर्म के प्रति घृणा का प्रचार करती है, इस तरह धर्म के नाम पर कुछ अपने और कुछ पराये घोषित कर दिये जाते हैं।''[4]

प्रसिद्ध आलोचक मधुरेश के शब्दों में, ''साम्प्रदायिकता, साम्राज्यवाद की कोख से जन्मी उसकी अवैध सन्तान है, जिसका एकमात्र उद्देश्य साम्राज्यवाद के हितों को पोषित करके जनतंत्र और स्वाधीनता की चेतना एवं संघर्ष को बंद करना होता है।''[5]

असगर वजाहत साम्प्रदायिकता के अर्थ को स्पष्ट करते हुये कहते हैं– ''किसी समुदाय विशेष में दूसरे समुदाय विशेष के लिए धार्मिक विश्वासों या इत्तर कारणों से घृणा, द्वेष, तथा हिंसा की भावना का प्रदर्शन साम्प्रदायिकता कही जाएगी।''[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं के अवलोकन के पश्चात यह स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि साम्प्रदायिकता धर्म विशेष के अनुयायियों की इस संकीर्ण मानसिकता को दर्शती है जिसमें अपने धर्म या सम्प्रदाय को सर्वश्रेष्ठ समझा जाता है और अन्य को पूर्वाग्रहों के कारण हेय दृष्टि से देखा जाता है। इसके साथ–ही–साथ दूसरे धर्म और सम्प्रदाय के प्रति विद्रोह की भावना भी प्रदर्शित की जाती है। समाज में इसी दृष्टि के कारण जीवन के अन्य सभी पक्षों को छोड़कर मात्र धर्म को आधार मानकर सभी क्षेत्रों का निर्धारण किया जाता है, जिस कारण से समाज में बिखराव उत्पन्न होता है, और देश को अत्यधिक आघात पहुँचता है। यही वजह है कि भारत की धर्मप्राण जनता को धर्म के नाम पर जितनी आसानी से आन्दोलित किया जा सकता है, शायद अन्य किसी आधार पर नहीं। धर्म और राजनीति को अलग रखने की बात तो बहुत की जाती है, पर धर्म का राजनीतिकरण बड़ी तीव्र गति से हो रहा है। धर्म के नाम पर सामान्य जनता के विश्वास और बुजदिली का लाभ उठाने वाले पण्डित मुल्ला–मौलवी आदि सभी अपनी स्वार्थ–सिद्धि के लिए धर्म के घेरे को संकुचित करना शुरू कर देते हैं और धर्म संकुचित होते–होते सम्प्रदाय में परिणत हो जाता है।

साम्प्रदायिकता के प्रभाव से हिन्दी कथा साहित्य बेहद ही चिन्तित रहा है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात से ही हिन्दी कथा साहित्य साम्प्रदायिक दंगों एवं धार्मिक असहिष्णुताओं को चित्रित करता रहा है। देश के विभाजन के समय हुए साम्प्रदायिक दंगों की छाया उपन्यासकारों के मस्तिष्क पर लम्बे समय

तक मडराती रही, जिसकी अभिव्यक्ति अनेक उपन्यासों में हुई है। देवेन्द्र सत्यार्थी ने अपने उपन्यास 'कठपुतली' (1954) में सबसे पहले साम्प्रदायिक दंगों का बड़ा ही प्रामाणिक और संवेदना पूर्ण चित्रण प्रस्तुत किया है। इसके पश्चात तो यह सिलसिला लगातार बढ़ता ही गया। यशपाल ने 'झूठा–सच' (1958) में साम्प्रदायिकता की त्रासदी का सजीव और मार्मिक चित्रण किया है। राही मासूम रज़ा ने 'आधा–गाँव' (1966), भीष्म साहनी ने 'तमस' (1973) उपन्यास में वह अमानवीय और दिल दहला देने वाले अनुभवों के स्वयं भागीदार थे, यही वजह है कि उनके उपन्यास में भोक्ता होने का दर्द भी शामिल है। मंजूर एहतेशाम ने भी 'सूखा बरगद' (1986), नासिरा शर्मा ने 'ज़िंदा मुहावरे' (1993), असगर वजाहत ने 'सात आसमान' (1996), भगवान दास मोरवाल का 'काला पहाड़' (1999) देश में बढ़ती साम्प्रदायिकताव पर गहरी संवेदना के साथ विमर्श किया है। कमलेश्वर के 'कितने पाकिस्तान' (2000) में भी एक साम्प्रदायिकता विरोधी विजन है, जो धर्म, राजनीति, क्षेत्रीय महत्वाकांक्षा, भौतिक सुखों की होड़, देश–दुनियाँ और मानवता को बाँटने, एक–दूसरे से अलग और लहूलुहान करने की दानवी प्रवृत्ति के अंकन और उसके प्रतिरोध से युक्त है।

हिन्दी उपन्यासों में साम्प्रदायिकता के रूप को जिस स्तर तक दिखाया गया है उससे यह बात उल्लेखनीय लगती है कि हिन्दी उपन्यासकार साम्प्रदायिक सोच और भावना की दृष्टि से उदार, मानवीय और जनतांत्रिक मूल्यों से परिपोषित हैं।

हिन्दू और मुसलमान के प्रति पनप रही इसी साम्प्रदायिक भावना को प्रसिद्ध कथाकार शिवमूर्ति ने भी 'त्रिशूल' (1993) उपन्यास के माध्यम से रामजन्मभूमि और बाबरी मस्ज़िद विवाद को मुद्दा बनाकर साम्प्रदायिकता के बढ़ते प्रकोप का चित्रण किया है। इसमें इन्होंने दिखाया है कि हिन्दू साम्प्रदायिकता चरम पर है। उपन्यास के पात्र शास्त्री जी को जब यह पता चलता है कि लेखक के घर में जो नौकर महमूद है, वह धर्म से मुसलमान है, इसी को आधार बनाकर वह पूरे मोहल्ले में साम्प्रदायिक माहौल उत्पन्न कर देते हैं। शास्त्री जी के पोते का जब अपहरण हो जाता है तो महमूद को जान–बूझकर नामजद कर दिया जाता है और उस पर पुलिस द्वारा कई यातनाएँ दी जाती हैं। लेखक स्वयं कहता है कि, मैं महमूद की कहानी कहाँ से शुरू करू– ''कहाँ से शुरू करूँ महमूद की कहानी?

वहाँ से जब पुलिस उसे घर से घसीटकर ले जा रही थी... चौराहे पर लाठियों से पीठ रही थी और मुहल्ले का कोई आदमी बचाने के लिए आगे नहीं आ रहा था।

या.... जब इसी चौराहे पर वे लोग उसकी छाती पर त्रिशूल अड़ाकर मजबूर कर रहे थे, ''बोल साले जै सिरी राम.... ।''[7]

'त्रिशूल' उपन्यास में शिवमूर्ति ने दिखाया है कि समाज में संघर्ष और प्रदर्शन के जितने रूप हो सकते हैं और जितनी तरह से यह संघर्ष सामने आया, उसमें यथार्थ कम और बहुस्तरीय छद्म अधिक था। इस छद्म का शिकार भारतीय समाज, धर्म एवं नौकरशाही सभी हो गए। 'त्रिशूल' इसी छद्म के स्तरीकरण का आख्यान है। इस सत्ता–संघर्ष और सामाजिक तनाव का पहला शिकार धर्म हुआ जिस पर सवार होकर सामंती सवर्ण जातियों के मठाधीश अपना काम साधना चाहते थे। सामंती तत्वों ने केवल साम्प्रदायिकता की पीठ पर सवारी गाँठ ली थी। इसमें सवर्ण, जातियों के अतिरिक्त पिछड़े और सीमांतों पर पड़ी अछूत जातियाँ भी शामिल हो गई। देश के हिन्दू, मुसलमानों के प्रति संगठित हो गए। वीरेन्द्र यादव ने लिखा है– ''गहरी अंतर्दृष्टि एवं उचित परिप्रेक्ष्य के अभाव में जहाँ समाज व राजनीति

के बड़े मुद्दे भी सरलीकृत होकर रह जाते हैं। वहीं सरल सी दिखने वाली सतह की सच्चाईयाँ कैसे राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य प्राप्त करती है, इसका एक उदाहरण शिवमूर्ति का उपन्यास 'त्रिशूल' प्रस्तुत करता है। कलेवर में क्षीणकाय होने के बावजूद साम्प्रदायिकता और सामाजिक न्याय के मुद्दे को रोजमर्रा की घटनाओं के माध्यम से शिवमूर्ति ने प्रमाणित अभिव्यक्ति दी है।''[8]

शिवमूर्ति ने दिखाया है इस बिकी हुई व्यवस्था में ऊपर से नीचे तक धर्म–जाति, सम्प्रदाय के नाम पर सत्ता हथियाने के लिए सफेद पोश नेता सबसे ज्यादा जिम्मेदार हैं। शिवमूर्ति ने शास्त्री जी के माध्यम से संघी मानसिकता का पर्दाफाश किया है। रामवादी पार्टी द्वारा जब मस्जिद पर केसरिया झण्डा लहराया जाता है, तब हिन्दुत्व के ठेकेदार शास्त्री जी खुशी में लड्डू बटवाते हैं और मुसलमानों के प्रति संघी तर्कों को बार–बार दुहराते हैं– ''जब धर्म के नाम पर इन मुसलमानों ने देश की छाती चीरकर दो टुकड़े कर दिए तो फिर यहाँ क्या करने के लिए रह गए? अपनी ऐसी–तैसी कराने....।''[9] शास्त्री जी यहीं नहीं रुकते वह अपनी रौ में बोलते हुए अपशब्द तक पर उतर आते हैं– ''मैं कहता हूँ अभी भी वक्त है कि इन 'कटुओं' को खदेड़कर पाकिस्तान भगा दिया जाए। वरना पचास साल बाद क्या होगा जानते हैं?''[10]

लेखक का स्वभाव मानवतावादी है वह सभी धर्मों को समान दृष्टि से देखता है उसका मानना है कि पुरानी दबी–मरी बातों को दोहराने से कोई फायदा नहीं है। इससे आपस में द्वेष ही बढ़ेगा। वह मंदिर–मस्जिद के मसले को खत्म करके वहाँ पर बच्चों के लिए पार्क की कल्पना करता है। उसका मानना है कि हम वर्तमान समय की समस्याओं से आँखें चुरा रहे हैं– ''अपनी वर्तमान समस्याओं और चुनौतियों की तरफ से आँखे मूदकर हम सोलहवीं शताब्दी की दफन कर दी गई समस्या पर खाम–खाँ अपनी नींद हराम कर रहे हैं। मेरा वश चले तो मैं मन्दिर–मस्जिद दोनों को ज़मींदोज कराकर वहाँ बच्चों के खेलने के लिए पार्क बनवा दूँ। लेकिन मेरी सुनेगा कौन? लोग तर्क–कुतर्क करते हैं। उत्तेजित होते हैं। चिल्लाते हैं दहाड़ते हैं। और मैं डरने लगता हूँ।''[11]

साम्प्रदायिकता का प्रश्न चूँकि किसी भी जाति अथवा कौम की अपनी पहचान और अस्मिता से गहरा जुड़ा होता है। आम आदमी के जीवन में धर्म का प्रभाव अत्यधिक बढ़ गया है। समाज में धार्मिक संगठनों, मुल्लाओं व पंडितों ने ऐसा वातावरण बना दिया है कि व्यक्ति न चाहते हुए भी साम्प्रदायिक द्वेष से भर जाता है। शास्त्री जी सनातनी हिन्दुत्व के महात्म्य को बखारते हुए पहले लोगों का विश्वास जीतते हैं, फिर प्रतिधर्मी को निदारत करते हुए मुहल्ले के लड़कों में साम्प्रदायिक द्वेष भरते हैं। हिन्दुत्ववादी शक्तियाँ किस प्रकार मनुष्य के दिमाग को बन्द कर उनके दिमाग में साम्प्रदायिकता का जहर भरती जा रही हैं। उपन्यास में यह कार्य संघ–संगठन स्पष्ट रूप से करते दिखाई देते हैं। महमूद जब बाजार से सब्जी लेकर आ रहा होता है, तब मुहल्ले के कुछ लड़के उसकी साइकिल को रोक लेते हैं। एक लड़का कहता है– ''रूक बे कटुए।'....

''साले हिन्दुओं के मुहल्ले में क्या करने जा रहा है?'' दूसरा कहता है, ''झोले की तलाशी लो साले की। जरूर बम छिपाए होगा।'' वे झोले में झाँकते हैं।... एक उसके बाल पकड़कर हिलाता है और दूसरा दो हाथ लंबा त्रिशूल उसके गले पर अड़ाकर पान से लाल मुँह टेढ़ा करके कहता है, ''बोल साले जै सिरी राम!'' भीड़ जुटने लगती है।''[12]

साम्प्रदायिकता एक प्रकार का संक्रामक रोग है जो एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति, एक जाति से

दूसरी जाति, एक धर्म से दूसरे धर्म में बड़ी तीव्रता के साथ फैलता है। मुहल्ले के लड़के साम्प्रदायिक आक्रोश में आकर गाली–गलौज और अभद्रता पर उतर आते हैं। वह लड़के महमूद को जै सिरी राम बोलने के लिए मजबूर करते हैं–

''बोलता है कि यही त्रिशूल तेरी... ।''

भय से महमूद की आँखे चित्ती कौड़ियों की तरह फैल जाती हैं।

''पैंट खोल साले की।''

''बोल, राम हमारे बाप हैं।''

''अल्ला, अकबर पाप हैं।''

''नहीं बोलेगा? तेरी माँ की.... ।''

धम्–धम्–धम्। लात–मुक्के बरसने लगते हैं। वह नीचे गिर जाता है।

''मुर्गा बन साले। बन मुर्गा।''

''वह फौरन मुर्गा बन जाता है।''[13]

शिवमूर्ति ने उपन्यास में दिखाया है कि किस प्रकार हिन्दुत्ववादी मुसलमानों की विश्वसनीयता पर सन्देह करते हैं। चंदा वसूली गिरोह का मुखिया कहता है कि हमारे पुरखों ने बड़े अनुभव के बाद ही लिखा है–

''कूकुर पानी पिये सुड़क के

तबौ न मानें बात तुरुक के।''[14]

यहाँ पर यह बताने का प्रयास किया गया है कुत्ता जीभ से लपर–लपर कर पानी पीता है, अगर वह आदमी की तरह सुड़कर पानी पीने लगे। ऐसा असंभव, संभव हो जाए, तब भी मुसलमान की बात का विश्वास न करना। यह एकदम से अविश्वसनीय है।

वीरेन्द्र यादव लिखते हैं– ''उपन्यास में महमूद की त्रासदी भारतीय समाज के सेकुलर माडल की त्रासदी है।... बाबरी मस्जिद से जुड़ी घटनाओं एंव मंडल कमीशन की पृष्ठभूमि पर केन्द्रित यह औपन्यासिक कथा जीवन में साझी संस्कृति एवं सामुदायिक जीवन में आती दरार को अत्यन्त बेबाकी के साथ उद्घाटित करती है।''[15]

इस प्रकार से हम कह सकते हैं कि शिवमूर्ति ने 'त्रिशूल' उपन्यास में हिन्दुओं के ओछे हिन्दुत्ववाद को झकझोर कर रख दिया है। कुछ फिराक परस्तों के कारण साम्प्रदायिकता का जो बीज मानव हृदय में बोया जा रहा है, उसका अंत निश्चय ही बहुत बुरा होगा। इसी की अभिव्यक्ति का ज्वलन्त उदाहरण हम 'त्रिशूल' में देख सकते हैं अतः वर्तमान देशव्यापी घटना को उपन्यास का विषय बनाकर शिवमूर्ति ने साम्प्रदायिकता की साजिश का यथार्थ चित्रण किया है। लेखक का मानना है कि रामजन्मभूमि–बाबरी मस्जिद विवाद बहुत ही बेमानी है। देश को शास्त्री जैसे लोगों से बचाने की जरूरत है। यही इस उपन्यास का मूल उद्देश्य है।

संदर्भ सूची–

1. गीतेश शर्मा : साम्प्रदायिकता एवं साम्प्रदायिक दंगे; कलकत्ता 1985, पृ0 53
2. बिपिन चन्द्र : आधुनिक भारत में साम्प्रदायिकता; दिल्ली 1996, पृ0 24
3. कर्ण सिंह सोमरा : साम्प्रदायिक सद्भाव और राजनीतिक चेतना, जयपुर–1992, पृ0 44
4. अभय कुमार दुबे (सं0); बीच बहस में सेकुलरवाद, दिल्ली, 2005, पृ0 484
5. मधुरेश : साम्प्रदायिकता और हिन्दी कहानी, सं0 महावीर अग्रवाल दुर्ग, 'सापेक्ष' पत्रिका जनवरी–जून–1989, पृ0 184
6. असगर वजाहत : साम्प्रदायिकता : पुनर्विचार की जरूरत; 'कथाक्रम' पत्रिका : जुलाई–सितम्बर, 2003, पृ0 77
7. शिवमूर्ति : त्रिशूल, राजकमल प्रकाशन नई दिल्ली, सं0 2012
8. वीरेन्द्र यादव : नवें दशक में औपन्यासिक परिदृश्य, पहल पुस्तिका मार्च, 1998, पृ0 38
9. त्रिशूल, पृ0 18
10. त्रिशूल, पृ0 19
11. त्रिशूल, पृ0 24
12. त्रिशूल, पृ0 38
13. त्रिशूल, पृ0 38–39
14. त्रिशूल, पृ0 32
15. वीरेन्द्र यादव, 'पहल' पुस्तिका, पृ0 38

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

मुगल शासकों की युद्धनीति

डॉ. श्याम कुमार
इतिहास विभाग
बीआरएम महाविद्यालय, मुंगेर
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर, बिहार

मध्यकालीन भारतीय इतिहास में मुगलों की भूमिका अहम् रही है। जब कभी भी भारतीय उपमहाद्वीप के मध्यकालीन इतिहास की चर्चा होती है तो उसमें मुगलों के द्वारा अपनायी गई विभिन्न नीतियाँ प्रासंगिक एवं भविष्य उपयोगी साबित हुई हैं। वास्तव में मुगलों का विशाल साम्राज्य जो लगभग पूरे दक्षिण एशिया, अफगानिस्तान से दक्षिण भारत के मुहाने तक और पश्चिम व पूर्व में क्रमशः सिंधु नदी क्षेत्र से बर्मा की सीमा तक फैला था जो वस्तुतः मुगलों की सफल नीतियों की प्रासंगिकता का ही द्योतक है।

मध्यकालीन इतिहास के शोधार्थियों में मुगलों का इतिहास विशेष रूप से रूचिकर बना हुआ है। शोधार्थियों के बीच उनकी साम्राज्य की अभूतपूर्व विशालता में उनके द्वारा अपनाई गई विभिन्न नीतियाँ यथा राजनीतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, आर्थिक एवं युद्धनीति विशेष रूप से शोध का विषय बनी हुई हैं। मुगल राजवंशों द्वारा अपनाई गई तमाम नीतियों में उनकी ''युद्धनीति'' शोधार्थियों के बीच विशेष महत्व का विषय रहा जो वास्तव में उनकी साम्राज्य विशालता की वास्तविक नींव रखता है। इतना ही नहीं मुगलों के तुरंत बाद भारत में आये ब्रिटिश शासकों ने भी मुगलों की युद्धनीतियों को काफी कुछ अपनाया है जो उनके द्वारा विस्तृत विभिन्न आलेखों से प्राप्त होता है।

मुगलों की युद्धनीति विशेष रूप से इतिहासकारों में रूचिकर बनी रही है। बाबर की तुगलुमा युद्धनीति और अराबा तकनीक को पढ़कर पाठक आज भी रोमांचित हो उठते हैं किन्तु दुर्भाग्यवश इतिहासकारों ने अपना सारा ध्यान मध्यकालीन इतिहास के सामाजिक और सांस्कृतिक पहलुओं की ओर लगा दिया जिसके कारण शोधार्थियों के बीच ''मुगल युद्धनीति'' पर सामग्री की कमी बनी हुई है। इस आलेख के माध्यम से यह भरसक प्रयास किया गया है कि समकालीन भारत में मुगलों ने स्वयं को युद्धनीति की मदद से कैसे प्रतिस्थापित किया होगा, उसका विश्लेषण करना है। अपनी युद्धकला, आयुध भंडार, सैन्य प्रशिक्षण, सौन्य शिष्टाचार और अन्य युद्ध साधनों का किस तरह उपयोग किया, जिससे वे भारतीय उपमहाद्वीप में सबसे विशालतम साम्राज्य की संज्ञा ग्रहण करने में सक्षम हो पाए।

मध्यकालीन भारत के प्रमुख इतिहासकारों में इरफान हबीब, आर्शीवादी लाल श्रीवास्तव, हरिश्चन्द्र वर्मा, सतीश चन्द्रा जैसे विद्वानों ने मुगलों पर काफी कुछ लिखा है, परन्तु इन सभी इतिहासकारों ने अपने आपको सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक व राजनीतिक तथा प्रशासनिक विषयों के इर्दगिर्द ही समेटे रखा जो शोधार्थियों के लिए चिंता का विषय रहा है। इस आलेख का उद्देश्य शोधार्थियों को ''मुगल शासकों की युद्धनीति'' पर एकनई दिशा की ओर ध्यान केंद्रित करना भी है ताकि इस विषय पर से पर्दा उठा सके और इसके विभिन्न पहलुओं को शोध के क्षेत्र में एक नई दिशा प्रदान कर सके।

युद्ध तकनीकि में मुगलों का योगदान

मुगल मूल रूप से मध्य एशिया के निवासी थे। काबुल में खुद को स्थापित करने के उपरांत 'बाबर' अफगानिस्तान के रास्ते खैबर दर्रा पार करते हुए भारत में प्रवेश किया। चूंकि मुगल मध्य एशिया से आये थे इसलिए उनकी सैन्य परंपरा और युद्ध तकनीक उसी क्षेत्र विशेष के अनुरूप थी। भारतीय उपमहाद्वीप के परंपरागत युद्ध तकनीक के विपरीत मुगलों द्वारा बारूद और अन्य मध्य एशियाई युद्ध तकनीकि का प्रयोग अपने आप में अभूतपूर्व था।

भारत में बारूद के उपयोग का जहां तक प्रश्न है यह अभी भी इतिहासकारों के बीच मतभेद है। यूँ तो बारूद का उपयोग का साक्ष्य सल्तनत काल से ही मिलता है वह भी विशेषरूप से फिरोजशाह तुगलक के काल में किन्तु इसके युद्ध में प्रयोग का साक्ष्य प्राप्त नहीं होता है बनिस्पत इसका उपयोग एक चमकदार पदार्थ के रूप में होता था। बारूद का युद्ध में प्रयोग का प्रथम प्रमाणिक साक्ष्य बाबर द्वारा पानीपत के प्रथम युद्ध से ही प्राप्त होता है।

त्वारीख ए फरिश्ता, तबकाते अकबरी तथा बुरहान ए माशिर से सल्तनत काल में बारूद का उपयोग एक चमकदार पदार्थ के प्रदर्शन के रूप में मिलता है। तत्कालीन उपलब्ध साक्ष्यों से यह पता चलता है कि दिल्ली सल्तनत वासी बारूद का उपयोग संभवतः मंगोलों से सीखा होगा और मंगोलों को तकनीक संभवतः चीन से प्राप्त हुई होगी।

पी. के. गोडे जैसे विद्वानों ने यद्यपि यह बताने का प्रयास किया है कि पंद्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में गुजरात, मालवा तथा कश्मीर में देटे तोप, बंदूक तथा बारूद के उपयोग का प्रमाण पारसी साहित्यों में मिलता है तथापि इन तथ्यों पर पूरी तरह से भरोसा नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी भी अन्य समकालीन स्त्रोत से इसकी जानकारी उपलब्ध नहीं होती है। दूसरी ओर 'अकरम मकदूम' महोदय ने तो दिल्ली सल्तनत में इल्तुतमिश के समय से ही तोपखाना तथा बारूद के उपयोग की बात कह दी और इनके शोध का स्त्रोत भी पारसी साहित्य ही था जिसपर पहले ही संदेह की जा चुकी है क्योंकि किसी भी अन्य समकालीन साहित्य स्त्रोत में इसका प्रमाण नहीं मिला है।दरअसल बाबर से पूर्व सल्तनत काल में बारूद का उपयोग एक चमकदार रॉकेट जैसे वस्तु के रूप में की जाती थी, तोप में इसके उपयोग का किसी भी समकालीन स्त्रोत में प्रमाण नहीं मिलता है।[1]

पानीपत के प्रथम युद्ध से पहले यहां युद्ध में हाथी, घोड़ा, पैदल सेना, तीरंदाज तथा हथियारों में तलवार, भाला, तीर–कमान एवं ढाल जैसी वस्तुओं का उपयोग होता थाजिसे बाद में मुगलों ने भी युद्ध में उपयोग किया। इन्होंने अपने युद्ध सामग्री में तोपखाना और बंदूक को भी शामिल कर लिया जिसका उपयोग विरोधियों की सेना पर बड़ा आघात पहुंचाता था जिससे दुश्मनों की सेना तितर–बितर हो जाती थी और युद्ध के शुरूआती दौर में ही विरोधियों का हौसलापस्त हो जाता था। जब तक विरोधियों द्वारा भी तोपखाना का सफल प्रयोग नहीं सीख लिया गया तब तक यह मुगलों के युद्ध तकनीकी में तुर्प का इक्का बना रहा। मुगलों की युद्धनीति में इतिहासकारों को सर्वाधिक प्रभावित पानीपत के प्रथम युद्ध ने किया है, जिसमें तुगलुमा और अराबा तकनीकी की विशेष भूमिका रही है।

पानीपत की प्रथम लड़ाई

पानीपत की प्रथम लड़ाई इब्राहिम लोदी और बाबर के बीच 1526 ई. में लड़ी गई थी। 1524 ई. में पंजाब के गवर्नर दौलत खां लोदी ने अपने भाई इब्राहिम लोदी के खिलाफ बाबर से सहायता मांगी। 1624 ई. में दी गई इस निमंत्रण को बाबर ने स्वीकार कर लिया और एक विशाल सेना लेकर लाहौर की ओर कूच किया। यद्यपि बाबर की सेना के साथ दिल्ली की सेना की छिटपुट भिड़ंत लाहौर के

समीप भी हुई किंतु यह प्रत्यक्ष लड़ाई नहीं थी। बाबर और इब्राहिम लोदी के बीच मुख्य लड़ाई पानीपत के मैदान में 1526 ई. में ही हुआ था। इसे बाबर के पांचवी अभियान के रूप में देखा गया है। पानीपत अभियान के दौरान सिन्धु नदी को पार करते समय बाबर के सैनिकों की संख्या इतिहासकारों द्वारा लगभग 12000 से 15000 के बीच आंकी गई है। परन्तु बाबर द्वारा सिंधु नदी पार करते ही उनकी सेना में अन्य स्थानीय सरदार और उनके सैनिक मिल गए और इस प्रकार बाबर की सैन्य संख्या में इजाफा हुआ जिसे विभिन्न इतिहासकार लगभग 20,000 मानते हैं जो इब्राहिम लोदी की सैन्य संख्या के सामने काफी कम था।

बाबर की सेना छः भागों में संगठित की गई थी जिसमें क्रमशः रात्रि प्रहरी और दिवस प्रहरी भी शामिल थे। सेना को पुनः तीन विंग में विभक्त किया गया जिसमें बायाँ एवं दायाँ विंग वेग सरदारों के नियंत्रण में था जबकि केन्द्रीय विंग का नियंत्रण स्वयं बाबर कर रहे थे।

बाबर अपनी सेना के साथ अप्रैल के प्रथम सप्ताह में ही पानीपत पहुंच चुका था जिससे उसके युद्ध की भौगोलिक स्थिति का जायजा करने का अवसर मिला। उन्होंने तुरंत एक युद्ध समिति की बैठक की जिसमें वहां के भौगोलिक परिवेश का पूर्ण आकलन किया गया। बाबर ने अपनी सेना के दाहिने भाग को समीपवर्ती गांव में छुपाने का निर्णय लिया जहां मकानों की संख्या अधिक थी। सेना के बायें भाग को छिपाने के लिए लम्बी गहरी खाई खोदी गई और उसे पेड़ों की झाड़ियों से ढंक दिया गया। सेना के सामने की कतार को सुरक्षित करने के लिए लगभग 700 गाड़ियों को मोटे रस्से से जोड़कर मजबूत दीवार जैसी संरचना बनाई गई। दो गाड़ियों के बीच ऐसी संरचना बनाई गई जिस पर सिपाही अपनी तोपों को रखकर इसका उपयोग कर सकें और पुनः सामने से आ रहे तीरों से बचने के लिए इन्हीं गाड़ियों के पीछे छुपा जा सके। बाबर की यही विधि रूमी अथवा आटोमन विधि कहलाती है।[2] इस ओटोमन विधि का उपयोग सर्वप्रथम आटोमनों ने ईरान के शाह ईस्माइल के विरुद्ध किया था इसलिए इसे आटोमन विधि कहते हैं। प्रतिद्वंद्वियों की सैन्य संख्या अधिक रहने पर यह एक कारगर विधि थी जो पहले से प्रमाणित थी। जिसमें कम सैन्य बल के बावजूद विरोधियों को पर्याप्त नुकसान पहुंचाया जा सकता था।[3] इस विधि में तोपों का संचालक एक जोखिम और अनुभव का कार्य था जिसे अंजाम देने के लिए बाबर की सेना के दो प्रमुख नग उस समय के प्रसिद्ध तोपची उस्ताद अली और मुस्तफा थे जिन्होंने अपने कार्य को बखूबी अंजाम तक पहुंचाया।

बाबर के उपलब्ध गुप्तचरों के अनुसार उसके प्रतिद्वंद्वी इब्राहिम लोदी की अग्रिम सेना की संख्या लगभग 25000 थी जबकि कुल सैन्यबल लगभग 1 लाख के आसपास बतलायी गई थी।[4]

अपने प्रतिद्वंद्वी के लगभग चार से पाँच गुना बड़ी सैन्यशक्ति पर विजय प्राप्त करना बाबर की सबसे बड़ी जीत मानी गई है। इसके लिए बाबर अपनी सेना में व्याप्त अवज्ञा और अनुशासनहीनता को बहुत सख्ती से कारवाई करते तथा कई मौकों पर तो मृत्युदण्ड भी दिया जाता था। बाबर स्वयं लिखते हैं कि ''उनमें से कुछ लोगों को तो मैंने मृत्युदण्ड भी दिया और कुछ की नाकों में नकेल डालकर फौजी खेमों में घुमाया।'' यह घटना मूलरूप से मेडा अभियान के बाद की मानी जाती है जो यह दर्शाती है कि बाबर की सेना में अनुशासन का कितना अधिक पालन किया जाता था जो किसी सेना के सर्वप्रथम और सर्वप्रमुख गुण मानी गई है।[5] मेरी दृष्टि में मुगल शासकों के द्वारा विजित तमाम युद्धों में पानीपत का प्रथम युद्ध, खानवां का युद्ध और पानीपत का द्वितीय युद्ध सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इन तीनों युद्धों में इनके प्रतिद्वंद्वी की सैन्य बल इनसे अधिक था। इसके बावजूद इन्होंने अपनी सैन्य अनुशासन युद्ध तकनीक और समय से पूर्व नियोजित योजना की आधारशिला पर अपने युद्ध रणनीति को बनाये रखा और शत्रु पर विजय प्राप्त की।

मुगल शासकों की सैन्य संरचना

सेना में भर्ती के लिए भारतीय उपमहाद्वीप में मुगलों को सेना संख्या बल की कोई कमी नहीं हुई। यहां की विस्तृत भूमि, जनसंख्या घनत्व और लगातार युद्ध की संस्कृति ने मुगलों को सैन्य संगठन प्राप्त करने में काफी मदद की। एक बार भर्ती करने के उपरांत सैनिकों को विभिन्न प्रकार के प्रशिक्षण एवं सैन्य अभियान के माध्यम से शारीरिक और मानसिक रूप से दुरुस्त बनाया जाता था। सैन्य प्रशिक्षण पूरी तरह से तकनीकी और युद्धाभ्यास पर आधारित था जिससे मुगल सेना की सैन्य संस्कृति को सुदृढ़ बनाया जा सका। सैनिकों की संख्या वृद्धि करना किसी भी हद तक स्वीकार्य था। हुमायूं के निर्वासन से वापसी की बाद की एक महत्त्वपूर्ण घटना है जब ऑक्सन नदी पार करके लगभग 500 मंगोल सिपाही काम ढूंढ़ने आये थे जिसे हुमायूं ने तीर–कमान देकर अफगानों के खिलाफ उनका प्रयोग किया था।[6]

मुगल शासकों की सैन्य संगठन के विस्तार में अकबर का योगदान अभूतपूर्व था। उन्होंने नई शासन व्यवस्था के रूप में मनसबदारी प्रथा की शुरूआत की। 'मनसब' मूल रूप से एक पद था जिसे कई मामलों में नगद और कई मामलों में जागीर दी जाती थी। इसे अपने अन्तर्गत जात और सवार रखनी होती थी और आवश्यकता पड़ने पर केन्द्रीय सरकार को सैन्य मदद पहुंचानी होती थी। मनसबदारी व्यवस्था के द्वारा मुगल शासकों की सैन्य संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि हुई।

अब्दुल फजल ने अपने विवरण में एक स्थान पर 40 लाख सेना केकूच करने की चर्चा की है जो यह बतलाता है कि यदि क्रियाशील सेना की संख्या इतनी अधिक थी तो वास्तविक सैन्य संख्या इससे कहीं बड़ी होगी जो आज केचीन या भारत जैसे विशाल देश की सैन्य संख्या से भी काफी अधिक है।[7]

मुगल शासकों की सैन्य संरचना में मूल रूप से घुड़सवार सेना और पैदल सेना की भूमिका अहम् रही है। तोपखाने की भूमिका घुड़सवार और पैदल सेना को सहायता पहुंचाने के लिए किया जाता था। युद्ध के शुरूआत में तोपखाने के प्रयोग द्वारा शत्रु सेना को तितर–बितर और प्रभावहीन करने का प्रयास किया जाता था ताकि अंतिम और निर्णायक लड़ाई जो घुड़सवार सेना और पैदल सेना द्वारा लड़ी जाती थी, को अधिक से अधिक प्रभावी और सफल बनाया जा सके।

तोपखाना

सेना में तोपखाना विभाग बाबर के द्वारा ही प्रतिस्थापित किया गया जिसमें बारूद के प्रयोग द्वारा शत्रु सेना पर आग बरसाया जा सके। तोपखाना विभाग में मुख्यरूप से दो प्रकार के तोपों का प्रयोग होता था– प्रथम हल्के किस्म के तोप और द्वितीय भारी किस्म के तोप थे। हल्के किस्म के तोप को ''जर्बजान'' के नाम से जाना जाता था। उसका प्रयोग आसान था और इसको आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाया जा सकता था। इस प्रकार के तोप में 3 से 4 पौंड वजनी के गोले का इस्तेमाल होता था जिसे शीघ्रता से बदला जा सकता था और पुनः स्तेमाल के लिए तैयार किया जाता था। 'जर्बजान' का प्रयोग शत्रु सेना की सघनता को कम करने के लिए होता था। इसे आसानी से घुमा कर विभिन्न दिशाओं में चलाकर शत्रु सेना को तितर–बितर कर दिया जाता था। इससे आगे का काम घुड़सवार और पैदल सेना पूरा करती थी। दूसरी ओर भारी किस्म के तोप 'काजान' के नाम से जाना जाता था। इसका प्रयोग कठिन था और इसको एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाना भी कठिन था। इस प्रकार के तोप में 20 से 25 पौंड वजनी गोले का इस्तेमाल होता था। 'काजान' का प्रयोग शत्रु सेना के किले को ध्वस्त करने के लिए अथवा सेना की मजबूत किलेबंदी को तोड़ने के लिए किया जाता था।[8]

मुगल शासकों के तोपखाना विभाग में एक अन्य तीसरे किस्म का भी हथियार था जिसे 'फिरंगी' कहा जाता था। इसका आकार जर्बजान से काफी छोटा था जो एक प्रकार की लम्बी बंदूक जैसी संरचना थी। मुगलशासकों में अकबर के बाद इसकाप्रयोग अधिक किया जाने लगा।

हथियार

मुगल शासकों द्वारा अपनी सेना में दोनों क्रमशः लघु और दीर्घ दूरी के हथियार का प्रयोग होता था। लघु हथियार में तलवार, गदा, कुल्हाड़ी और चाकू इत्यादि का प्रयोग किया जाता था जबकि दीर्घ–दूरी के हथियारों में बंदूक, तीर–कमान व भाला आदि का प्रयोग होता था।अधिक दूरी तक मार करने के लिए सबसे अधिक तीर–कमान का प्रयोग किया जाता था।तीर–कमान के प्रयोग का कारण परंपरागत हथियार होना माना जाता है। दूसरा सबसे अधिक प्रयोग किया जाने वाला हथियार तलवार था। हिन्दी में तलवार जबकि अरबी में इसे 'तेग' और फासी में 'शमशेर' कहा जाता है। तलवार की एक अन्य किस्म भी थी जिसका प्रयोग संभवतः दक्षिण भारत से सीखा गया।दक्षिण भारत में इसके उपयोग को अधिकता मिलती है। यह सीधी और चौड़ी तलवार थी, जिसके दोनों सिरों में धार रहता था। इसे अपने तरकश में रखना सम्मान का प्रतीक माना जाता था जो यह दर्शाता है कि इसका प्रयोग विशिष्ट योद्धा द्वारा ही होता होगा। अस्त्र–शस्त्रों में अन्य हथियार सिरोही, पट्टा, गुप्ती के प्रयोग की अधिकता के भी प्रमाण मिलते हैं।[9]

सेना की संरचना में घुड़सवार सेना, हस्थिसेना, पैदल सेना, रसोईया इन सभी की भूमिका अहम् थी। तोपखाना का सफल प्रयोग सेना के अन्य विभाग का मनोबल उच्च कर देता था और नजदीकी लड़ाई में घुड़सवार सेना और पैदल सेना अपनी भूमिका सफलतापूर्वक पूरा करते थे।

मुगल शासकों की नौसेना

मुगलों की विशाल सेना का एक महत्त्वपूर्ण हिस्सा नौसेना भी थी। इसके व्दारा विभिन्न समुद्री मोर्चों पर मुगल नौसेना की अपने विरोधियों के साथ भिड़ंत होती रहती थी। मुगलों ने गुजरात और बंगाल विजय के उपरांत अपनी नौसेना शक्ति को बहुत तेजी से विस्तारित किया और गहरे समुद्र तक अपने लड़ाकू जहाजों को पहुंचाने का प्रयास किया। नौसेना शक्ति के विस्तार में सर्वाधिक योगदान मुगल शासकों में अकबर का था। अकबर से पूर्व के शासकों व्दारा सिर्फ नागरिक और अन्य व्यापारिक गतिविधियों के लिए समुद्री जहाजों का प्रयोग किया जाता था और अनुकूल मौसम के समाप्त होते ही इसे वापस यथावत छोड़ दिया जाता था। इसमें मुगल बादशाह अकबर ने अभूतपूर्व सुधार किया जिसके तहत सैन्य गतिविधियों के लिए अलग समुद्री बेड़े तैयार किये जाने लगे जो पूरे साल क्रियाशील रहते थे। ''आईन–ए–अकबरी'' के प्रथम खंड में इसकी विस्तृत चर्चा की गई है। जिसमें नौसेना विभाग के चार प्राथमिक उद्देश्य गिनाये गये जिनमेंः–

1. युद्ध और व्यापारिक गतिविधि दोनों के लिए समुद्री बेड़े का रख–रखाव करना,
2. दक्ष नाविकों के सैन्य दल को सुरक्षित रखना,
3. नागरिकों के संबंधित सामान्य व्यापार का ध्यान रखना और
4. सीमा शुल्क सहित अन्य सामुद्रिक व्यापार कर का ध्यान रखना।

आइन–ए–अकबरी में 12 प्रकार के नाविकों की चर्चा की गई है जिसमें सभी के अलग–अलग कार्य बताये गये हैं और सभी का अपना–अपना अलग आय था। मुगलों की नौसेना में पारसी, अरबी, अफ्रीकी और यूरोपियन सभी वर्ग के लोग शामिल थे जो मूल रूप धर्मनिरपेक्ष संगठन दिखलाई पड़ता

है। इन लोंगो का प्राथमिक उद्देश्य उत्कृष्टता का प्रदर्शन और कुशल सैन्य संचालन मात्र था। मुगलों की नौसेना पूरी तरह से केंद्रीय प्रशासन के नियंत्रण में थी जिसकी मूलरूप से दो इकाई थी। इसका पश्चिमी बेड़ा गुजरात में जबकि पूर्वी बेड़ा बंगाल में स्थित था। इन समुद्री बेड़ों के खर्च का बहुत बड़ा हिस्सा सामान्य नागरिक और व्यापारिक गतिविधियों में लगे लोगों के कर से अथवा अन्य शुल्क से आता था। इसके अतिरिक्त बड़े मंसबदारों को जो जागीर दी जाती थी उनसे यह भी अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने अतिरिक्त आय से केन्द्र को जरूरत पड़ने पर नाविक एवं जहाज उपलब्ध करायेंगे जिससे केन्द्रीय सरकार को विपरीत परिस्थिति में मदद मिल सके।

समुद्री लड़ाइयाँ अक्सर नदियों के मुहाने और खाड़ी क्षेत्र में ही होती थी। इस परिस्थिति में स्थल सेना एवं नौसेना के बीच कुशल सामंजस्य ही युद्ध को निर्णायक मोड़ तक पहुंचा सकता था। नौसैनिक जहाज पैदल सेना सहित घुड़सवार सेना, हस्थि सेना तथा अन्य साधनों के आवागमन तथा स्थानांतरण के लिए सर्वाधिक सुरक्षित और सुगम साधन था। सही मायनों में नौसेना की मदद के बिना स्थल सेना का प्रभावी रूप से कारगर होने की बात ही बेमानी लगती है।[10]

मुगल शासकों के युद्ध तकनीकी के शोध के दौरान उपलब्ध स्त्रोतों से कई ऐसी जानकारी प्राप्त होती है जो शोधार्थियों को प्रभावित करते हैं जैसे 'बाबरनामा' में इस बात का उल्लेख मिलता है कि बाबर स्वयं युद्ध में एक विशेष प्रकार के वस्त्र का प्रयोग करता थे जो धातु से बनी होती थी, जिसे 'कलमाकी' कहा जाता था। ये विशेष प्रकार का वस्त्र चीनी पद्धति से मिलता–जुलता था जिसका प्रयोग मंगोल सैनिकों द्वारा किया जाता था जिनके ऊपर तीरों से होने वाले घाव कम नुकसानदायक होते थे।

मुगल बादशाह बाबर की एक प्रमुख विशेषता अपने कार्यों के प्रति ईमानदारी थी वह हरेक युद्ध के पूर्व योजना तैयार करते थे। उनके जीवन की सबसे बड़ी लड़ाई ''पनीपत युद्ध'' की व्यवस्था को योजनाबद्ध करने में उन्हें 5–6 दिन लगे। इसी कारण वे पानीपत की लड़ाई के मैदान को अपनी सुविधानुसार तैयार कर सके जिससे इब्राहिम लोदी जैसे विशाल सैन्य बल वाली शक्ति को पराजित किया जा सका।[11]

मुगल शासकों की युद्धनीति एवं समकालीन सत्ता के लिएसंघर्ष एवं युद्ध इन दोनों में परिवेश के मुताबिक उसमें परिवर्तन होते रहे हैं। अपने पूर्व के तुर्क शासकों से इन्होंने बहुत कुछ लिया और नए–नए आयुध एवं हथियारों को शामिल किया। भौगोलिक परिस्थितियों के अनुरूप अपनी सैन्य क्षमता का निर्माण और विस्तार किया। सैन्य बलों की संख्या और उसके प्रयोग समकालीन युद्धनीति की प्रमुख रणनीति रही है। युद्ध का परिणाम पाने के लिए आदर्श स्थिति क्या हो सकती है, उसको दरकिनार कर केवल विजय पाना ध्येय रहा है। इस विजय में सैनिकों के अनुशासन को मुख्य रूप से देखा जा सकता है। अनुशासन के साथ–साथ युद्ध कला एवं कौशल प्रशिक्षण भी मुगलों की युद्धनीति का अंग रहा है। इसके अतिरिक्त युद्ध में प्रयुक्त संसाधनो और इसका सुनियोजित प्रयोग मुगल शासकों की विजय प्राप्ति में मदद पहुंचाई। मुगलों की नौसेना का उत्तरोत्तर विकास होता रहा जो इनके युद्ध में विजय के प्रति सजगता को प्रदर्शित करता है। इसके अलावे यदि पानीपत का प्रथम युद्ध और द्वितीय युद्ध को अलग कर दें तो अन्य सभी युद्धों में मुगल शासकों के पास पर्याप्त सैन्य संख्या थी जो इनके विजय प्राप्ति के प्रति कार्य निष्ठा को बतलाता है।

मुगलों ने अपनी सैनिकों का चुनाव उनकी क्षमता के अनुसार किया। यह चुनाव निष्पक्ष रूप से किया गया तथा कुछ मामलों को छोड़कर ज्यादातर किसी तरह के जाति–धर्म आधारित सामाजिक संरचना को मुख्य स्थान नहीं दिया गया। सैनिकों के लिए जातिगत भेदभाव से उठकर मुगल शासकों ने सैनिकों के चुनाव का आधार उनकी योग्यता को बनाया जिसको उनके व्दारा लड़े गए युद्धों में विजय

के परिणाम के रूप में देखा जा सकता है। युद्ध में रणनीति और तकनीकी का समुचित प्रयोग मुगल शासकों की युद्धनीति का प्रमुख अंग रहा है। मुगल शासकों की युद्धनीति का ही परिणाम रहा है कि वे भारत पर एक लम्बे अर्से तक अपनी सत्ता को बरकरार रख पाये।

संदर्भ :

1. Gunpower and Firearms: Warfare in Medieval India by Iqtidar Alam Khan, Chapter 1&2, Oxford 2004
2. मध्यकालीन भारत का वृहत इतिहास : जे. एल. मेहता, ऐडिशन 1997, पृ.139
3. The Ottoman Empire, 1300-1650 by Colin Imber, Chapter 7, Macmillan 2002
4. मध्यकालीन भारत का वृहत इतिहास : जे. एल. मेहता, ऐडिशन 1997
5. भारत का इतिहास : डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, ऐडिशन, 1987 पृ.329
6. The History of India, Prof. John Dowson, Vol.4, Chapter 103, Online Edition
7. Ain-I-Akbari, by H. Blochmann, Oriental, 1977, p.113
8. Mughal Weapons in the Baburnama by G.N. Pant, edition, 1989, p.150
9. Ain-I-Akbari, by H. Blochmann, Oriental, 1977
10. History of the Mughal Navy & Naval Warfare by Atul Chandan Roy, Calcutta: World Press, 1972
11. भारत का इतिहास : डॉ. आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव, ऐडिशन, 1987,पृ.328 329

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

"आधुनिक भारतीय दार्शनिकों के चिंतन में सामाजिक मूल्य"

डॉ. वन्दना कुमारी
असिस्टेंट प्रोफेसर
दर्शनशास्त्र विभाग
बी.आर.एम. कॉलेज, मुंगेर
मुंगेर विश्वविद्यालय, मुंगेर, बिहार

आधुनिक संदर्भ में कोई भी विचार, दर्शन या चिंतन तभी सार्थक हो सकता है, जब वह मानव एवं मानवीय समाज की समस्याओं से जुड़ा हुआ हो। प्राचीन भारतीय दर्शन में अधिकांश चिन्तनधारा आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म, मोक्ष आदि के इर्द–गिर्द ही घुमता रहा है। यद्यपि कुछ दर्शन में भौतिकवादी विचारों (चार्वाक दर्शन) को मान्यता मिली है तथापि उसे नगण्य ही कहा जायेगा। बौद्ध और जैन दर्शन अवैदिक दर्शन हैं, यहां भी जीवन के चरम लक्ष्य के रूप में निर्वाण या कैवल्य को ही माना गया है। किन्तु यहां साथ ही साथ मानव एवं मानव समाज से जुड़ी समस्याओं पर भी चिन्तन किया गया है। आधुनिक समकालीन भारतीय दर्शन में हम दार्शनिकों को स्पष्टतः दो खेमों में विभक्त पाते हैं – एक वे जो प्राचीन परम्परा एवं वैदिक चिन्तनधारा के प्रति अटूट निष्ठा रखते हैं और दूसरे वे जो पारलौकिक को पूरी तरह दरकिनार कर भौतिकवादी चिन्तनधारा को आगे बढ़ाते हैं। इन दोनों ही खेमों के दार्शनिकों में एक महत्वपूर्ण समानता है, वह यह कि सभी आधुनिक दार्शनिक अपने दर्शन को मानव और मानवीय समाज से जोड़ने के लिए प्रयासरत है तथा मानवीय समस्याओं और उसके निदान पर अपने चिन्तन को केंद्रित करते दिखते हैं। मेरे शोध–आलेख का उद्देश्य आधुनिक दार्शनिकों के चिन्तन के उन बिन्दुओं को उद्घाटित करना है जो मानव एवं मानवीय समाज की समस्याओं से जुड़े हैं।

प्राचीन भारतीय दर्शन जीवन सम्बन्धी एक निराशापूर्ण दृष्टि पर आश्रित रही हैं। सांख्य दर्शन ने विश्व को दुख का सागर कहा है।[1] प्राचीन भारतीय दर्शन का विश्वास रहा है कि जीवन का अर्थ दुःख है तथा धर्म और दर्शन का लक्ष्य इस दुख से मुक्ति पाना है। समकालीन भारतीय चिन्तक भी दुःख की वास्तविकता को स्वीकारते हैं तथा दुख से मुक्ति की बात भी करते हैं, फिर भी उनके विचार का ढंग प्राचीन विचारकों से कुछ भिन्न है। इन दार्शनिकों ने 'जीवन' का एक अर्थ एवं एक 'प्रयोजन' देखा तथा लौकिक जीवन को भी आध्यात्मिक विकास की एक कड़ी के रूप में समझने का प्रयास किया। कुछ समकालीन विचारक तो यहां तक कहते हैं कि दुख तथा कष्ट के द्वारा आत्म के जीवन को एक सार्थकता एवं गरिमा मिलती है।[2] आधुनिक चिन्तक दुःख की वास्तविकता को स्वीकारते हुए इसके निदान हेतु यथार्थवादी दृष्टि अपनाते हैं। जीवन की सार्थकता को स्वीकार करने वाले मानवीय मूल्यों को सभी समकालीन चिंतकों ने एक स्वर में स्वीकार किया है। इन विचारकों ने एक नवीन नीतिशास्त्र विकसित किया, जिसे सार्वभौम मानवतावाद का नाम दिया जाता है। आधुनिक समकालीन चिन्तकों में राजाराममोहन राय, स्वामी दयानन्द सरस्वती, स्वामी विवेकानन्द, रवीन्द्रनाथ टैगोर, महात्मा गांधी, श्री

अरबिन्द, बी. आर. अम्बेडकर, जे. कृष्णमूर्ति, कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य, एम.एन. राय, सर्वपल्ली राधाकृष्णन, ज्योतिबा फूले आदि महत्वपूर्ण हैं।

आधुनिक चिन्तकों ने समाज में बाह्य–आडम्बर, कर्मकाण्ड, तिथि–त्यौहार, मूर्ति–पूजा, तीर्थ यात्रा और नाना विधि–निषेध व्याप्त देखा। समाज अनेक जातियों में बंटा पाया, ऊँच–नीच का भेदभाव, छुआछूत, बाल–विवाह, बेमेल–विवाह, स्त्रियों की दुर्दशा, विधवाओं का नारकीय जीवन आदि से हिन्दू समाज ग्रस्त था। इस प्रकार धर्म का इतिहास निरर्थक कर्मकाण्डों, मतग्रहों तथा अंधविश्वास से एवं हिंसा, भ्रष्टाचार तथा अमानवीय बर्बरताओं से भरा पाया। इसलिए इन विचारकों ने अपने दर्शन में सामाजिक पहलुओं एवं मानवतावादी अवधारणाओं को सम्मिलित किया। प्रसिद्ध विद्वान के. दामोदरन के अनुसार, ''उन्नीसवीं शताब्दी के समाज सुधारकों ने जिस भारतीय नवजागरण का सूत्रपात किया, उसका लक्ष्य धर्म से पूर्णतः सम्बन्ध विच्छेद कर लेना नहीं था। यह नवजागरण एक ओर पुराने धार्मिक रीति–रिवाजों और कर्मकाण्डों का विरोध करने और दूसरी ओर नई परिस्थितियों के अनुरूप धर्म की नई व्याख्या करने पर आधारित था।[3]

आधुनिक समकालीन भारतीय दार्शनिकों में स्वामी दयानन्द सरस्वती (1824–1883) का नाम लिया जा सकता है जिनके प्रभाव से बाल विवाह, बहु–विवाह, बेमेल–विवाह, छुआछूत, जाति–पाति आदि की कुरीतियाँ काफी मात्रा में टूटीं और उन्होंने वेद की वैज्ञानिक व्याख्या करने की कोशिश की। इसके साथ ही साथ उन्होंने राष्ट्रीयता और हिन्दी भाषा का भी विकास किया। सत्यार्थ प्रकाश इनकी प्रमुख रचना में से एक है। राजा राममोहन राय (1772–1833) ने प्रचलित पुराने सड़े–गले रिवाजों और धार्मिक अंधविश्वासों को ठुकरा दिया। वे धर्म परिवर्तन के विरोधी थे। उन्होंने पतोन्मुख समाज व्यवस्था के बहुत से आचार–विचारों और मान्यताओं का कट्टर विरोध किया। वे हिन्दुओं के बहुदेववाद और कर्मकाण्डों, पुनर्जन्म और अवतारों की उनकी अवधारणा, मूर्तिपूजा, पशु–बलि और सतीप्रथा जैसे अनेक रस्म–रिवाजों को करने को तैयार नहीं थे, जो हिन्दू मतवाद के मूल आधारों के रूप में प्रचलित थे। राजाराममोहन राय ने आधुनिक शिक्षा के प्रचार का पूरी तरह समर्थन किया। उनका सबसे बड़ा योगदान 'ब्रह्म समाज' की स्थापना करना था। इसका उद्देश्य धार्मिक तथा सामाजिक सुधार आंदोलनों का केंद्रीकृत रूप से पथ–प्रदर्शन करना था।

अद्वैतवेदान्ती शंकराचार्य की तत्वमीमांसा 19वीं सदी में स्वामी विवेकानंद (1863–1902) के दर्शन में 'नव–वेदान्त' या 'व्यावहारिक वेदान्त' के रूप में पुनः उभरकर सामने आया। विवेकानन्द ने वेदान्त की एक नई व्याख्या करते हुएयह बताया है कि यदि हमें वेदान्त को समझना है, गीता के मर्म को जानना है तो संसार से भागने की आवश्यकता नहीं है, अपितु खेल के मैदान में फुटबॉल खेलते हुए भी हम उसे समझ सकते हैं। विवेकानन्द भारतीय समाज में व्याप्त निर्धनता, भुखमरी, अशिक्षा, कर्मकाण्डों की अतिश्यता, पाखण्ड आदि से अत्यन्त व्यथित थे, इसलिए उन्होंने समाज को इनसे मुक्ति दिलाने हेतु 'रामकृष्ण आश्रम' की स्थापना की तथा उस आश्रम के माध्यम से जनकल्याण, सेवा तथा सामाजिक सुधार का कार्य बड़े मनोयोग एवं लगन से प्रारम्भ किया जो अभी भी सतत् क्रियाशील है। कम्पलीट तर्क, ज्ञान योग, राजयोग, भक्ति योग आदि इनकी प्रमुख रचनाएं हैं। स्वामी विवेकानंद की भांति श्री अरविन्द घोष (1872–1950) ने वेदान्त दर्शन को ही परिपूर्णता में स्वीकार किया तथा इसी क्रम में वे व्यावहारिक स्तर पर मानव की व्यक्तिगत तथा राष्ट्रीय चेतना दोनों को ही जागृत एवं सक्रिय करने की

चेष्टा की। दिव्य जीवन, योग समन्वय आदि इनकी रचनाएँ हैं। मानवीय गरिमा को स्थापित करने में रवीन्द्रनाथ टैगोर (1861–1941) के दर्शन की महत्ता उल्लेखनीय है। टैगोर मानव की महत्ता को दर्शाते हुए कहते हैं – 'मानव धरती का बालक को अवश्य है, किन्तु स्वर्ग का उत्तराधिकारी।'[4] रवीन्द्र नाथ टैगोर के विचार यद्यपि आदर्शवाद से लिपटे हुए थे, तो भी वे न तो अमूर्त्त थे और न निरुद्देश्य। उनके नाटक, उपन्यास और कहानियाँ विगत युग के अंधमताग्रहों और अंधविश्वासों तथा विदेशी शासन के आतंक और अन्याय के विरुद्ध एक देशभक्त और सुधारक के आक्रोश से भरपूर हैं। किंतु उनकी देशभक्ति संकीर्ण राष्ट्रवाद की सीमाओं में जकड़ी नहीं थी। शांति, स्वतंत्रता और विश्वबंधुत्व के उदान्त आदर्श, उनकी समस्त रचनाओं में व्याप्त हैं। 'दि रिलिजन ऑफ मैन, गीतांजलि, साधना, पर्सनैलिटि आदि इनकी प्रमुख पुस्तकें हैं।

आधुनिक दार्शनिकों में महात्मा गांधी (1869–1948) ने दर्शन को जीवन और समाज से जोड़ने का अद्भुत कार्य किया। उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों को कर्म में उतारकर संपूर्ण मानव जाति के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत किया। यह सर्वविदित है कि महात्मा गांधी एक सामाजिक कार्यकर्त्ता, राजनीतिज्ञ, जनता के लोकप्रिय नेता थे, जिन्होंने स्वतंत्रता संग्राम का सफल संचालन किया। स्वतंत्रता संग्राम को चलाते हुए गांधी जी आम जनता के उत्थान के लिए सक्रियता से कार्य कर रहे थे। उनका सृजनात्मक कार्यक्रम गांधीवादी आंदोलन का एक महत्वपूर्ण अंग था। खादी और ग्रामोद्योग, हिन्दु–मुस्लिम एकता, छुआ–छूत को मिटाना, शराबबन्दी, प्रौढ़ शिक्षा, ग्राम सुधार, नारी उत्थान और हिन्दी का प्रचार ये उनके कार्यक्रम के कुछ मुख्य अंग थे। उन्होंने सभी धर्मों के प्रति समभाव की विचारधारा को प्रश्रय दिया। महात्मा गांधी ने सर्वोदय की कल्पना की, सत्य और अहिंसा की प्रतिष्ठा की और उन्हीं के आधार पर अन्य नवीन नैतिक मूल्यों की स्थापना की। सत्य, अहिंसा, स्वदेशी, अभय, अस्पृश्यता निवारण, अस्वाद, ब्रह्मचर्य, शरीर श्रम, अस्तेय, अपरिग्रह और सर्वधर्मसमभाव इन ग्यारह व्रतों के नम्रतापूर्वक पालन पर उन्होंने जोर दिया। समाज सुधार के लिए उन्होंने 19 सूत्री कार्यक्रम, जिसमें कौमी एकता, चरखा, खादी, गौ–सेवा, कुष्ठ रोगियों की सेवा आदि प्रमुख थे। सत्याग्रह को उन्होंने नैतिक हथियार बनाया एवं सत्य के लिए अन्तिम सांस तक अहिंसक रूप से विरोध करने की बात की। गाँधी जी ने अपने विचार दर्शन द्वारा सम्प्रदायिक कट्टरता पर भी कुठाराघात किया। हिन्दू–मुसलमान एकता के लिए सदा तत्पर रहे। स्वतंत्रता संग्राम में गांधी जी ने अपने कुशल नेतृत्व के बल पर भारत की जनता को एकजुट किया, अर्थात् उन्होंने पूंजीपतियों और मजदूरों, किसानों और दफ्तर के कर्मचारियों, महिलाओं, छात्रों और वकीलों को एकजुट किया। आर्थिक असमानता के लिए ट्रस्टीशिप के सिद्धान्त को प्रस्तुत किया। यह सिद्धान्त अमीरों और गरीबों के बीच विषमता को मिटाने का अहिंसक समाजवाद है।[5] गांधी जी ने सार्वभौम मानवतावाद का दर्शन प्रस्तुत किया। गांधी जी हिन्दू धर्म के चरम लक्ष्य मोक्ष को स्वीकार करते थे तथा कर्ममार्ग को अपने लिये मोक्ष प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन स्वीकारते हुए अपने समस्त कर्मों का उद्देश्य मोक्ष प्राप्ति ही मानते थे, किन्तु इसके लिये समाज से दूर, एकान्त में जाने की अवधारणा के विपरीत जीवन और समाज में रहकर गीता के निष्काम कर्म को उन्होंने अपना आदर्श बनाया। सत्य के साथ मेरे प्रयोग, यंग इंडिया, हिन्द स्वराज, मेरे सपनों का भारत इत्यादि इनकी प्रमुख कृतियाँ हैं।

आधुनिक दार्शनिकों में एम.एन. राय (1887–1954) का भी नाम महत्वपूर्ण है। उन्होंने प्राचीन भौतिकवाद को वैज्ञानिक आधार प्रदान किया। प्राचीन भौतिकवाद की धारणा, 'खाओ, पीओ और कर्ज

लेकर भी घी पीओ', अवश्य ही नैतिकता को दरकिनार करता है। किन्तु एम.एन. राय मानव की श्रेष्ठता को स्वीकारते हुए भौतिकवादी दृष्टि के साथ मानवतावाद, भौतिकवाद और नीतिशास्त्र का अद्‌भुत समन्वय करते हैं। इनके अनुसार नैतिक मनुष्यों के बिना नैतिक समाज का निर्माण संभव नहीं है। नैतिक होने के लिए केवल मनुष्य होना ही पर्याप्त है, किसी देवी अथवा तात्विक अनुशासन की तलाश अनावश्यक है।

आधुनिक समकालीन दर्शन में मुहम्मद इकबाल (1877–1938) का दर्शन मुस्लिम विचारधारा की तर्कसंगत व्याख्या करने का अनुपम प्रयास है, किन्तु इस्लाम, मुहम्मद एवं कुरान के प्रति अधिक प्रतिबद्धता ने उन्हें केवल व्याख्याकार के रूप में स्थापित कर सका। सभी संभावनाओं के होते हुए भी इकबल इबन–उल–अरबी के समान दार्शनिक न हो सके, यद्यपि काव्य में वे निःसंदेह रूमी के समकक्ष हैं।[6] के. दामोदरन के अनुसार, ''जिस कवि ने किसी समय अपने दशभक्तिपूर्ण गीतों से समूचे देश को जगाया था, स्वातंत्र्य संग्राम से विमुख हो गया। वह दार्शनिक, जो ईश्वर को अपने में आत्मसात् करना चाहता था और ब्रह्माण्ड के एक अंग के रूप में अपने व्यक्तित्व को पूर्णता प्रदान करना चाहता था, हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच जन्म सम्बन्धी भेदों को ढूंढ़ निकालने वाला बन गया। वह प्रगतिशील सुधारक जिसने वैज्ञानिक दृष्टिकोण की सराहना की थी और धार्मिक अंधविश्वासों के विरुद्ध संघर्ष चलाया था, स्वयं साम्प्रदायिकता के सामने झुक गया और इस उपमहाद्वीप में विभाजनवाद का मसीहा बनकर सामने आया।''[7] तो भी भारतीय चिन्तन–प्रणाली और साहित्य में इकबाल का योगदान तथा आमतौर से भारतीय जनता और खासतौर से मुस्लिम जनसमुदाय में देशभक्ति की ज्योति जगाने में उन्होंने जो भूमिका अदा की, वह उनके जीवन तथा कृतित्व के किसी भी वस्तुनिष्ठ अध्ययन में नज़रंदाज नहीं की जा सकती।

आधुनिक समकालीन दार्शनिकों में जे. कृष्णमूर्ति (1895–1986) का दर्शन भी मानवीय स्थिति से उत्पन्न समस्याओं का निदान ढूंढ़ने में महत्वपूर्ण योगदान में शामिल है। उनका दर्शन स्वतंत्र विचार, स्वतंत्र तर्क, स्वतंत्र अनुभव की क्रियाओं से ओत–प्रोत है। इन्होंने मानवतावादी दृष्टिकोण के तहत् 'मानव' को सर्वोत्कृष्ट स्थान प्रदान किया। इनका विचार है कि मानवीय प्रकृति में अपार संभावनाएँ निहित हैं, हम संसार की पुनर्रचना कर सकते हैं, अपने चरित्र में जो त्रुटियाँ हैं, उन्हें दूर कर सकते हैं। प्रकृति मानव इकाई में ही पूर्णता प्राप्त करती है, क्योंकि उसमें ही प्रकृति की सृजनात्मक प्रक्रिया का सर्वोत्तम रूप हमें देखने को मिलता है। कृष्णमूर्ति किसी भी प्रकार की प्रतिबद्धता के विरोधी हैं। प्रतिबद्धताविहीन सक्रियता के वे समर्थक हैं। मनुष्य का सच्चा पथ प्रदर्शक तो उसकी आत्मा ही है। सच्ची स्वतंत्रता मनुष्य अपनी ही अन्तरात्मा से प्राप्त करता है। सच्ची स्वतंत्रता से तात्पर्य किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं है, वरन् अज्ञान के परतों को हटाकर अपने ही स्वरूप की प्राप्ति है।

कृष्णमूर्ति के अनुसार समाज में जो विकृतियाँ हैं, वे जानबूझ कर सुनियोजित तरीके से समाज का शोषण करनेवाले वर्ग ने पैदा की है। यह वर्ग बिल्कुल नहीं चाहता है कि विवेक समस्त समाज का निर्माण हो। क्योंकि यदि ऐसा हो गया तो फिर शोषक वर्ग की सुविधाएँ समाप्त हो जाएँगी। शोषक वर्ग धार्मिकता की रामनामी ओढ़े रहता है, जबकि वास्तव में सच्ची धार्मिकता का विरोधी वही होता है। कृष्णमूर्ति सभी प्रकार की भ्रान्तियों से मुक्त होने की बात करते हैं। भ्रांतियों से मुक्त मस्तिष्क ही वस्तुतः नूतन के बोध एवं सृजन में समर्थ है। आवश्यकता है मनुष्य के आंतरिक रूपान्तर की, जो मनुष्य की

आत्मा को आध्यात्मिक अनुभूति से आलोकित करने में समर्थ हो, तभी समाज में समता, स्वतंत्रता एवं न्याय की भावना से आलोकित हो सकेगी, इसके लिए मनुष्य को उसकी समग्रता में समझना होगा। कृष्णमूर्ति का दर्शन सतत् संघर्षशील होने की प्रेरणा देता है। मनुष्य संघर्षशील होकर ही अस्तित्ववान होता है। मनुष्य अपने जीवन को स्वयं ही दिशा दे सकता है। हम अपने रचियता स्वयं हैं। अतीत वर्त्तमान में प्रवाहित है और भविष्य वैसा ही बनता है, जैसा कि हम उसे बनाना चाहते हैं। मनुष्य स्वतंत्र है और अपने कार्यों के लिए स्वयं ही उत्तरदायी है। जे. कृष्णमूर्ति का प्रखर चिंतन पूर्व मान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों पर तीखा प्रहार करता है। उनकी दृष्टि में आदर्श एक छद्म् है। वे मुक्त मन पर अत्यन्त बल देते हैं तथा नित्य परिवर्तनशील जगत की खोज को ही मानव जीवन का चरम आकांक्षा स्वीकार करते हैं। फ्रीडम फ्रॉम दी नोन, प्रथम और अंतिम मुक्ति, दि बुक ऑफ लाईफ आदि इनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

आधुनिक समकालीन दार्शनिकों में डॉ. राधाकृष्ण (1888–1975) का स्थान महत्वपूर्ण है, जिन्होंने अपने विचार, दर्शन और कर्म से मानव समाज को महत्वपूर्ण अवदान दिया। भारतीय दर्शन एवं धर्म का उनका गहन ज्ञान के साथ–साथ पाश्चात्य दर्शन और विचारों की व्यापक जानकारी तथा इन दोनों की तुलना एवं समीक्षा के आधार पर दार्शनिक संरचना का इनका सतत् प्रयत्न उन्हें पूर्व तथा पश्चिम के बीच सेतू बनाने वाला एकमात्र चिंतक के रूप में प्रतिष्ठित किया। राधाकृष्ण की प्रतिभा के कारण ही उन्हें देश–विदेश में एक के बाद एक प्रतिष्ठित पदों को संभालने का आमंत्रण मिलता रहा। उनकी विशिष्टता यह थी इन पदों पर रहते हुए भी उन्होंने सृजनात्मकता एवं लेखन के कार्य को भी आगे बढ़ाया। यद्यपि राधाकृष्णन के अपने दार्शनिक विचारों की मूल अवधारणायें सामान्यतः भारतीय दर्शन से तथा प्रधानतः वेदान्त से ली हुई है तथापि उनकी विशेषता यह रही कि भारतीय विचारों को भी स्पष्टरूप में पाश्चात्य विचारों के मॉडलों एवं भाषीय ढंगों में व्यक्त किया। फलतः भारतीय दर्शन का उनके द्वारा प्रस्तुत इतिहास अपने पारम्परिक बंधनों से मुक्त हुआ, नवीन रूप में प्रदत्त हुआ।

विश्व की वर्तमान स्थिति का अवलोकन करते हुए वे कहते हैं कि औद्योगिक और तकनीकि प्रगति के बावजूद मनुष्य अपने को आज असुरक्षित और असहाय अनुभव कर रहा है। बुद्धि के चतुर्दिक विलास और अप्रत्याशित सफलताओं के कारण पुरातन मूल्यों, नीति में, आध्यात्म में उसका विश्वास सहज ही नष्ट हो गया है। किन्तु उस आस्था के समर्पण के पश्चात् उसे ऐसा कुछ भी नहीं प्राप्त हो सका है, जो उसे आश्वस्त कर सके। मानव के अंतस की शून्यता की दृष्टि से युग की विशेषताओं को व्यंजित करते हुए वे कहते हैं कि, यह आध्यात्मिक खोखलेपन, नैतिक भ्रामकता तथा सामाजिक अराजकता का युग है। यह 'आर्थिक' तथा बौद्धिक नृशंसकता का युग है। मानव अपने 'पौरुष' में आस्था रखने लगा है, परिणामस्वरूप वह अपने पुनरूत्थान के स्रोत से विमुक्त और अंदर से निष्प्राण हो चुका है। यदि उसे शून्यता से उसे मुक्ति पानी है और जीवन को पुनरूज्जीवित करना है, अर्थात् उसे सक्रिय एवं सशक्त बनाना है, तो अध्यात्म की ओर उसे पुनः प्रेरित होना होगा। आध्यात्मिक आकांक्षाओं से युक्त मानव ही जीवन को सही दिशा प्रदान कर सकेगा, ऐसा उनका विश्वास है।

'कन्टम्परेरी इण्डिया फिलॉसफी' में अपने इस विश्वास को व्यक्त करते हुए राधाकृष्णन कहते हैं कि 'जब आध्यात्मिक जीवन भीतर से मानव को रूपांतरित एवं आलोकित करेगा, तभी इस पृथ्वी का नवीनीकरण संभव होगा। अध्यात्म से प्रेरित धर्म एक ऐसा धर्म होगा, जो जीवन को उसकी सोद्देश्यता प्रदान करेगा, जो उसे हमसे किसी प्रकार के पलायन तथा ''द्वयर्थकता की अपेक्षा नहीं होगा, जो जीवन

के यथार्थ एवं आदर्श गद्य एवं काव्य को समन्वित करेगा। जो जीवन की गहराइयों से हमारा आह्वान करेगा और हमें संपूर्णतः संतुष्ट करेगा, आलोचनात्मक बुद्धि तथा सक्रिय इच्छाओं दोनों ही को संपूर्ण रूप से संतुष्ट करेगा और इस प्रकार के धर्म की आज की आवश्यकता है। राधाकृष्णन के अनुसार आध्यात्मिक आज की आवश्यकता है। राधाकृष्णन के अनुसार आध्यात्मिक आकांक्षाओं की उपेक्षा यह अधिक समय तक नहीं कर सकते हैं। वर्तमान व्याधि एवं अराजकता की स्थिति आगामी शांति एवं व्यवस्थापूर्ण स्थिति के अवतरण की तैयारी मात्र है।'' हमें तो वर्तमान विशृंखलित तत्वों में व्यवस्था लानी है और तब अशांति के स्थान पर शांति की निश्चित स्थापना हो जायेगी इस तरह राधाकृष्णन एक आशावादी दार्शनिक हैं, जो मानव एवं विश्व दोनों को आध्यात्मिकता की ओर निरंतर अग्रसर स्वीकारते हैं। पूर्ण आध्यात्मिकता ही दोनों की अंतिम मंजिल है, उसका चरम भाग्य है। भारतीय दर्शन, दि हिन्दू व्यू ऑफ लाइफ, पूर्वी धर्म और पश्चिमी विचार आदि उनकी प्रमुख पुस्तकें हैं। राधाकृष्णन के समान ही कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य (1875–1949) भी समकालीन भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं। दोनों ही पाश्चात्य परम्परा से भलीभांति परिचित थे और उसी के संदर्भ में वे भारतीय दर्शन विशेषतः वेदान्त के विचारों की सार्थकता एवं परिपक्वता का समर्थन करते हैं। परंतु राधाकृष्णन का दर्शन व्यावहारिक जीवन से संबद्ध दर्शन है। यह विश्व की समस्याओं की गंभीर विश्लेषण एवं उनके निदान को प्रस्तुत करने की चेष्टा करते हैं। जबकि भट्टाचार्य अंतर्मुखी प्रवृत्ति के दार्शनिक हैं। उनका दर्शन गंभीर एवं परिपक्व विश्लेषणात्मक दृष्टि का परिणाम है। वे भी शास्त्रीय वेदान्ती दृष्टि के ही पोषक हैं। दार्शनिक जगत को उनके योगदान का महत्व कम ही स्पष्ट हैं, क्योंकि उनकी भाषा दुरुह और विचार सरलता से ग्राह्य नहीं हो पाते। इसके बावजूद उनके दार्शनिक विचारों का महत्व कम नहीं हो जाता। प्रो. बसन्त कुमार लाल के अनुसार, ''कृष्णचन्द्र भट्टाचार्य को प्राचीन भारतीय विधा का गहन अध्ययन था विशेषतः उन्होंने अद्वैत वेदान्त, सांख्य, योग तथा जैन दर्शनों का विशेष अध्ययन किया था। पारम्परिक जर्मन दर्शन का विशेषतः कान्ट के दर्शन का उन्हें विशेष ज्ञान था। इस विशद् अध्ययन की पृष्ठभूमि में उनकी पैनी दार्शनिक दृष्टि संवरती रही। इस दृष्टि की मौलिकता एवं सृजनात्मक शक्ति उन्हें सृजनात्मक दार्शनिक रचनाओं की ओर प्रेरित करती है।[8]

आधुनिक दार्शनिकों में डॉ. भीमराव अम्बेडकर (1891–1956) का दर्शन सामाजिक जागरुकता लाने में एक प्रमुख स्थान रखता है। उन्होंने अपना समस्त जीवन समग्र भारत के अस्सी प्रतिशत दलित–पिछड़े जो सामाजिक तौर पर पीड़ित थे, आर्थिक रूप से वंचित, सबसे निम्न स्तर के, सबसे पिछड़े हुए, जो दास या शूद्र थे, उन्हें इस अभिशाप से मुक्ति दिलाना ही, उनके जीवन का संकल्प था। अम्बेडकर भारत की जाति–व्यवस्था को समूल नष्ट करने के पक्षधर थे। उन्होंने कहा है, ''जितने दिनों तक जाति–व्यवस्था को जड़ से निर्मूल नहीं किया जाएगा, जब तक देश में अमीर–गरीब का वर्गभेद नहीं मिटेगा। वर्गहीन समाज गढ़ने से पहले समाज को जातिविहीन करना होगा, इसके बाद ही वर्ग विहीन समाज की रचना संभव होगा। अंबेडकर ने संपूर्ण विश्व के इतिहास का सूक्ष्म अवलोकन किया और इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ''पृथ्वी के सभी देशों के जन समाज में दास या निम्न वर्ग हमेशा मौजूद हैं या थे। रोमन लोगों के यहां भूमिदास, अमेरिकन के यहां नीग्रो, जर्मन लोगों को यहां यहूदी और हिन्दुओं के यहां अछूत। इनके यहां अछूत सिर्फ घृणा के ही पात्र नहीं हैं, बल्कि जीवन में तरक्की के तमाम अधिकारों से भी उन लोगों को वंचित रखा जाता है।

डॉ. अम्बेडकर के अनुसार देश के श्रमिक वर्ग के सबसे बड़े दुश्मन दो हैं – एक है, धनतंत्र और दूसरा ब्राह्मणवाद। धनतंत्र ने इस देश में वर्ग अत्याचार को जन्म दिया और ब्राह्मणवाद या पुरोहितवाद ने सामाजिक नाइंसाफी, वर्णगत आभिजात्य, हीनता और घृणा को बढ़ावा दिया। भारतीय समाज में श्रेणी और वर्ण, दो भयंकर और असाध्य रोग मौजूद हैं। इनमें से एक पूंजीवाद की देन है और दूसरा सामन्तवाद का दान। हमारे देश में गणतांत्रिक आंदोलनों में न्याय–विचार का प्रांगण तरह–तरह से उपेक्षित रहा है। राजनैतिक आंदोलनों के तथाकथित नेतागण, ज्यादातर वर्णवाद के मानसिक अहंकार या हीनता के शिकार हो जाते है। उनका राजनैतिक प्रवचन भी ज्यादातर वर्ण – अहंकार के घात–प्रतिधात से बेरंग हो जाता है। अंबेडकर ने दलित एवं सताये हुए जनता से आह्वान किया, ''छीने हुए अधिकार भीख में नहीं मिलते। प्रवंचकों के आगे गिड़गिड़ाने से भी प्राप्त नहीं होते। अधिकार वसूल करना होता है, अविराम संघर्ष के माध्यम से। देवपूजा में बकरी की बलि दी जाती है, सिंह की नहीं।'' यह वीरत्वपूर्ण, अथक संघर्ष ही आज भारतवर्ष के दलित, शोषित, श्रेणीहीन, वर्गहीन, नई मानव–मुक्ति का संग्राम है। यह समता और सम्मान की जंग है, श्रेणी और जात–पांत उच्छेद की यह आखिरी लड़ाई है। यह इंसान के अधिकार और रोटी का विरामहीन आंदोलन है, जिसकी ज्योति डॉ. भीमराव अंबेडकर ने चलायी थी। जाति प्रथा का विनाश, शूद्राज, द बुद्ध ऍंड हिज़ धम्म, वेटिंग फॉर वीजा आदि उनकी प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

समकालीन युग के चिंतक समाज सुधारक एवं उच्च कोटि के दार्शनिक ज्योतिबा फुले (1827–1890) ने समाज को महत्वपूर्ण अवदान दिया। फुले ने ब्राह्मणवाद के खिलाफ समझौता हीन संघर्ष चलाया। उन्होंने शूद्रों एवं अतिशूद्रों (दलितों) को संगठित किया। वे इन दोनों में अति शूद्रों को ज्यादा उत्पीड़ित मानते थे। इन दोनों समूहों को मिला कर ही उत्पीड़ित जनता का वृहत्तर समाज बनता है। फुले ने ब्राह्मणवाद की तीखी आलोचना करते हुए उसे आम जनता में प्रचारित–प्रसारित किया। अपनी व्याख्या के क्रम में पौराणिक मिथकों की नई–नई व्याख्याएँ दीं। यहां तक कि विष्णु के अवतार को भारत पर हमलावर रूप में विश्लेषित किया। वह राक्षसों को जनता के हीरो मानते थे। उनकी व्याख्या का केंद्रीय चरित्र बालि राजा था। मिथकों की नई व्याख्या में फुले ने बालि को महाराष्ट्र का राजा बताया। फुले की व्याख्या और पुनर्व्याख्या का यह प्रभाव पड़ा कि लोग कहने लगे कि 'समस्याएँ और दुःख जाएँगे और बालि का राज्य आएगा। फुले के प्रभावस्वरूप गैर–वैदिक ईश्वरों के उत्सवों–जलसों का महाराष्ट्र के विभिन्न इलाकों में आयोजन हुआ। बालि राजा के इर्द–गिर्द जो प्रभाव मंडल खड़ा किया उससे किसान वर्ग में जागृति पैदा हुई, वे इसे अपना प्रतिनिधि मानने लगे। वेद, आर्य एवं जाति के खिलाफ विचारधारात्मक संघर्ष के उपकरण के रूप में फुले ने कविता, संवाद एवं नाट्य विधा का सशक्त रूप में इस्तेमाल किया।

इतिहास को फुले ने सिर्फ विचारधारा और संस्कृति पर ही केंद्रित नहीं किया, अपितु हिंसा और हमलावर कार्रवाइयों को भी निशान बनाया। ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया में हिंसा एवं बल प्रयोग केन्द्रीय तत्व रहे हैं। वर्चस्वशाली तबकों को इन्हीं के जरिए अपना उत्पीड़न–शोषण एवं वर्चस्व बनाने में मदद मिलती है। फुले के चिन्तन में आर्थिक शोषण और सांस्कृतिक वर्चस्व को अंतर्ग्रथित रूप में देखा जा सकता है। इसके अलावा स्त्रियों की दुर्दशा और उसके सुधार के लिए भी उन्होंने महत्वपूर्ण कार्य किये। साथ ही पर्यावरण संरक्षण को भी अपना एजेंडा बनाया। फुले के अनुसार ज्ञान, शिक्षा और विज्ञान ये शोषित के विकास के अस्त्र हैं। फुले का यह नजरिया अभिजनवादी एवं पश्चिमी नजरिए के एकदम

विपरीत है, जो यह मानकर चलता है कि भारतीय तो अपनी ब्राह्मणवादी परम्पराएँ रखना चाहते हैं, विज्ञान एवं तकनीकि का तो वे मात्र भौतिक विकास के लिए इस्तेमाल करना चाहते हैं। इसके विपरीत फुले के लिए विधा या ज्ञान 'ब्राह्मणवादी' संस्कारवादी शास्त्र से भिन्न अर्थ था। यह उनके लिए समानता, मानव स्वतंत्रता और आर्थिक विकास का अस्त्र था। यह उत्तर–आधुनिक चिन्तकों से एकदम विपरीत नजरिया है। जी.पी. देशपांडे के अनुसार, 'ज्योतिबा फुले, सार्वभौम विचारधारा के निर्माण की कोशिश कर रहे थे। वे शूद्र एवं अतिशूद्र को जाति के रूप में देखने के बजाए किसान समुदाय के साथ जोड़कर देखते थे।

ज्योतिबा फुले ने समान अधिकार और समानता के मूल्य पर बल दिया तथा 'वर्चस्व' को चुनौती दी। समानता की वकालत करते हुए परंपरागत मूल्य संरचना वाली जाति–व्यवस्था को चुनौती दी। उच्च ब्राह्मण जातियों को ब्रिटिश युग में जो श्रेष्ठत्व मिला था, वह भी उनके निशाने के केंद्र में था। इस कार्य में सबसे पहले उन्होंने शिक्षा के क्षेत्र को चुना। शिक्षा सिर्फ मस्तिष्क को उदार बनाने के लिए जरूरी नहीं है, अपितु आर्थिक सुरक्षा और सामाजिक गतिशीलता का भी प्रमुख कारण है, यह फुले का विचार है। गुलामगिरी इतनी प्रसिद्ध पुस्तकों में से एक है।

पारम्परिक दर्शन में अधिकांश दर्शनों में जीवन, मृत्यु और मोक्ष से जुड़कर अध्यात्मवाद पैदा हुआ है और यह अध्यात्मवाद चार्वाक दर्शन को छोड़कर संपूर्ण भारतीय दर्शन पर व्याप्त है। आधुनिक भारतीय दार्शनिकों में अधिकांश विचारक प्राचीन भारतीय चिंतनधारा के प्रति अपार श्रद्धा रखते हैं। अधिकांश विचारक वेदान्त से प्रभावित हैं। इसके बावजूद सभी आधुनिक चिन्तक मानव एवं समाज से जुड़ी व्यवहारिक समस्याओं को अपने दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान देते हैं। आधुनिक चिन्तकों के विचारों ने मानव समाज पर गहरा प्रभाव छोड़ा। उनके विचारों से मानव क्षमता के प्रति एक नयी चेतना का जन्म हुआ। उन्होंने भारतीय दार्शनिक चिन्तन को पारलौकिक एवं अमूर्त्तता की अवधारणा से नीचे उतारकर यथार्थ की आशावादी धरती पर लाने का प्रयत्न किया। साथ ही उन्होंने भाग्यवाद के सिद्धान्त से उद्‌भूत पुराने मूल्यों के स्थान पर सृजनात्मकता, मानव गरिमा और स्वतंत्रता के नये मूल्यों को स्थापित करने का भरपूर प्रयास किया।

संदर्भ

1. सिन्हा, प्रो. हरेन्द्र पसाद, भारतीय दर्शन की रूपरेखा, मोतीलाल बनारसीदास, नई दिल्ली, 2009, पृ.10
2. लाल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2005, VIII
3. दामोदरन, के., 'भारतीय चिन्तन परम्परा,' पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस प्रा. लि., नई दिल्ली, 2001, पृ.361
4. लाल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2005, पृ.80
5. गांधी, एम.के., 'हरिजन', 2004, 20.4.40, पृ.97
6. सक्सेना, प्रो. लक्ष्मी, समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2005, पृ.156
7. दामोदरन, के., 'भारतीय चिन्तन परम्परा,' पीपुल्स पब्लि हा. प्रा. लि., नई दिल्ली, 2001, पृ.456
8. लाल, बसन्त कुमार, समकालीन भारतीय दर्शन, उत्तर प्रदेश, हिन्दी संस्थान, लखनऊ, 2005, पृ.274

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

वर्तमान युग में कबीर की प्रासंगिकता

डॉ0 जयप्रकाश सिंह यादव
सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग
समता पी0जी0 कॉलेज, सादात, गाजीपुर

कबीर निर्गुण भक्तिधारा के न केवल प्रतिनिधि कवि हैं, अपितु हिन्दी साहित्य में उनका महत्वपूर्ण स्थान है। कबीर की प्रासंगिकता किसी काल विशेष तक सीमित नहीं की जा सकती। कबीर जितना मध्य युग में प्रासंगिक थे, उतने आज भी हैं। उनके पद में जिन सामाजिक विसंगतियों को दिखाने का प्रयास किया गया है वह हूबहू आज भी विद्यमान हैं। जब तक राष्ट्र के भीतर मानव और मानव के लिए विभाजन के रूप में बने रहेंगे, बड़े और छोटे का भाव रहेगा, तब तक कबीर साहब के पद भी प्रासंगिक रहेंगे। कबीर न केवल एक समाज सुधारक थे अपितु आत्मा की अभिव्यक्ति और ईश्वरी तत्व को व्याख्यायित करने वाले एक आध्यात्मिक संत थे। कबीर साहब ने अपने पद में आत्मा और परमात्मा के जिस रूप को दिखाने का प्रयास किया है, वह शंकर के अद्वैतवाद और इस्लाम धर्म के एकेश्वरवाद से प्रभावित है। इनकी भाषा–शैली को हम देखें तो भोजपुरी से लेकर सुदूर पश्चिम के राजस्थान की भाषा इनके पदों में देखने को मिलते हैं। कबीर साहब ने पुस्तकीय ज्ञान पर बहुत प्रहार किया है और उसके जगह पर अनुभव ज्ञान को अर्थात् तर्क और अनुभव को पुस्तकीय ज्ञान से उच्च साबित किया है। कबीर पढ़े–लिखे नहीं थे किन्तु उन्हें अनपढ़ नहीं कह सकते। समाज में व्याप्त इन समस्त बुराइयों पर कबीर की दृष्टि जाती है। आज हम देखते हैं कि हिन्दू–मुस्लिम की समस्या ज्यों की त्यों बनी हुई है। इन दोनों धर्मों के पुरोधा, पण्डित और मुल्ला को कबीर ने फटकारा और यह बताने का प्रयास किया कि किस तरह से अपने राजनैतिक स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए धर्म को राह बनाते हैं–''इन दोऊन राह न पाई'' कहकर इन दोनों धर्म के सार तत्व को कबीर साहब ने दिखाने का प्रयास किया। कबीर स्व की अनुभूति को परानुभूति में व्यक्त करने का हरदम प्रयास किया। 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के भाव कबीर के पद में सहज ही देखने को मिलता है।

कबीर ने मानव मूल्य की स्थापना के लिए छुआछूत को कोढ़ माना। वह कहते हैं कि क्या ब्राह्मण की नाड़ी में दूध बहता है और हमारी नाड़ी में खून, वेद में भी कहा गया है कि –'जन्मनाः जायते इति–शुद्रः' हर व्यक्ति जन्मना शुद्र होता है। आगे चलकर अपने कर्मों द्वारा वह अपने को समाज में स्थापित करता है।

मध्ययुगीन साहित्य परम्परा में यह देखने को मिलता है, जितने भी संत हैं वे निम्न वर्ण के हैं। उनके पास ईश्वरीय चिंतन के सिवा और कुछ करने की कोई दूसरी युक्ति नहीं है, ऐसे में वे करते क्या? कबीर ने मानवीय मूल्य की स्थापना के लिए जिन तर्कों का सहारा लिया, वे वेद सम्मत हैं। ऐसा

नहीं है कि तर्क का सहारा लेकर कबीर कुछ थोपने का प्रयास करते हैं। निश्चय ही बाह्याडम्बर में इतना व्याप्त हो गया था कि ईश्वर की उपासना के नाम पर मंदिर, मठ और खामखाह में ईश्वर उपासना के नाम पर वासना की तृप्ति की जाती थी। कहीं न कहीं कबीर को इस व्यवस्था से चिढ़ थी और वे डटकर इसका मुकाबला किये। 'अरे इन दोउन राह न पाई' कहकर कबीर ने धर्म के भीतर आयी हुई सामाजिक बुराइयों पर सबका ध्यान आकर्षित किया। निश्चय ही वे जिस काल–परिवेश में थे उस समय सामाजिक व्यवस्था वर्णाश्रम पद्धति पर आधारित थी। समाज में सबसे दयनीय स्थिति शुद्र की थी और उसके ऊपर अमानवीय अत्याचार किये जा रहे थे। समाज में कुछ लोग 'तिलक' और 'छापे' के नाम पर आराम से जीवन–यापन कर रहे थे। 'नारि मुए हुए संन्यासी' पत्नी के मरने के बाद गृहस्थ धर्म को छोड़कर संन्यासी होने की प्रवृत्ति उस समय जाहिर थी, कबीर साहब ने इसका विरोध किया। विश्व के किसी भी धर्म और दर्शन में युवावर्ग के लिए संन्यास की व्यवस्था नहीं है, यदि देश का युवा सामाजिक चुनौतियों से जूझने के बजाय सामाजिक जीवन से पलायन करेगा, उस देश का क्या होगा? ऐसे में कबीर ने गृहस्थ धर्म को स्वीकारते हुए संत धर्म, यहाँ 'संत' से तात्पर्य गृहत्यागी से नहीं अपितु समतामूलक दृष्टि स्थापित करने वाले उस व्यक्ति से है जो सबके भीतर समदृष्टि रखता हो कबीर साहब ने इसे यथार्थ रूप में परिणाम करके दिखाया।

'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' कबीर को मध्ययुग की एक महान् उपलब्धि मानते हैं। मध्ययुग में कबीर का आगमन आदिकाल और आधुनिक काल दोनों को प्रभावित किया। आज हम वैश्विक परिप्रेक्ष्य पर दृष्टिपात करें तो मिस्र, लिबिया के उदाहरण हमारे सामने हैं, जहाँ पर तानाशाही के खिलाफ जन–सामान्य का जागरूक होना, सत्ता में सहभागिता को अपना मौलिक अधिकार मानते हुए सत्ता के लिए संघर्ष कबीर की वाणी की देन है। ईश्वरीय व्यवस्था में यदि मानव दखलंदाजी करता है तो इस तरह की स्थिति बनेगी। जब–तक समतामूलक दृष्टि नहीं स्थापित की जायेगी, तब–तक हम, एक आदर्श–राज्य की स्थापना नहीं कर सकते। कबीर जिस परिवार में पले–बढ़े थे उसके भीतर हिन्दू और मुसलमान दोनों के संस्कार उनमें विद्यमान थे। वे हिन्दू होकर हिन्दू नहीं थे, मुसलमान होकर मुसलमान नहीं थे, गृहस्थ होकर गृहस्थ नहीं थे, ऐसे में ईश्वर द्वारा अपने आप में न्यारे थे।

'जाति–पाति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' की अवधारणा से पता चलता है कि कबीर ने यह पहले ही महसूस कर लिया था कि यह जो जातिगत विषमता समाज में विद्यमान है, वह कभी आगे नहीं बढ़ने देगी। आज भी यहाँ देखने को मिल रहा है कि ज्ञानी से अज्ञानी तक सबके भीतर अपनी जाति, अपने लोग और भाई–भतीजावाद किस सीमा तक खरा है। आज के कई सौ वर्ष पहले कबीर ने इसे महसूस कर लिया था कि मानव अपने आप में इतना सिमट जाएगा कि उसे अपने पड़ोसी तक की चिंता नहीं रहेगी। दिखावा के नाम पर लोग हजारों खर्च कर सकते हैं किन्तु एक जरूरतमंद की मदद नहीं कर सकते। सही में एक जरूरतमंद के कंधे पर हाथ रख दो और उसे यह एहसास करा दो कि मैं तुम्हारे साथ हूँ, यह मानवता की सबसे बड़ी पूजा हुई। ईश्वर का वह स्वरूप इस मानव रूप में हमारे सम्मुख उपस्थित है। उसे उपेक्षित करके हम ईश्वर को खुश नहीं कर सकते। आज हम देख रहे हैं कि किस तरह से साम्प्रदायिक उन्माद जगह–जगह भड़क रहे हैं। व्यवस्था के नाम पर पानी की

तरह पैसे बहाये जा रहे हैं। राजनैतिक व भौगोलिक रेखा खींचकर मानव को मानव से अलग किया जा रहा है। इन सभी हलचलों को कबीर जैसा युगस्रष्टा पहले ही महसूस कर चुका था। जिसे मिटाने का हर संभव प्रयास कबीर साहब ने किया।

कबीर के भीतर कहने की अद्‌भूत क्षमता थी। उन्होंने जिस समाज को देखा उसे उसी रूप में अभिव्यक्त किया। अभिव्यक्ति की क्षमता 'आचार्य रामचंद्र शुक्ल' के अनुसार कबीर में अधिक थी। कबीर ने ऐसे समय में समाज के एक बड़े हिस्से को संभालने का कार्य किया, नहीं तो समाज कई रूपों में विभाजित हो जाता और आज उसे संभालने में और दिक्कत होती। कबीर की प्रासंगिकता जितनी मध्ययुग में थी उससे कहीं ज्यादा आज है। काल की कपाल से उनकी रचनाएँ अपना प्रभाव छोड़ती हैं। कबीर जिस व्यंग्य का सहारा लेकर समाज सुधारने का प्रयास किये वह आधुनिक साहित्य का अचूक स्तर है।

अतः हम कह सकते हैं कि कबीर साहब ने सामान्य विश्वास के सहारे जीने वाले समाज के भीतर निज के विवेक से छान–घोटकर एक ऐसा रसायन निर्मित कर दिया जो अपने आप में बेजोड़ है। वह हिन्दुओं के लिए भक्त, मुसलमानों के लिए पीर, सिक्खों के लिए भक्त, अपने अनुयायियों के लिए अवतार, आधुनिक राष्ट्रवादियों के लिये मुस्लिमऐक्य विधायक, नव्यवेदान्तियों के लिए मानवधर्म प्रवर्तक तथा आधुनिक प्रगतिशील बुद्धिजीवियों के लिए समाज–सुधारक, जातिगत श्रेष्ठता के विरोधी, क्रान्तिकारी, समता, बन्धुत्व, न्याय अथवा एकत्व के प्रतिपादक के रूप में वरेण्य हैं। निष्कर्ष यह है कि वे सबके आदणीय हैं। मसि, कागज तथा कलम से अछूते, कागद की लेखी की अपेक्षा आँखिन देखी पर विश्वास करने वाले, आल–जाल पढ़ने की अपेक्षा गोपाल का पाठ रटने वाले कबीर तत्कालीन सामाजिक वर्जनाओं और चुनौतियों से जूझते हुए दृढ़ता के साथ एक नयी सामाजिकता का ढाँचा तैयार कर रहे थे। सम्भवतः उनकी इन्हीं विशेषताओं को देखकर 'आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी' ने लिखा कि–''जातिगत, कुलगत, धर्मगत, संस्कारगत, विश्वासगत, शास्त्रगत, सम्प्रदायगत बहुतेरी विशेषताओं के जाल को छिन्न करके ही वह आसन तैयार किया जा सकता है, जहाँ एक मनुष्य दूसरे से मनुष्य की हैसयित से मिले। जब तक यह नहीं होता, तब–तक अशान्ति रहेगी, मारा–मारी रहेगी, हिंसा–प्रतिस्पर्धा रहेगी, कबीर साहब ने इस महतिसाधना का बीज बोया था।'' यदि कबीर के विचार का सम्यक् आंकलन किया जाय तो आज के संदर्भ में कबीर के विचारों का पुनर्मूल्यांकन आवश्यक है। दुनिया के विचारकों के साथ–साथ कबीर के क्रान्तिकारी विचार चुनौती है। कबीर के विचारों के माध्यम से ही समता मूलक, धर्मनिरपेक्ष और समरस समाज का निर्माण संभव है।

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

भारत में कुपोषण एक चुनौती

प्रीति राय
सहायक अध्यापिका (गृह विज्ञान)
रामकृष्ण विद्या मन्दिर इण्टर कालेज
चाँदपुर, पटवध, आजमगढ़

कुपोषण वह अवस्था है जिसमें पौष्टिक पदार्थ और भोजन अव्यवस्थित रूप से होने के कारण शरीर को पूरा पोषण नहीं मिल पाता है। यह एक गंभीर स्थिति है। आज के बच्चे ही कल युवा होंगे और देश की प्रगति, सुरक्षा एवं संरक्षण का दायित्व इनके कंधों पर होगा। ऐसे में यह आवश्यक हो जाता है कि हम अपने भविष्य को कैसे सुरक्षित रखें? इसके लिए आवश्यक है कि ये बच्चे शारीरिक–मानसिक स्तर पर स्वस्थ व मजबूत बनें। लेकिन वास्तविकता यह है कि देश में कुपोषण की समस्या वर्तमान समय में विकराल रूप धारण कर चुकी है।

कुपोषण तब होता है जब किसी व्यक्ति के आहार में पोषक तत्वों की सही मात्रा नहीं होती है। दरअसल हम स्वस्थ रहने के लिये भोजन के जरिये ऊर्जा और पोषक तत्व प्राप्त करते हैं, लेकिन यदि भोजन में प्रोटीन, कार्बोज, वसा, विटामिन और खनिजों सहित पर्याप्त पोषक तत्व नहीं मिलते हैं तो हम कुपोषण के शिकार हो सकते हैं। कुपोषण तब भी होता है जब शरीर को उसकी आवश्यकता से अल्प पोषण या अतिपोषण प्राप्त होता है। दोनों ही स्थितियां कुपोषण को दर्शाती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन (W.H.O.) और यूनिसेफ के अनुसार कुपोषण के 3 प्रमुख लक्षण है।

नाटापन (Stunting) निर्बलता (Wasting) कम वजन (Under Weight)-

यद्यपि संविधान के अनु0 21 और अनु0 47 भारत सरकार को सभी नागरिकों के लिये पर्याप्त भोजन के साथ एक सम्मानित जीवन सुनिश्चित करने हेतु उचित उपाय करने के लिए बाध्य करते हैं। किन्तु भारतीय संविधान में भोजन के अधिकार को मौलिक अधिकार के रूप में मान्यता नहीं प्रदान की गई है। अनु0–21 के मुताबिक किसी भी व्यक्ति को उसके जीवन तथा निजी स्वतन्त्रता से वंचित नहीं किया जा सकता। वहीं संविधान के अनु0 47 के अनुसार, राज्य अपने लोगों के पोषाहार स्तर और जीवन स्तर को ऊँचा करने तथा लोक स्वास्थ्य में सुधार को अपने प्राथमिक कर्त्तव्यों में मनरेगा। इस तरह मूल अधिकार में अप्रत्यक्ष रूप से तथा नीति निर्देशक तत्वों में प्रत्यक्ष रूप से कुपोषण को खत्म करने की बात की गई है।

कुपोषण बच्चों को सबसे अधिक प्रभावित करता है। ऑकड़े बताते हैं कि छोटी उम्र के बच्चों की मौत का सबसे बड़ा कारण कुपोषण ही होता है। स्त्रियों में रक्ताल्पता या घेंघा रोग अथवा बच्चों में सूखा रोग या रतौंधी और यहाँ तक कि अंधत्व भी कुपोषण का ही दुष्परिणाम है। हर साल काफी मात्रा में बच्चे कुपोषण का शिकार हो रहे हैं, यह विश्व स्तर पर गम्भीर चिंता का कारण हो गया है। कुपोषण के प्रभाव विनाशकारी और दूरगामी हो सकते हैं, और इसके कारण बच्चे के विकास में रूकावट आना, मानसिक विकलांगता, जी.आई. ट्रैक्ट संक्रमण, एनीमिया और यहाँ तक कि मृत्यु भी हो सकती है।

कुपोषण केवल पोषक तत्वों की कमी के कारण ही नहीं होता, बल्कि इसके अत्यधिक सेवन के कारण भी होता है इसलिए बच्चे को पोषित और स्वस्थ रखने के लिए संतुलित आहार बहुत जरूरी है। कुपोषण के प्रकार को चार श्रेणियों में विभाजित किया जाता है।

कम वजन, एक ऐसी स्थिति है जहाँ वेस्टिंग या स्टंटिंग या दोनों के कारण बच्चे का उसकी उम्र के अनुसार वजन/लम्बाई में नहीं बढ़ता है। कुपोषण के इस प्रकर को असफल विकास कुपोषण के रूप में भी जाना जाता है।

स्टंटिंग की स्थिति बच्चे में जन्म से पहले गर्भावस्था के दौरान माँ के खराब स्वास्थ्य के कारण शुरू होती है, जिससे बच्चे में असामान्य और अनुपातहीन वृद्धि होती हे, यह दीर्घकालिक कुपोषण के रूप में भी जाना जाता है। बच्चे में स्टंटिंग होने के पीछे मुख्य कारण खराब स्तनपान, शरीर को पोषक तत्वों की अपर्याप्त आपूर्ति और निरंतर संक्रमण होना आदि है।

माइक्रोन्यूट्रिएंट बच्चों में सूक्ष्म पोषक तत्वों की कमी को दर्शाता है। इस स्थिति में बच्चों के शरीर में विटामिन 'A', 'B', 'C' और 'D' फोलेट कैल्शियम, आयोडीन जिंक और सेलेनियम की कमी को दर्शाता है। इन पोषक तत्वों की कमी के कारण बच्चों में अपर्याप्त विकास और एनीमिया अपर्याप्त मस्तिष्क विकास, थायरॉयड, रिकेट्स इम्युनिटी कमजोर होना, तंत्रिका का अधः पतन, नजर कमजोर होना और हड्डियों के अपर्याप्त विकास आदि जैसे रोग हो सकते हैं।

वेस्टिंग या तीव्र कुपोषण अचानक व बहुत अधिक वजन घटने की स्थिति है और इसके कुपोषण के तीन प्रकार होते हैं– क्वाशिरकोर की स्थिति में पैरों और पंजों में द्रव के अवरोध (बाइलेटरल पीटिंग एडिमा) के कारण कम पोषण के बावजूद बच्चा मोटा दिखता है। मरास्मस की स्थिति में वसा और प्रोटीन, शरीर में पोषक तत्वों की कमी की भरपाई करने के लिए बहुत अधिक मात्रा में कम हो जाते हैं जिससे बच्चे का शरीर सूख जाता है तथा यह शरीर में इम्युनिटी और आन्तरिक प्रक्रियाओं की गतिविधि को धीमा कर देता है। मरास्मिक – क्वाशिरकोर की स्थिति दोनों रोगों का मिश्रण है जिसमें गंम्भीर वेस्टिंग के साथ–साथ सूजन भी शामिल है।

पोषण की कमी और बीमारियाँ कुपोषण के सबसे प्रमुख कारण है। अशिक्षा और गरीबी के चलते भारतीयों के भोजन में आवश्यक पोषक तत्वों की कमी हो जाती है जिसके कारण कई प्रकार के रोग तथा बच्चे की मृत्यु तक हो जाती है। भारत में स्वास्थ्य सेवाओं की अनुपलब्धता भी बाल कुपोषण का कारण है। सरकारी आँकड़ों के मुताबिक भारत में लगभग 1700 मरीजों पर एक डॉक्टर उपलब्ध हो पाता है, जबकि वैश्विक स्तर पर 1700 मरीजों पर 15 डॉक्टर होते हैं। कुपोषण का बड़ा कारण लैंगिक असमानता भी है। भारतीय महिला के निम्न सामाजिक स्तर के कारण उसके भोजन की मात्रा और गुणवत्ता में पुरुष के भोजन की अपेक्षा कहीं अधिक अंतर होता है। लड़कियों का कम उम्र में विवाह होना और अल्पआयु में अपरिपक्व बच्चे का जन्म भी कुपोषण को बढ़ावा देता है। स्वच्छ पेयजल की अनुपलब्धता तथा गंदगी भी कुपोषण का एक बहुत बड़ा कारण है।

एक युवा कार्यशील जनसंख्या वाले देश में कुपोषण जैसी समस्या आर्थिक महाशक्ति बनने के प्रयासों में बाधक है। वर्ष 2015 की ग्लोबल हंगर इंडेक्स में भारत भूख से प्रभावित 20 सबसे बड़े देशों में एक था। दक्षिण एशियाई देशों में तो यह केवल अफगानिस्तान और पाकिस्तान से ही पीछे था। कुपोषण के कारण जी0डी0पी0 के 64 प्रतिशत हानि की वजह से भारत, इंडोनेशिया और फिलीपिंस जैसे देशों से बहुत पीछे हैं जहाँ जी0डी0पी0 क्रमशः 2.3 प्रतिशत और 1.5 प्रतिशत ही कुपोषण की भेंट चढ़ता है। तीव्र आर्थिक संवृद्धि के बावजूद भारत में कई दशकों से कुपोषण एक प्रमुख सामाजिक आर्थिक चुनौती के रूप में विद्यमान है। 2012 में विश्व बैंक द्वारा जारी रिपोर्ट के अनुसार स्वच्छता की कमी तथा

कुपोषण के कारण होने वाले रोगों की वजह से भारत को हर साल तकरीबन 53.8 अरब डॉलर का नुकसान होता है। बीते कुछ वर्षों में भारत में कुपोषण को लेकर नए सिरे से चर्चा शुरू हुई है। अक्टूबर 2019 में जारी वैश्विक भुखमरी सूचकांक में भारत 117 देशों में से 102वें स्थान पर रहा, जबकि वर्ष 2018 में भारत 103वें स्थान पर था। देश में कुपोषण की समस्या का मुद्दा हाल ही में वित्त मंत्री के बजट भाषण में भी देखने को मिली थी। वर्ष 2017 में स्वास्थ्य एवं परिवार कल्याण मंत्रालय द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017 जारी की गई थी, जिसमें नागरिकों की उत्पादकता पर कुपोषण के नकारात्मक प्रभाव और देश में मृत्यु दर में इसके योगदान पर प्रकाश डाला गया था।

विभिन्न राष्ट्रीय और अंतर्राष्ट्रीय अध्ययनों में कुपोषण के विभिन्न संकेतकों पर भारत का प्रदर्शन असंतोषजनक रहा है। यूनिसेफ (UNICEF) के अनुसार, वर्ष 2017 में सबसे कम वजन वाले बच्चों की संख्या वाले देशों में भारत 10वें स्थान पर था। इसके अलावा वर्ष 2019 में द लैसेंट नामक पत्रिका द्वारा जारी रिपोर्ट में यह बात सामने आई थी कि भारत में पाँच वर्ष से कम उम्र के बच्चों की 1.04 मिलियन मौतों में से तकरीबन दो–तिहाई की मृत्यु का कारण कुपोषण है। देश में फैले कुपोषण को लेकर उक्त आँकड़े काफी चिन्ताजनक हैं। अपनी हालिया रिपोर्ट में विश्व बैंक ने कहा था कि वर्ष 1990 से वर्ष 2018 के बीच भारत ने गरीबी से लड़ने के लिये अतुलनीय कार्य किया है। इससे देश में गरीबी दर में काफी गिरावट दर्ज की गई है। किन्तु कुपोषण और भूख की समस्या आज भी देश में बरकरार है। हाल ही में जारी द स्टेट ऑफ द वर्ल्ड्स चिल्ड्रन–2019 रिपोर्ट के अनुसार, विश्व में 5 वर्ष तक की उम्र में प्रत्येक 3 बच्चों में से एक बच्चा कुपोषण अथवा अल्पवजन की समस्या से ग्रस्त है। पूरे विश्व में लगभग 200 मिलियन तथा भारत में प्रत्येक दूसरा बच्चा कुपोषण से किसी न किसी रूप से ग्रस्त है। वर्ष 2018 में भारत में कुपोषण के कारण 5 वर्ष से कम उम्र के लगभग 8.8 लाख बच्चों की मृत्यु हुई थी। आँकड़े ये भी बताते हैं कि भारत में 6 से 23 महीने के कुल बच्चों में से मात्र 9.6 प्रतिशत को ही न्यूनतम स्वीकार्य आहार प्राप्त हो पाता है।

अर्थशास्त्र में नोबल पुरस्कार विजेता अमर्त्यसेन का कहना है कि देश में कुपोषण और भूख से पीड़ित बच्चों की स्थिति काफी खतरनाक है और इससे निपटने के लिए जल्द से जल्द नए विकल्प खोजा जाना चाहिए। भारत में बच्चों का न तो सही ढंग से इलाज हो पाता है और न ही उन्हें टीकाकरण का ही लाभ मिल पाता है। ऐसी स्थिति में समस्या और जटिल हो जाती है।

भारत सरकार द्वारा इस समस्या से निपटने के लिए 1993 में राष्ट्रीय पोषण नीति बनाई गई यह संस्था पोषण के स्तर की निगरानी करती है। मिड–डे–मिल कार्यक्रम की शुरूआत वर्ष 1995 में केन्द्र सरकार द्वारा प्रायोजित की गई। वर्ष 2004 में इसके कार्यक्रम में व्यापक परिवर्तन करते हुए मेनू आधारित पका हुआ गर्म भोजन देने की व्यवस्था प्रारम्भ की गई। महिला और बाल विकास मंत्रालय ने वर्ष 2019 में भारतीय पोषण कृषि कोष की स्थापना कुपोषण को दूर करने के लिए बहुक्षेत्रीय ढाँचा विकसित करके विविध फसलों के उत्पादन पर जोर दिया। वर्ष 2017 में महिला एवं बाल विकास मंत्रालय ने देश भर में कुपोषण की समस्या को संबोधित करने के लिये पोषण अभियान की शुरूआत की थी। इसका उद्देश्य देश भर में छोटे बच्चों, किशोरियों और महिलाओं में कुपोषण तथा एनीमिया को चरणबद्ध तरीके से कम करना है।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भोजन में पोषक तत्वों की कमी कुपोषण का सबसे प्रमुख कारण है किन्तु समाज के एक बड़े हिस्से में इस संबंध में जागरूकता की कमी स्पष्ट तौर पर दिखाई देती है। आवश्यकता है कि कुपोषण सम्बन्धी समस्याओं को संबोधित करने के लिये जल्द से जल्द आवश्यक कदम उठाए जाएँ ताकि देश के आर्थिक विकास में कुपोषण के कारण उत्पन्न बाधा को समाप्त किया जा सके।

भारत में कुपोषण की समस्या के समाधान हेतु सरकार के विभिन्न प्रयासों के बावजूद यह देश में एक गम्भीर समस्या के रूप में विद्यमान है। आज के समय में कुपोषण अंतर्राष्ट्रीय समुदाय के लिये चिंता का विषय बन गया है। सामान्य रूप में कुपोषण को चिकित्सीय मामला माना जाता है और हममे से अधिकतर सोचते हैं कि यह चिकित्सा का विषय है। वास्तव में कुपोषण बहुत सारे सामाजिक–राजनैतिक कारकों का परिणाम है। जब भूख और गरीबी राजनैतिक एजेण्डा की प्राथमिकता नहीं होती तो बड़ी तादाद में कुपोषण सतह पर उभरता है। भारत का उदाहरण ले जहां कुपोषण उससे अधिक गरीब और कम विकसित पड़ोसियों जैसे बंग्लादेश और नेपाल से भी अधिक है।

कुपोषण कार्यक्रमों और गतिविधियों से नहीं रूक सकता है। एक मजबूत जन समर्पण और पहल जरूरी है। जब तक खाद्य सुरक्षा के लिए दूरगामी नीतियां निर्धारित न हो और बच्चों को नीति निर्धारण तथा बजट आवंटन में प्राथमिकता न दी जाए तब तक कुपोषण की चुनौती के निवारण में प्रगति सम्भव नहीं है।

संदर्भ :

1. कुपोषण– कुछ बुनियादी बातें– चिन्मय मिश्र
2. कुपोषण से लड़ने की चुनौती– डॉ0 सुरजीत सिंह
3. कुपोषण मुक्त भारत AFEIAS.COM
4. www.articlepedia.in
5. www.jagranjosh.com
6. wikipedia.org.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

देशद्रोही कब्जाते किला और देशभक्त गड़ाते कील

भारतीय संविधान : क्षेत्रीय राजनीति

डॉ. रोहताश जमदग्नि
सचिवः भारत मातरम राष्ट्रपीठ
दिल्ली

भूमिका :

आज राष्ट्रीय पटल पर किसान आंदोलन की आड़ में विदेशी ताकतें जो प्रयोग कर रही हैं वहीं शाहीन बाग का प्रयोग भी उनका असफल रहा है। इन तीन कृषि कानूनों में क्या काला है आंदोलनकारी कोई नहीं बता पा रहा है लेकिन, वह जानता नहीं संयुक्त राष्ट्र विकास कार्यक्रम ने कृषि पर लागू करों का अध्ययन किया वे देश इस प्रकार हैं : केन्या, कैमरुन, पाकिस्तान, घाना। केन्या, पाकिस्तान में कृषि आयकर कानून है। कैमरून में कृषि पर आयकर का प्रस्ताव है। **'' 2013–14 में सीड्स नामक कंपनी ने 186 करोड़ रुपये की कृषि से अर्जित आय पर,मोनसेंटो इंडिया ने 94 करोड़ रुपये आय पर, मैक्लिओड़ रसेल ने 73 करोड़ आय पर, मध्य प्रदेश राज्य वन विकास निगम ने 62 करोड़ रुपये आय पर कर नहीं दिया। नेशनल इंस्टीटयूट ऑफ पब्लिक फाइनेंस एण्ड पॉलिसी के अनुसार कृषि आयकर से सरकार को करीब तीन लाख करोड़ रुपये सालाना मिल सकते है, जो मौजूदा राजस्व का 10 प्रतिशत है। कृषि को आयकर से मुक्त रखने का कोई आधार नहीं है। कृषि पर आयकर से सामाजिक न्याय सुनिश्चित होता है, क्योंकि अमीर से राजस्व वसूल करके आम आदमी के लिए खर्च किया जाता है।''** ऐसा आर्थिक मामलों के जानकार भरत झुनझुनवाला 23 फरवरी 2021 को दैनिक जागरण में लिख रहा है। मान लो कृषि आय पर भी कर सुनिश्चित होने वाला होगा। भारत का संविधान विश्व में सबसे बड़ा है। हमें मौलिक अधिकार व कर्त्तव्य मिले हुए हैं। हमें कर्त्तव्यों का बोध ही नहीं है। हम तो अधिकारों को पाने की ओर अग्रसर हैं। भाग तीन में अनुच्छेद 12 से 35 तक मूलाधिकार यूं हैं : समता का अधिकार, 14 से 18 **(21वीं सदी में भी रूढ़िवादिता पैर पसारे फैली पड़ी है)**, स्वतन्त्रता का अधिकार, 19 से 22 **(21वीं सदी में मादा की स्वतन्त्रता सिकुड़ी पड़ी है)**धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार, 25 से 28 **(21वीं सदी में चोटी–जनेऊ खालिस्तान–पाकिस्तान पड़ी है)** शिक्षा व संस्कृति का अधिकार, 29 से 30 **(21वीं सदी में गीता एकान्त पड़ी है)**संवैधानिक उपचारों का अधिकार, 32 **(21वीं सदी में भी हमें हमारे संविधान के मूल ढांचे का ढांचा मालूम नहीं है)**व्यावहारिकता व सैद्धान्तिकता में अन्तर समझो। ट्रम्प के उकसावे पर गणतान्त्रिक भीड़ संसद पर चढ़ गई। अमेरिकी कठोर संविधान है तभी तो अमेरिकी व्यवस्था इतनी मजबूत है शुरुआती गड़बड़ी के बाद कांग्रेस सुरक्षा व्यवस्था ने अपने राष्ट्रपति का हुक्म मानने से इंकार कर दिया। हम भारतीय तो सत्ता विसर्जन के बाद

भी कई पीढ़ियों तक गुलामी में जीते रहते हैं। पं. नेहरू गलत नहीं थे। नेहरू संस्कृति रूपी परम्परा से भारतीय लोकतन्त्र भीड़तन्त्र की ओर अग्रसर हुआ। इसका खामियाजा मोदी को सहना पड़ेगा–**लालकिले पर सिक्ख धर्म के ध्वजारोहण से देश सदमे में हैं।**यह बात सही है कि संविधान बनाने वाली सभा जनता ने नहीं चुनी थी। 1952 में चुनाव से पहले कांग्रेसाध्यक्ष पं. नेहरू को चुना गया तो 1951 में पं. नेहरू ने जालंधर जाकर **(देश में 300 से ज्यादा सभाएं की),** उन हिन्दू व सिक्ख श्रोताओं से प्रश्न किये जो पाकिस्तान में अपना सबकुछ गंवाकर आये थे। पं. नेहरू पूछते थे कि पड़ोसी धर्म आधारित हुकूमत रहेगी, क्या हमें हिन्दू राज कायम कर लेना चाहिए, जनता नकारती थी। जनता का फैसला पं. नेहरू ने मानकर सही किया कि पाकिस्तान 25 वर्षों में सैनिक लोकतन्त्र बन गया। भारत में संविधान था तो **मौलाना आजाद** ने कहा था कि ***"मुसलमानों को तब तक अपनी हिफाजत की चिंता नहीं करनी चाहिए, जब तक 26 जनवरी, 1950 को लागू हुआ भारतीय संविधान सुरक्षित है।"***[1] काम की संस्कृति से व्यवस्था का कायाकल्प होता है। **सिस्टर निवेदिता व श्रीमती लेमन के कथनों की प्रासंगिकता महसूस होती है। स्वामी विवेकानन्द ने श्रीमती लेमन से पूछा था कि उनका पहला प्यार अमेरिका में है। श्रीमती लेमन ने चौंकाते हुए पूछा कि कौन है वह भाग्यशाली लड़की, स्वामी जी! स्वामी विवेकानंद ने मुस्कराते हुए कहा था कि लड़की नहीं, परन्तु अमेरिकन काम–संस्कृति। स्वामी विवेकानंद ने यह भी कहा था कि प्राचीन धर्म मानता है कि नास्तिक वह है, जो ईश्वर में विश्वास नहीं करता, लेकिन मेरा मानना है कि नास्तिक वह है जो स्वयं पर विश्वास नहीं करता।**जबकि 1898 में कलकत्ता प्लेग के दौरान स्वामी विवेकानंद ने धनराशि के अभाव में मठ तक की जमीन मानव सेवा हेतु बेचनी निकाली थी। उसी परिप्रेक्ष्य में **8 अक्टूबर, 1993 को पेरिस में आयोजित विश्व धर्म संसद के शताब्दी समारोह में यूनेस्को के महानिदेशक फेडेरिका जारागोजा ने कहा था कि 1945 में स्थापित यूनेस्को के लक्ष्यों और शिक्षा संस्कृति, विज्ञान व सहिष्णुता के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द द्वारा 1897 में स्थापित राम कृष्ण मिशन के आदर्शों में अदभुत समानता है।**इतना ही नहीं, सिस्टर निवेदिता ने सम्पूर्ण सत्य कहा है **कि यदि रामकृष्ण परमहंस उस परम्परा के प्रतीक हैं जिस पर भारत ने पिछले 5000 वर्षों से चिन्तन किया है तो स्वामी विवेकानन्द उस सोच के प्रतीक हैं, जिस पर भारत अगले 1500 वर्षों तक चिन्तन करेगा।** स्वामी विवेकानन्द चलते–फिरते संविधान स्तम्भ रहेंगे, रहे हैं, रहे थे। भारतीय जनता को स्वामी विवेकानन्द की संस्कृति का अनुयायी होना चाहिए। सौ–सवा सौ सालों में भारत कहां आ गया और कहां जा रहा है, सोचने वाला प्रश्न है। **'निशान साहब' अर्थात खालिस्तानियों का झण्डा लाल किले की प्राचीर पर फहराना–लहराना एक युद्ध का संकेत है। आक्रान्ताओं व व्यापारियों से दो–दो हाथ करते हुए भारत माता के सुपुतों ने स्वतन्त्रता के पवित्र यज्ञ को अपने खून से सींचा है। 'भारत छोड़ो' आंदोलन जनसमुदाय का था जिसको महात्मा गांधी ने अपने नाम से जोड़ा। स्वतन्त्रता आंदोलन के तमाम संगठन व नेता भारत छोड़ो आंदोलन के समर्थक नहीं थे। याद कीजिए क्रमशः कम्युनिस्ट, आरएसएस, अम्बेडकर अन्यों संग भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस भी। 'भारत छोड़ो' का नारा यूसुफ मेहरली ने दिया तो कांग्रेस के महात्मा गांधी ने 'करो या मरो' का उदघोष देकर भारत छोडो आंदोलन की बागड़ोर अपने गले में डाली थी। आज लाल किला इतना सहाय क्यो? तिरंगा इतना सहमा, कैसे? जनता आजादी की कीमत जानती है व समझती है।**

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

अन्नदाता बनाम कामदाता

सर्वोच्च न्यायालय में एक याचिका आई है कि दो वर्ष से अधिक सजा पाए गए अपराधी पर चुनाव लड़ने हेतु आजीवन प्रतिबन्ध हो। आजकल सिर्फ छह वर्ष है। अपराध लोकार्पण हो, चुनाव आयोग की बेवसाइटपर हो, पार्टी कारण बताए, यह सब चलन में है मगर किसी पर कोई असर नहीं दिख रहा है तभी तो 2004 में 24 प्रतिशत, 2009 में 30 प्रतिशत, 2014 में 34 प्रतिशत तथा 2019 में 43 प्रतिशत अपराधी–दागी सांसद रहे हैं। 21वीं सदी के दो दशकों में दलों की राजनीति ने विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र को अपराधी संसद बना डाला है। अपराध मुक्ति की प्रक्रिया व राजनीतिज्ञों की सांठ–गांठ है। एक सफलता दिलवाता है, दूसरा मुक्ति दिलवाता है बनाम जीत और अपराध। कामदाता पर आरोप लगा नहीं, काम भी आता है, आजीवन प्रतिबन्ध भी लगता है, इतना ही नहीं, काम पर आने से पहले सम्बन्धित थाना आपराधिक टिप्पणी कर दे तो परीक्षा पास, फेल हो जाती है जबकि नेता जेल से आकर चुनाव लड़ता है और जेल में से भी चुनाव लड़ता रहता है। इस आपराधिक संस्कृति का जन्म बढ़ता जा रहा है क्योंकि हमारी न्यायिक व्यवस्था की पकड़ से बाहर होने के कारण काला कोट संविधान की मनमानी व्यवस्थाएं करके अनपढ़ो–गुंडो को रास्ता बताता रहता है और ये अनपढ़ व गुंडे संसद में सबकुछ पलट कर रख देते हैं जैसे **'शाहबानो केस'**। वोट आधारित चुनावों में हर प्रकार के असामाजिक तत्वों का आना लाजिमी है तथा लोकतन्त्र का भीड़तन्त्र में बदलना स्वाभाविक है। इस तरह के खतरे 1653 में इंग्लैण्ड ने भी सहे हैं। क्रामवेल ने अपराधियों से संसद छुड़वाई। भारतीयऑलिवर क्रॉमवेल के इंतजार में प्रतीक्षारत् हैं। क्रॉमवेल अपराधी जनप्रतिनिधियों के प्रति आंदोलनरत रहा। राहुल गांधी ने 50 वर्ष गाली देने में व्यतीत कर दिए मगर जो भी गाली देता है मोदी उसका आनन्द भी लेता है तथा फायदा भी उठाता है जैसे **'चौकीदार चोर है'** अंबानी–अदानी ने अपशब्द बोलना, कृषि कानूनों को अंबानी–आदाणी कानून कहना, या तो राहुल मोदी की गुजरात वाली पृष्ठभूमि में सन्देह के बीज बोना चाहते हैं या फिर आदाणी–अंबानी की निंदा का मतलब **क्रोनी–कैपिटलिज्म यानि सांठगांठ वाले पूंजीवाद से है।** परिणामतः मोदी के नीतिगत फैसलों से राहुल हारे ही हैं। ***रूचिर शर्मा, 'द राइज एंड फॉल ऑफ नेशंस' में लिखती हैं कि यह भारत का वह दौर था जिसमे छतरपुर (दिल्ली) के फार्म हाऊस पार्टियों में अधिकांश अतिथि या तो जमानत पर होते थे या जेल जाने की तैयारी में। ऐसे में जब राहुल 'आदाणी–अंबानी' जैसे जुमले फेंकते हैं तो वह न सिर्फ भ्रम फैलाते हैं, बल्कि संप्रंग सरकार के शासकीय अपराधों का ठीकरा भी मोदी शासन पर ही फोड़ते हैं।''***[2] मां–बेटा इन्हीं आदाणी–अंबानी से चंदा पाते हैं और चार्टेड विमान सेवा पाते हैं तब कारोबारियों को उद्योगों का लाइसेंस देते हैं। उद्योगपति सभी का सहयोग देकर रोजगार देते हुए बड़ी मात्रा में राष्ट्र के लिए सम्पदा सृजन करते हैं। आज की पीढ़ी मार्क्स और उनकी सन्तानों के बहकावे में नहीं आती, **कि दम मारो दम, मिट जाए गम।** वारेन बफे, स्टीव जॉब्स, इंदिरा नूई युवाओं के नए आदर्श हैं। उद्योगपति खलनायक थे कभी, आज नायकत्व का रूप ग्रहण कर रहे हैं जैसे–**मणिरत्नम जैसे दिग्गज फिल्मकार धीरूभाई अंबानी के जीवन पर 'गुरु' फिल्म बना चुके हैं।** जमाना बदल रहा है। ***''इट द रिच (1998) में पीटर जेक ओ रूर्क लिखते हैं ''क्यों कुछ स्थान अन्य जगहों से अधिक सम्पन्न होते हैं? वह जवाब देते हैं कि 1. इसकी वजह बुद्धि***

तो नहीं हो सकता, क्योंकि 'कोई भी जगह बेवर्ली हिल्स से ज्यादा मूढ़ नहीं, परन्तु वहां के नागरिक पैसे में लोट रहे है जबकि शतरंज की लोकप्रियता वाले रूस के लोग सूप बनाने के लिए पत्थर उबाल रहे हैं।' तब रूस की वित्तीय हालत बहुत खस्ता थी। इस प्रकार ओ रूर्क कहते हैं कि 2. यदि खनिज सम्पदाएं सम्पन्नता तय करती है तो कई अफ्रीकी देश स्कैडेनेवियाई देशों से अमीर होते' और 3. यदि शिक्षा सम्पन्नताा का कारण होती तो 99 प्रतिशत साक्षरता दर वाले उत्तर कोरिया की प्रति व्यक्ति आय, 44 प्रतिशत साक्षरता दर वाले मोरक्को से एक चौथाई नहीं होती। 4. कुछ पहलुओं पर विचार के बाद ओ रूर्क का निष्कर्ष यही रहा है कि सम्पदा सृजन और उद्यमियों का सम्मान करने वाले समाज ही सम्पन्न बनते हैं। 5. अमेरिका इसका उदाहरण है डेनरी फोर्ड से लेकर बिल गेटस संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के हीरो रहे हैं।'[(3)]राहुल बाबा समझो। राहुल सोचो, जब आपने प्रणव दा को नकार कर मनमोहन को पीएम बनाया यह तो आपकी पसंद थी। आपकी पसंद देश की पसंद नहीं हो सकती। देश मनमोहन को स्वीकार नहीं करता था और न ही कांग्रेस। पीएम चुना हुआ हो, मनमोहन राज्य सभा से रहे। एक बार चल जाता आपने दूसरी बार फिर मनमोहन को पीएम बना दिया, क्यों, क्यों, मुरली मनोहर जोशी, लालकृष्ण आडवाणी चुप रहे, उन्होंने तो कभी नहीं कहा कि मनमोहन चोर दरवाजे से पीएम बने हुए हैं। राहुल बाबा आप मोदी से पूछते हो कि **'कहां छुपे हो' 'डरे क्यों हो'** इससे आप जीरो बने और मोदी हीरो। मोदी दोबारा 2019 में आए।

राष्ट्रविरोधी बनाम राष्ट्रहितैषी

एससी ने असाधारण कदम उठाते हुए अपने अधिकार से बाहर जाकर कृषि कानूनों के अमल पर रोक लगा दी। क्यों? कैसे? वैसे ही जैसे राम मन्दिर फैसले में बदले के रूप में मुसलमानों को पांच एकड़ जमीन देकर नाजायजी को जायजी में बदलकर भारतीयों हिन्दुओं को बता दिया कि न्यायालय न्याय नहीं करते बल्कि फैसला सुनाते हैं। एससी ने अब भी न्याय नहीं किया बल्कि फैसला दिया, दोनों प्रकरणों में शांति हेतु। एससी ने एक कमेटी बनाई। कमेटी ने एक शेतकरी संगठन के अध्यक्ष अनिल घनवट हैं। अनिल ने कहा कि कृषि कानून वापस लेना किसानों के लिए फायदेमंद नहीं है। यदि इन कानूनों को वापस ले लिया जाता है तो अगले 50 वर्षों तक कोई सरकार कृषि सुधार का प्रयास नहीं करेगी। किसानों का एक ही जवाब है **'खेती का खून–तीन कानून'।** दो प्रकार के लोग किसान आंदोलन में हैं। 1. जिन्होंने कभी आंदोलन देखा नहीं 2. आंदोलन की रसोई में अपने व्यंजन बनाने वाले राजनीतिज्ञ। पाकिस्तान की मिलीभगत से कुछ इस्लामिक संगठन तथा चीनी साम्यवाद के दत्तक पुत्र भारत की तबाही चाहते हैं। पाकिस्तान के इशारे पर कालान्तर में कनाडा, अमेरिका, ब्रिटेन तथा अन्य यूरोपीय देशों में खालिस्तानी तत्व खालिस्तान की मांग उठा रहे हैं। राष्ट्रीय जांच एजेंसी ने खालिस्तानी आतंकी गुरपतवंत पन्नू समेत दसों के खिलाफ मुकदमा बनाया है। दुबई की रोटियां खाकर खालिस्तानी आतंकी सुखी बिकरीवाल को भी पकड़ा गया है, जो आरएसएस के लोगों को मारता है तथा टारगेट किलिंग करता है। पाक ने अपनी मिसाइल का नाम 'अब्दाली' रखा है। अब्दाली ने भारत में कत्ले आम किया। हिन्दुओं की गायों को काटकर, सिक्खों के पवित्र अमृत सरोवर में डालता चला गया, 5 फरवरी 1762 को अबदली ने हजारों सिक्ख मारे, जो पंजाब में यह हादसा वड्डा घल्लूघारा के नाम से जाना

जाता है। ये पंज प्यारे अब्दाली को अपना नायक और पाकिस्तान को अपना हमसफर क्यों समझते हैं जबकि 1857 का प्रथम सशस्त्र संग्राम यह कहता है कि हिन्दुओं को रोकने के लिए अल्पसंख्यक मुस्लिम व सिक्ख दस्तों का प्रयोग ब्रिटिश करते रहे। सिक्खों को असली झटका तब लगा जब 1947 में मुस्लिम लीग ने हिन्दुओं के साथ सिक्खों को भी पाकिस्तान में मारना शुरू कर दिया। ***''मानवीय त्रासदी की कहानी 1950 में खुद शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबन्धक कमेटी 'मुस्लिम लीग अटैक ऑन सिक्ख एण्ड हिन्दूज इन द पंजाब–1947' के नाम से प्रकाशित है।''***[4]अंग्रेजों के प्रयास राजनीतिक ही नहीं बल्कि बौद्धिक स्तर पर भी थे। अंग्रेजों ने सिक्खों को हिन्दुओं के विरुद्ध करने के लिए अनेक प्रयास किए। **अंग्रेजों ने एक ईसाई पादरी सरजॉन आर्थर मौकलिफे को सिख इतिहास लिखने का काम दिया। आर्थर ने सिक्खों को कहा कि सिक्ख धर्म ईसाई व मुस्लिम धर्म के समीप हैं, हिन्दू धर्म तो बहुत दूर है।** ऐसे सिक्खों का अंग्रेजीकरण करके मुस्लिम व ईसाइयों संग मिलाया आज इस भारतीय किसान आंदोलन में इन्हीं पंज प्यारों ने लालकिले के तिरंगे के नीचे अपना झण्डा लगा दिया। असल समस्या कुछ और है किसान की आड़ में अपनी मंशा पूरी कर रहे हैं लोग। समझिए–– एम.एस.पी. का सीधा मतलब सरकार तय मूल्य उपज का रखे व खरीदे, यानि सरकारी नौकरी। सरकारी नौकरी ने प्रत्येक व्यवस्था को धरातल में मिलाया है। निजीकरण के दौर में कोई अपना इलाज सरकारी अस्पताल में नहीं करवाता, मोदी सरकार फिर भी एम.एस.पी. की गारंटी दे रही है। एम.एस.पी. की गारंटी देखने के लिए पंजाब, मध्य प्रदेश की व्यवस्था देखिए व समझिए–1. एम.एस.पी. के लालच में किसान परम्परागत फसलें छोड़ता है और गेहूं–धान के पीछे पंजाब का किसान दौड़ा। 2. किसानों ने आर्गेनिकता छोड़कर रासायनिक उर्वरकों, कीटनाशकों का बेहिसाब प्रयोग किया, उत्पादन बढ़ा मगर कुछ दशक बाद ही उत्पादन में गिरावट आई। 3. यह प्रयोग खाद्यान्न आत्मनिर्भरता की ओर बढ़ रहा था। ***4.''1960–61 में पंजाब गेहूं 14 लाख हैक्टेयर, चावल 2.27 लाख हैक्टेयर में बोता था 2019–20 में गेहूं 35.08 लाख हैक्टेयर, चावल 29.20 लाख हैक्टेयर पर बो रहा है जबकि पंजाब में 1972 से 1986 के बीच कृषि वृद्धि दर 5.2 प्रतिशत, 1987 से 2004 के बीच 3 प्रतिशत 2005 से 2014 के बीच 1.6 प्रतिशत रह गई।''***[5]5. लागतें बढ़ी, उपज घटी तथा किसान कर्जदार हुआ और आत्महत्या करने लगा। 6. सरकारों ने किसानों को एमएसपी रूपी शहद चटाकर किसान को स्वास्थ्य प्रदान किया, किसान बेईमान और आदि हो गया और अपने को डायबिटीज का रोगी बना बैठा, इलाज के लिए कर्जे में डूबा और घर–बार छोड़कर जाने लगा। 7. सरकारों ने डायबिटीज हुए किसान को गुड़–शक्कर रूपी मुफ्त बिजली पानी देना शुरू कर दिया 8. डायबिटीज किसान इस निःशुल्कता में गेहूं–चावल रूपी डायबिटीज के उत्पादन को इतना अधिक बढ़ावा दे गया कि मजबूरन किसान ने व्यापारी की भांति 14 लाख नलकूप लगा लिए जिसके कारण पंजाब के प्रत्येक नलकूप धारक को वार्षिक सब्सिडी 45 हजार रुपये मिलती है। इतना ही नहीं, पंजाब में भूजल की दृष्टि 137 ब्लॉकों में से 110 ब्लॉकों में निम्न है। 9. पंजाब के किसान इस एमएसपी की गारंटी चाह रहे हैं। 10. सरकारें वोट चाह रही हैं। 11. मध्य प्रदेश पंजाब से ज्यादा गेहूं उगा रहा है क्योंकि एमएसपी मिल रहा है। 12. छत्तीसगढ़ सरकार ने 2020–22 में खरीफ की फसल चावल को 2500 रुपये प्रति क्विंटल के भाव से खरीदने का ऐलान किया है। 13. गेहूं–चावल के सरकारी प्रोत्साहन ने भारतीय गोदामों के नाक में दम कर रखा है। हमारे पास 280 लाख टन का भण्डारण है हम सारी

दुनिया को चावल खिला सकते हैं। 14. एमएसपी के चक्रव्यूह में फंसकर किसान ने गन्ने को प्राथमिकता देकर भारत से 60 लाख टन चीनी का निर्यात करवाया, परिणाम अन्तरराष्ट्रीय बाजार में चीनी 22 रुपये किलो है जबकि भारत में समर्थन मूल्य पर गन्ने की खरीद से 34 रुपये किलो पड़ती है। 15. घर परिवार का जीवन यापन करने के लिए खेती रीढ़ थी। अब खेती व्यापार हो गई है। क्योंकि हमने फायदे के लिए गेहूं–चावल–गन्ना चाहा, दलहन–तिलहन को नकारा। एक फसल बोने के कारण उपज घटी, गर अदल–बदल का फसल बोते तो उपज नहीं घटती, किसान कर्जदार नहीं होता, किसान आत्महत्या नहीं करता। गांव की आत्मनिर्भरता का तात्पर्य यह था कि कोई गन्ना, कोई चावल, कोई गेहूं, कोई दाल, कोई सरसो, कोई दलहन, कोई कपास, कोई जूट, कोई पटसन, कोई गोभी, आलू, मेथी, चना अर्थात गांव से बाहर किसी को भी किसी से मांगने की आवश्यकता नहीं पड़ती थी, गांव में 36 इंजीनियर अर्थात सभी जातियों रूपी कुशल इंजीनियर थे। भारत सरकार ने भी राज्यों की भूगोलिकता से उपजी फसलों को गांव की व्यवस्थानुसार तब्दील करके देश को आत्मनिर्भर बनाने का कदम उठाना चाहिए ताकि विदेशों से कुछ भी खरीदना न पड़े। किसान राष्ट्रहितैषी है। सरकार राष्ट्र विरोध को कुचले। राष्ट्र विरोधी धार्मिक ताकतों की सरकार कब्र खोदे।

संवैधानिकता बनाम आंदोलनकर्ता

संवैधानिकता भी संवैधानिकता नहीं रही है। आंदोलनकारी भी आंदोलनकारी नहीं है। किसान फिर किसान कैसे? संवैधानिकता का किस्सा देखो, समझो, सोचो–तीन दल–1. जनता दल–यू, सुप्रीमो शरद यादव। 2. राष्ट्रीय जनता दल, सुप्रीमो लालू यादव। 3. बीजेपी। क. 2016 में जनता दल–यू ने अपने सुप्रीमो को राज्य सभा भेजा, शरद यादव की पार्टी ने लालू यादव को छोड़कर बीजेपी का दामन थामा। शरद यादव लालू का हाथ पकड़े रहने के कारण पार्टी ने राज्य सभा के सभापति वैंकेया नायडू से अपने सुप्रीमो शरद यादव की सदस्यता खारिज करने की मांग की। नायडू ने 2017 में सदस्यता खारिज कर दी। ख. मामला हाईकोर्ट में गया कोर्ट ने सदस्यता पर कुछ नहीं कहा मगर बंगले में रहने तथा वेतन–भत्ते लेने के योग्य बताया। शरद यादव चुनाव आयोग व दिल्ली कोर्ट को अपनी इकलौती जान की पार्टी बताता रहा कि वही जनता दल–यू है। शरद यादव एससी गए। एससी ने कहा कि शरद यादव बंगले में रह सकता लेकिन वेतन–भत्ते नहीं ले सकता। एससी ने यह भी कहा कि दिल्ली हाईकोर्ट जल्दी निपटारा करे। ग. शरद यादव नई पार्टी बना चुके हैं। शरद यादव राष्ट्रीय जनता दल से लोकसभा 2019 का चुनाव भी लड़ चुके हैं। बेटी बिहार विधान सभा का चुनाव कांग्रेस से लड़ चुकी है। घ. सीट खाली है या भरी है कौन बताए? खाली है तो छह माह के अंदर चुनाव हो। गर भरी है तो शरद यादव को राज्य सभा की कार्यवाही में भाग क्यों नहीं लेने देते। न्यायपालिका ऐसे गम्भीर मुद्दों पर निर्णय जल्दी क्यों नहीं देती है? यह सब सांठगांठ नही ंतो और क्या है? ड. जुलाई 2022 तक शरद यादव का राज्य सभा का कार्यकाल है। मेरा अनुमान गलत न हो जाए कि जुलाई 2022 तक निर्णय आएगा ही नहीं। संवैधानिकता के बाद आंदोलनकारी किसानों की पृष्ठभूमि बड़ी ही दिलचस्प है। आंदोलन विदेशों में भी हुए हैं। पहले विदेशी फिर स्वदेशी। **1. व्हाहट रोज रेजिसंटेस–1942–43,** देश–जर्मन, नेता–हैंशशोल और अलेक्जेंडर श्मोरेल विरोध–नाजी शासन व्यवस्था का, तरीका–म्यूनिख विश्वविद्यालय के छात्र समूहों ने पर्चे बांटे, परिणम–जीरो। **2. मोटगुमरी बस बॉयकाट–1955,** देश–अमेरिका, नेता–मार्टिन लूथर किंग, विरोध–काले लोगों के लिए बस सेवा बंद क्यो? तरीका–बस

सेवा का बायकाट, परिणाम–न्याय व्यवस्था ने न्याय किया। **3. प्यूरेरा वन आंदोलन–1978** देश–न्यूजीलैंड, नेता–जनसमुदाय, विरोध–वनों की अन्धाधुंध कटाई का, तरीका–लोग पेड़ों पर घर बनाकर रहने लगे, परिणाम–सरकार ने कटाई रोकी। **4. थ्यान आन मन चौकी प्रदर्शन–1989** देश–चीन, नेता–जनसमुदाय, विरोध–मीडिया को आजादी मिले, तरीका–प्रदर्शन व रैली, परिणाम–पी.एल.ए. पीपुल्स लिबरेशन आर्मी ने 200 लोगों को गोली से मार डाला। **5. सिंगिंग क्रान्ति–1986–1991,** देश–सोवियत संघ, नेता–जनसमुदाय, विरोध–एस्टोनिया, लातविया, लिथुआनिया की आजादी लेना, तरीका–राष्ट्र गौरव के गीत गाना, परिणाम–तीनों आजाद हुए **6. टयूनीशिया की जैस्मिन क्रान्ति–2010,** देश–टयूनीशिया, नेता–जनसमुदाय, विरोध–भ्रष्टाचार खत्म हो, तरीका–प्रदर्शनों से राष्ट्रपति हटवाया, परिणाम–टयूनीशिया की नेशनल डायलॉग क्वाट्रेंट को 2015 का नोबेल मिला *''हार्वर्ड कनेडी स्कूल की प्रोफेसर एरिका चनोवेथ और मालिया जे स्टीफन ने 1900 और 2006 के मध्य हुए 323 जनआंदोलनों पर शोध किया। इसके नतीजे चौंकाने वाले रहे। सिर्फ 26 फीसद हिंसक आंदोलन सफल और 64 फीसद विफल रहे हैं जबकि अहिंसक आंदोलनों की सफलता 54 फीसद रही। 72वें गणतन्त्र दिवस पर दिल्ली के उत्पात पर किसान चेहरे साफ हुए 97 प्रतिशत लोग मंजूरी देते हैं। लालकिले पर धार्मिक झण्डा चढ़ाने से किसानों ने आम आदमी की सहानुभूति खो दी है ऐसे 99 प्रतिशत लोग कहते हैं। इंटरनेशनल सेंटर आन नॉन वायलेंस कांफ्लिक्ट के नॉन वायलेंस रेजिसटेस एण्ड प्रिवेंशन ऑफ मास किलिंग शोध कहता है कि 70 प्रतिशत अहिंसक आंदोलन सफल हुए हैं जबकि हिंसक आंदोलन 14 प्रतिशत सफल हुए हैं।''*[6]देश में अनेक आंदोलन हुए है चाहे काल स्वतन्त्रता का हो या काल रहा हो परतन्त्रता का। गांधी के तीन असहयोग, सविनय अवज्ञा, भारत छोड़ो आंदोलन हो या फिर चिपको आंदोलन, जन लोकपाल आंदोलन, या निर्भया आंदोलन क्यों न हो, किसान आंदोलन भी हुए हैं **1. करमूखेड़ी आंदोलन–1987,** प्रांत–यूपी, नेता–महेन्द्र टिकैत, समस्या–बढ़ी हुई बिजली की दरें, तरीका–शामली के खेड़ी करमू बिजलीघर को घेरना, पुलिसकर्मी किसानों द्वारा शहीद हुआ, किसानों ने पुलिस जीप जलाई, किसानों ने आग बुझाने पर फायर सर्विस की गाड़ियों को भी जलाया, कांग्रेस के राजीव गांधी की पुलिस की दो गोली से दो किसान अकबर अली, जयपाल सिंह मारे गए, परिणाम–खाली आश्वासन **2. मेरठ कमिश्नरी घेराव आंदोलन–1988,** प्रांत यूपी, नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत, समस्या–.....। तरीका–धरना, प्रदर्शन, मुरादाबाद में काफूरपुर स्टेशन किसानों ने फूंक डाला, परिणाम–हिंसक आंदोलन को स्थगित किया **3. रजबपुर गोलीकाण्ड आंदोलन–1988,** प्रांत–यूपी, नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत, समस्या–कांग्रेस के राजीव गांधी की पुलिस की गोली से पांच किसानों की मौत, तरीका–जेल भरो आंदोलन परिणाम–कुछेक पर रासुका लगी **4. बोट क्लब धरना–टकराव आंदोलन–1988,** प्रांत–दिल्ली नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत समस्या–..... । तरीका–14 राज्यों के पांच लाख किसान जुटे, लोनी बॉर्डर के गांव कुटुम्बी के निवासी किसान राजेन्द्र की पुलिस गोली से मौत, महेन्द्र टिकैत रो पड़े, क्योंकि राजीव गांधी की सरकार ने लाठीचार्ज व फायरिंग से किसानों को भूनना शुरु कर दिया था। **5. अलीगढ़ खैर भूमि अधिग्रहण आंदोलन–1989,** प्रांत–यूपी, नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत, समस्या–भूमि अधिग्रहण, तरीका–धरना, परिणाम–आपसी विवाद से समाप्त हुआ आंदोलन **6 नईमा कांड आंदोलन–1989**प्रांत–यूपी, नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत, समस्या–मुजफ्फरनगर–सिमरी गांव की लड़की नईमा की गुमशुदाई तरीका–गंग नहर पर आंदोलन शुरु हुआ परिणाम– यूपी के कृषि मंत्री चौ. नरेन्द्र सिंह ने किसानों के बिजली बिल माफ करते हुए गंगनहर में पड़े ट्रैक्टरों की जगह किसानों को नए ट्रैक्टर देने की घोषणा के साथ आंदोलन सफल वापस हुआ **7 चिनहट आंदोलन–1993,** प्रांत–यूपी, नेता–महेन्द्र सिंह टिकैत, समस्या–चिनहट बिजली से,

तरीका–चिनहट बिजली का घेराव, पुलिस ने दो किसान मारे, मोतीलाल वोरा राज्यपाल ने प्रतिनिधियों से बात की, सरकार ने मृतकों को तीन लाख, किसानों को नुकसान की भरपाई दी, पूर्वी यूपी में किसान संगठन उभरा। **8. किसान क्रांति यात्रा आंदोलन–2018,** प्रात– यूपी–दिल्ली, नेता–महेन्द्र के बेटे नरेश का लांच होना, समस्या–किसान क्रांति यात्रा दिल्ली तक, पर सरकार को परेशानी, तरीका–पैदल मार्च, परिणाम–तत्कालीन गृह मंत्री राजनाथ सिंह से वार्ता करके आंदोलन वापस करवाया ***''राजनीतिज्ञों ने महेन्द्र टिकैत पर 40 मामले वापस लिए थे, सपा ने बसपा पर गेस्ट हाऊस कांड किया तो बसपा भाजपा के समर्थन से प्रदेश सरकार बनते ही महेन्द्र टिकैत पर खड़े सभी मामले वापस ले लिए।''***[7]बेटा राकेश टिकैत 26 जनवरी 2020 को राजपथ ट्रैक्टर परेड की नादानी भरा आंदोलन चलाता है जबकि पिता महेन्द्र सिंह टिकैत 1988 को मेरठ कमिश्नरी घेराव व 1986 को खेड़ाकरमू बिजलीघर घेराव को 26 जनवरी को छोड़ता तथा 27 जनवरी से फिर से शुरू करता है इतना ही नहीं नईमा काण्ड आंदोलन में 15 अगस्त 1989 को गंगनहर में लठ गाड़कर तिरंगा फहराता और बेटा उस आंदोलन का नेता बना हुआ है जिस आंदोलन में धार्मिक झण्डा लाल किले पर फहराया जाता है। बाप–बेटे के अंदर दो खापों की शक्ति थी और है–खाप का इतिहास महाभारतकालीन है। 1924 से ज्यादा सक्रिय है। खाप का अर्थ है–ख–आकाश, आप–जल अर्थात आकाश की तरह विस्तार, जल की जैसे पवित्र। सर्वखाप का मुख्यालय सोरम में है। चौधरी कबूल सिंह सर्वखाप के नेता 1924 से 1991 तक रहे मगर आजकल सुभाष बालियान हैं। खाप का क्षेत्र गांवों को जोड़कर थांब बनाता है खाप चौधरी के नीचे थांबे का चौधरी रहता है। खाप का कार्य युवाओं की कुरीतियों को खत्म करना है। एक खाप में 8 से 50 गांव तक होते हैं। खाप का आकार खण्ड से भी बड़ा होता है अर्थात जिला पार्षद के निर्वाचन क्षेत्र इतना–सा होता है। दो खाप–1. बालियान खाप, 84–84 गांव वाली, मेरठ–सहारनपुर मण्डल इसका क्षेत्र है (मुजफ्फरनगर व शामली), महेन्द्र सिंह टिकैत। 2. देशखाप, बागपत, चौधरी चरण सिंह। 3. गढ़वाला (मलिक) खाप 52–52 गांव वाली, मुजफ्फरनगर–शामली 4. अहलावत खाप 5. लाटियान खाप। ***''देश खाप व बालियान खाप के चौधरी क्रमशः सुखवीर, महेन्द्र रहे। सुखवीर भारतीय किसान यूनियन के गठन के समय देशखाप के चौधरी के नाते अध्यक्ष बने और बालियान खाप के चौधरी महेन्द्र से अलग हो गए। सुखवीर के पुत्र सुरेन्द्र और महेन्द्र के पुत्र नरेश–राकेश टिकैत जीजा–साला है। चौधरी सुरेन्द्र सिंह लड़के वाले समधी तथा चौधरी महेन्द्र टिकैत लड़की वाले समधी हैं।''***[8]दोनों घरानों व किसान नेताओं के क्षेत्रों में देशखाप से चौधरी चरण सिंह व बालियान खाप से संजीव बालियान सांसद रहे हैं। भारतीय किसान यूनियन के वर्तमान अध्यक्ष चौधरी नरेश टिकैत हैं मगर व्यावहारिक रूप से राकेश टिकैत मीलों आगे दौड़ रहे हैं। जनता जानती है, समझती है–मुजफ्फरनगर का दंश और रालोद (राष्ट्रीय लोकदल) के अजीत सिंह को हराना, वो भी देशखाप वालों को, इतना ही नहीं महेन्द्र टिकैत हमेशा से ही संचालन गुलाम मोहम्मद दौसा से करवाते थे और अध्यक्षता किसान मंचों की मुसलमानों को देते थे, चौ चरण सिंह, चौधरी अजित सिंह, चौधरी जयंत यानि तीनों पीढ़ी पग–पग से वाकिफ है। चौधरी अजित सिंह का तो चौधरी महेन्द्र सिंह टिकैत से 36 का आंकड़ा था। राकेश टिकैत का रोना एक ड्रामा है, कूटनीति है, राकेश का बाप महेन्द्र भी राजीव गांधी की कांग्रेस सरकार की गोलियां व लाठियों के सामने रोया था वैसे ही राकेश मोदी की भाजपा के समक्ष रो रहा है। इस रोने का फायदा किसी को नहीं, मगर मोदी व भाजपा को नुकसान जरूर हो रहा है। 1. भाकियू व रालोद अर्थात दोनों खाप देशखाप वबालियान खाप एक हो रहे हैं जबकि देशखाप अजित को टिकैत की बालियान खाप ने हराया और अपने संजीव बालियान को जीतवा। 2. मुजफ्फरनगर दंगे की खाई खत्म हो रही है 3.

अजित व महेन्द्र की 30 वर्षीय अनबन–कहासुनी भुलाई जा रही है। 4. मरी हुई देश खाप के राजनीतिज्ञ जयंत चौधरी नरेश टिकैत के गले मिलते हैं, गुलाम मोहम्म्द जौला के पैरों में लेटते हैं जबकि 2019 में मुजफ्फरनगर सीट से इन्हीं लोगों ने जयंत के पिता अजित को घोषणा करके धूल चटाई थी 5. निष्कर्ष किसान रूपी जाट व मोदी विरोधी अल्पसंख्यक लामबंदी में जुटे हैं। जबकि राकेश टिकैत रालोद व कांग्रेस के प्रत्याशी के रूप में चुनाव लड़ चुके हैं फिर किसान नेता कैसे? दूसरा ड्रामा बिजनौर की किसान रैली में नगीना, नूरपुर, नजीबाबाद के विधायकों संग पूर्व मंत्री श्री ओमवेश स्वामी को मंच पर बैठने व बोलने तक नहीं दिया और जयंत को मंच व माइक दिया। *''असल में आंसू राजनीति में कूटनीति पहचाने–1 देश खाप वर्ष–1995, स्थान–बागपत की छपरौली विधान सभा सीट, प्रत्याशी–चरण सिंह की बेटी सरोज वर्मा, प्रतिद्वन्दी प्रत्याशी सोमपाल–शास्त्री भाजपाई। ड्रामेबाजी–चरण सिंह आए, थाने के सामने बैठे, रोने लगे कि मेरी बेटी हाररही है, चौधरी इकट्ठे हुए बोले–म्हारा चौधरी चरणा रोता है, बेटी को जितवाओ, इस प्रकार सरोज वर्मा डीएनए प्रोपगेंडा से जीती थी 2. वर्ष–1971, स्थान–मुजफ्फरनगर लोकसभा, प्रत्याशी–चौधरी चरण सिंह, प्रतिद्वंदी प्रत्याशी–सीपीआई के विजयपाल, ड्रामेबाजी–चरणा 50,000 वोटों से हारा, समर्थक व स्वयं सभी आपा–पीटपीटकर रोए, चरणा कभी मुजफ्फरनगर नहीं गया, (बेटे अजित का भी बालियान खाप ने देश खाप का यही हाल किया 2019 के लोकसभा में) बागपत आया देश खाप की पादुकाओं में चरणा। 3.वर्ष–1998, स्थान–बागपत, प्रत्याशी–चौ. अजित सिंह, प्रतिद्वंदी प्रत्याशी–पुराना भाजपाई सोमपाल शास्त्री, ड्रामेबाजी–अजित सोमपाल से 44000 वोटों से हारे, बागपत में चूल्हे नहीं जले, साल अगले ही चुनाव हुए, सोमपाल को डीएनए के आधार पर अजित ने दुगने वोटों से हराया। 1. बालियान खाप के चौधरियों के आंसू–वर्ष–25 अक्टूबर 1988, मौका–महेन्द्र टिकैत लाठी व गैस के गोले देखकर रोए, स्थान–वोट क्लब। 2. 27 जनवरी 1988, मौका–महेन्द्रतब रोये जब मेरठ कमिश्नरी को फोर्स ने चारों तरफ से घेरा स्थान–मेरठ कमिश्नरी 3. वर्ष–मार्च 1998, मौका–महेन्द्र रोया स्थान–रजबपुर।''*[9]राकेश टिकैत का रोना उसी श्रंखला की कड़ी है। मामला देशखाप के चुनावी सन्दर्भ में रोते बागपती क्षेत्र के चरण, अजित व जयंत का हो या फिर मामला चाहे बालियान खाप के आंदोलन सन्दर्भ में रोते मुजफ्फरनगर क्षेत्र के महेन्द्र टिकैत व राकेश टिकैत का क्यों न हो। जयंत अपने बाप–दादा की मरी हुई राजनीति को जिंदा करने के लिए तथा देशखाप का सर्वमान्य नेता बनने के चाह में लोटा–नमक लेकर आया मगर बालियान खाप के नरेश टिकैत ने अपने तथा महेन्द्र टिकैत की आन–बान–शान के मद्देनजर, देश खाप के लौटे–नमक को छुआ तक भी नहीं, यह है असली किसान राजनीति का चेहरा। मोदी भाजपा को नीचा दिखाने के लिए एक पलड़े में मेढ़क चढ़ाए जा रहे हैं, क्या सम्भव है। 1. बीजेपी नेता को गांव में नहीं आने दिया जाएगा, गांव में बैनर–पोस्टर लगाए हुए हैं लोग। क्या ऐसा जनतन्त्र होता है? 2. यह किसान नहीं है यह है विपक्ष। क्यो है प्रजातन्त्र? 3. महेन्द्र सिंह टिकैत का कस्बा सिसौली 22000 की आबादी वाला है। 2008 में मायावती को अपशब्द बोलकर महेन्द्र सिसौली में छुपा रहा पुलिस छू भी नहीं पाई थी क्योंकि बालियान खाप के चारों ओर गांव हैं। पुलिस की हार हुई थी क्या लोकतन्त्र बच पाया था *'' संयुक्त राष्ट्र कहता है एक लाख पर 222 पुलिसकर्मी होने चाहिए जबकि भारत के पास 144 है।''*[10]4. सिसौला में बालियान खाप का मुख्यालय 1071 साल से है। काबिले तारीफ कैसे–कबीलावाद समझो? 5. महेन्द्र सिंह टिकैत ने 1986 में भाकियू का मुख्यालय बनाया, खाप के मुख्यालय को, प्रजातन्त्र में सामन्तीतन्त्र क्यो? अमेरिका में भी उपद्रवी कैपिटल हिल अर्थात अमेरिकी संसद में दाखिल हुए और भारत में धार्मिक झण्डा लाल किले पर उपद्रवी फहराने में सफल हुए। दोनों लोकतन्त्र प्राचीन

व सबसे बड़े हैं। विपक्ष द्वारा अफवाहों का बाजार गर्म है। 1. मंडियां खत्म हो जाएंगी। 2. एम.एस.पी. बंद हो जाएगा। 3. कारपोरेट घरानों को छूट दे दी जाएगी 4. कारपोरेट खेती योग्य भूमि पर कब्जा कर लेंगे 5. कारपोरेट कीमत तय करेंगे उपजी की और मुकदमे कोर्ट में होंगे। दूसरी ओर कृषि कानूनों के पक्ष में सरकार कह रही है कि 1. किसान फसल कहीं भी बेच सकेगा। 2. किसानों को कीमत में मुनाफा होगा। 3. ट्रिब्यूनल के तहत मुकदमों का निदान अतिशीघ्र होगा 4. एम.एस.पी. खत्म नहीं होगी 5. मंडियां मजबूत होगी। शरद पवार भी कह चुके हैं जब वो कृषि मंत्री थे। शरद पवार ने संसदीय परामर्शदात्री को सम्बोधित करते हुए कहा था कि 'कृषि उत्पाद बाजार समिति' (एम.एस.पी.) कानून किसानों को उत्पाद की अच्छी कीमत दिलाने की राह में बाधा बन गया है। किसानों को इसकी आजादी दी जानी चाहिए कि उन्हें जहां बेहतर कीमत मिले वहां वे अपना उत्पाद बेच सके। मोटी बात यह है कि अभिजन किसान 85–86 प्रतिशत छोटे किसानों की मांग दबा कर अपना उल्लू सीधा करना चाहते हैं। उदाहरण–सरकार 7 से 9 प्रतिशत तक कुल उजप का भाग खरीद पाती है। बाकी आढ़ती के पास होता है। सरकार कृषि कानूनों को लाकर खरीदारों को बढ़ाना चाहती है ताकि किसानों को बेहतर दाम मिल सके। फायदेदार किसान तो आंदोलन में भागीदार ही नहीं है। अभिजन किसान आंदोलन में रहनुमा बने हुए हैं। जितना न्यूनतम समर्थन मूल्य अभिजन किसानों के लिए महत्वपूर्ण हैं। क्या कोई न्यूनतम मजदूरी की बात कर रहा है? सीमांत किसान मजदूर भी है। ***" देश के 85–86 प्रतिशत सीमांत किसान–मजदूरों की परवाह किसे है? देश की जीडीपी में कृषि की भागीदारी 16 प्रतिशत है। जबकि उस पर निर्भर आबादी 58 प्रतिशत है। यानि आधे से अधिक आबादी का योगदान 16 प्रतिशत है। इससे स्पष्ट है कि अभिजन सुविधायोगी किसान वर्ग समाधान के प्रति सजग होकर शासकीय नीतियों को वर्गीय हितों की पूर्ति हेतु उपयोग करना चाहता है। वैसे भी हमारी अतिरिक्त उपज का निर्यात सम्भव नहीं क्योंकि उनके दाम अन्तरराष्ट्रीय कीमतों से करीब 17 प्रतिशत अधिक हैं।"***[11] किसान आंदोलन के रहनुमाओं ने विधानपालिका का कानून फाड़ फेंका, कार्यपालिका के कार्यन्वयन पर आंदोलन कर बैठा, न्यायपालिका के निर्देशों को नकार चुका दिया। **'इण्डियन किसान यूनियन'** ने ठीक कहा था कि प्रतिबन्धित संगठन **'सिख फॉर जस्टिस'** किसान आंदोलन को पैसे दे रहा है। धार्मिक वातावण ठीक रहे इसलिए सुप्रीम कोर्ट ने तीन याचिकाओं के सन्दर्भ में कृषि कानूनों के कार्यन्वयन पर रोक लगाई थी। ये तीन याचिका थी–1.. कानूनों को चुनौती 2. कानूनों का समर्थन 3. मौलिक अधिकारों का हनन। कोर्ट ने तीनों बातें स्पष्ट कर दी थी कि 1. सरकार कार्यन्वयन नहीं करेगी 2. एम.एस.पी. लागू रहेगी 3. समिति गठित। महान्यायवादी केके रेणुगोपाल ने कोर्ट के कार्यन्वयन की रोक पर चुनौती पेश की है। ***"रेणुगोपाल ने कहा है कि स्वयं सुप्रीम कोर्ट ने भावेश परीश बनाम भारत सरकार, हेल्थ फॉर मिलियस बनाम भारत सरकार, उत्तर प्रदेश बनाम हिरेन्द्र सिंह आदि मामलों में इसका उल्ट निर्णय दिए है।"***[12] सुप्रीम कोर्ट संवैधानिकता की जांच कर सकता है, कार्यन्वयन पर रोक नहीं लगा सकता, वह भी जब संविधान के मूल ढांचे के विरुद्ध। आज तक संविधान का मूल ढांचा कोर्ट निर्धारित नहीं कर पाया है। देखो तमाशा। राहुल बाबा मोदी के लॉकडाउन की निंदा करता है। मोदी लॉकडाउन हटाता है तो राहुल उसका भी विरोध करता है और जर्मनी–फ्रांस–ब्रिटेन के उदाहरण देता है जहां लॉकडाउन हटाने के बाद कोरोना कम हुआ और भारत में बढ़ा। इतना ही नहीं सरकार के प्रयासों की आलोचना करता है। ***"उदाहरण–24 जनवरी 2021 को भारत में कोरोना मामले 13202 नए आए हैं जबकि 14 सितम्बर को 97894 थे। इस समय ब्रिटेन में 20 लाख, फ्रांस में 27 लाख सक्रिय मामले थे और भारत में 1.78 लाख है।"***[13] यह है मोदी को राहुल का जवाब। एक साल में चार बार डब्लू.एच.ओ. भारत की तारीफ

कर चुका है। अमेरिका का विदेश विभाग सराहना कर रहा है। राहुल बाबा भोले–भोले किसानों को हथियार बनाकर राजनीति चमका रहे हैं। अम्बेडकर ने ठीक कहा था कि भारतीय देश को अपने पंथ से ऊपर रखेंगे या वे पंथ को देश से ज्यादा महत्व देंगे? मैं नहीं जानता, लेकिन यह तय है कि अगर पार्टियां पंथ को देश से ऊपर रखेंगी तो हमारी आजादी न सिर्फ खतरे में आ जाएगी बल्कि शायद हम उसे दूसरी बार खो भी सकते हैं। लाल किले पर 26 जनवरी 2021 को सिखी धार्मिक झण्डा इसका प्रमाण है।

निष्कर्ष :

घर में बहु आने से पहले ही सोचना शुरु कर देना कि बहु बेटा को अपना बनाकर, उसकी आय व जमीन–ज्यादाद बंटवाकर घर तोड़ डालेगी तो शादी ही मत करो। परिवर्तन तो संसार का नियम है। बहु लाए नहीं डरना–कांपना शुरू हो गए। कृषि कानूनों का कार्यन्वयन हुआ और आंदोलन कर बैठे। समझो और सोचो–पीएम नरसिम्हा राव और वित्त मंत्री सरदार मनमोहन सिंह ने उदारीकरण, निजीकरण, वैश्वीकरण लागू किया। अफवाहे उड़ी कि 1. अर्थव्यवस्था चौपट होगी 2. विदेशी कम्पनी उद्योगो को खा जाएंगी। मगर उल्टा हुआ। देखो– ***"1. अर्थव्यवस्था 9 गुना और बजट 19 गुना बढ़ा 2. विदेशी मुद्रा भण्डार 5.8 अरब डॉलर से सौ गुना बढ़कर 580 डालर हुआ।"***[14] चलिए, छोड़िए नफा–नुकसान। समझिए जानिए और परखिए लोकतन्त्र के अपहरण व संवैधानिक बलात्मकार की कहानी–1. अनुच्छेद–50 में कार्यपालिका से न्यायपालिका के पृथककरण का प्रावधान है। 2. पं. नेहरू ने कहा था कि संसद के प्रभुत्व सम्पन्न इच्छा के ऊपर न्यायपालिका अपना निर्णय नहीं ला सकती 3. प्रख्यात संसदविद अर्सकिन ने कहा है कि कोई विधि न्याय विरुद्ध या शासन के मूल सिद्धांतों के विपरीत हो सकती है लेकिन संसद के विवेक पर नियंत्रण नहीं हो सकता। 4. भारतीय उद्देशिका में लोगों का संकल्प लिखित है कि कार्यपालिका चुनी हुई होती है, विधि निर्माण संसद का काम है। संसद सर्वोच्च जनप्रतिनिधि सदन है। 5. संविधान सभा में सर्वोच्च न्यायालय पर हुई बहस में एचवी पातस्कर ने कहा था कि ब्रिटेन में न्याय का प्रधान स्त्रोत सम्राट माना जाता है। हमारे देश में कोई सम्राट नहीं है। एक स्वतन्त्र निकाय (न्यायपालिका) जरूरी है। उसे विशेष शक्तियां दी जानी चाहिए। हम जानते कानून कैसे बनते हैं? 1. सरकार मसौदा तैयार करती है। 2. संसद में अधिनियम रखा जाता है। 3. सदस्य उसका वाचन करते हैं। 4. संशोधन करते हैं। 5. बहस के बाद कानून बनता है। यह मोटी–मोटी सी कानून निर्माण की प्रक्रिया हैं फिर कैसे एक अरब 35 लाख से परामर्श करती हमारी सरकार। सरकार ने किसानों से अनेक दौर की बातचीत की है। मामला सुप्रीम कोर्ट गया। सुप्रीम कोर्ट ने अपना फैंसला **असाधारण बताया।** 1. 'नागरिकता संशोधन अधिनियम 2019' के सन्दर्भ में एससी ने क्यों नहीं स्थगन की मांग मानी 2. 'सिगरेट और अन्य तम्बाकू उत्पाद सम्बन्धी अधिनियम–2003', को क्यो नहीं राहत दी 3. 'अनुसूचित जाति, जनजति, अत्याचार निवारण अधिनियम–2019' में संशोधन पर रोक लगाने के लिए लोग क्यों निराश हुए 4. सुप्रीम कोर्ट का एक जवाब था कि संसद द्वारा बनाए कानून पर रोक नहीं लगाएंगे। इतना ही नहीं, 5. राष्ट्रीय न्यायिक नियुक्ति आयोग के मामले में भी और आधाार के मामले में भी स्थगन आदेश नहीं दिया। 6. सुप्रीम कोर्ट ने सदैव कहा है कि संविधान में शक्ति का स्पष्ट पृथककरण है। ***कृषि कानूनों के मूलाधिकार के उल्लंघन वाले कथित हिस्से पर तथा संविधान के मूल ढांचे पर सुप्रीम कोर्ट ने विचार ही नहीं किया सुप्रीम कोर्ट को आदर सहित कई प्रश्न पूछ रहे हैं कि आपने कानूनों की संवैधानिकता की जांच करनी चाहिए थी न कि क्रियान्वयन पर रोक लगानी थी।***

कानून बनाना व वापस लेना सिर्फ संसद का कार्य है। अनुच्छेद 13 कहता है कि मूलाधिकार सर्वोच्च है। सुप्रीम कोर्ट का कार्य है मूलाधिकारों की रक्षा करना। कृषि कानून संवैधानिक रूप से सही पाए तो जनता के मूलाधिकारों का हनन क्यों? सुप्रीम कोर्ट के न्यायधीश माकर्डेय काटजू ने कहा है कि कानून का प्रवर्तन रोकना, दूसरी संस्था के अधिकार में अतिक्रमण है। इन ज्वलंत जिज्ञासाओं के सन्दर्भ में सोचे हम कहां जा रहे हैं, आगे क्या होगा, हमने लोकतन्त्र को रखैल तथा संविधान को वैश्या बना लिया है।

सन्दर्भ ग्रन्थ :

1. 12.01.2021, हिन्दुस्तान
2. 02.01.2021, दैनिक जागरण
3. 02.01.2021, दैनिक जागरण
4. 16.01.2021, दैनिक जागरण
5. 21.01.2021, दैनिक जागरण
6. 01.01.2021, दैनिक जागरण
7. 28..01.2021, हिन्दुस्तान
8. 31.01.2021, हिन्दुस्तान
9. 30.01.2021, हिन्दुस्तान
10. 28.01.2021, दैनिक जागरण
11. 15.01.2021, दैनिक जागरण
12. 14.01.2021, दैनिक जागरण
13. 01.02.2021 दैनिक जागण
14. 28.01.2021, दैनिक जागरण

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

जिन्दा मुहावरे उपन्यास में विभाजनोपरान्त विस्थापन का यथार्थ

विनोद कुमार मौर्य
शोध छात्र
हिन्दी विभाग
नेहरू ग्राम भारती मानित विश्वविद्यालय
कोटवा जमुनीपुर, प्रयागराज, उ0प्र0

हिन्दुस्तान बंटवारे की तकलीफ को सिर्फ गिने–चुने लोगों ने नहीं बल्कि हिन्दुस्तान के करोड़ो लोगों ने झेला और भोगा है इसी क्रम में देश विभाजन की त्रासदी और उसके परिणाम स्वरूप हुए विस्थापन का दंश झेलने के परिप्रेक्ष्य में लिखा गया प्रख्यात उपन्यासकार नासिरा शर्मा का उपन्यास जिन्दा मुहावरे को रखा जा सकता है। नासिरा शर्मा का यह उपन्यास जिसकी पृष्ठभूमि बंटवारे के बाद का भारत–पाक विभाजन से विस्थापित समाज का है।

इस हकीकत से इनकार नहीं किया जा सकता कि आज दोनों देशों में रहने वाले अधेड़ और नौजवान लोग बंटवारे जो ऐतिहासिक घटना के चश्मदीद गवाह तो नहीं है मगर उनकी गूँज न किए गए कसूर का देश बन बचपन से उनका पीछा कर रही है। और उनके दिल दिमाग पर फसाद और कटाक्ष के रूप में कोड़े बरसाती उन्हें आत्मग्लानि में डुबोती रही है।

सियासी नेताओं के व्यक्तिगत आकांक्षाओं और नफे नुकसान के हाथों अंजाम गुनाह सिर्फ उनके जीवन तक नहीं रहता बल्कि पूरा देश सहता बहता है। यह बात यही तक नहीं सीमित है वरन् आने वाली पीढ़ी भी आरोपों के घेरे में फंसी सैकड़ो साल झेलती रहती है। उपन्यास के मुख्य पात्र निजाम की परेशानी इस वाक्य में झलकती है– ''मानता हूँ लोग नहीं भूल पाते, मगर सियासतदाँ तो आगे की सियासत करें। वह तो जैसे साँप निकल जाने के बाद लकीर पीट रहे हैं। हमारे जिया साहब मुसलमानों की हालत पर जब तक हमदर्दी के जुम्ले कहते थे यहाँ के मुसलमान जलकर कह रहे है कि वह चुप ही रहा करते तो हमारी भलाई थी, क्योंकि यहां के नेता उसका दूसरा ही अर्थ निकालते हैं।''[1]

इसी तरह लोगों के मन में एक अमूर्त रूप में उनके मन में कड़वापन उनकी सोच का अहम हिस्सा बन जाता है और इन्सानी रिश्तों पर जहर बन जाता है।

जिन्दा मुहावरे में उपन्यासकार ने लाल मुनिया के माध्यम से कहने की कोशिश की है कि वास्तव में उस खो गयी धरती की महक की तलाश है जो वही महसूस कर सकता है जो अपने माहौल के आगोश से बिल्कुल नई जगह पहुँच गया हो।

यह ललक यह तलाश अपने जड़ो की तब तक खोजती रहेगी जब तक पाकिस्तान की पीढ़ी जिन्दा है। जिसकी यादों में भी हिन्दुस्तान जिन्दा है, और एक महकता हुआ उपवन मौजूद है। बाद की पीढ़ी इसी पूरे माहौल के कड़वेपन को कैसे पचायेगी। इसमें शक की गुंजाइस नहीं कि बुजुर्गो के हाथों

अंजाम गुनाह का प्रायश्चित मौजूदा पीढ़ी फसादो और शक के दायरे में घिसती नजर आ रही है। उन्हीं में फैजाबाद के रहमतुल्लाह भी थे एक वह अपना गाँव घर की जमीन से इतना मोह, लगाव था कि देश–विभाजन के बाद वे अपने वतन को छोड़कर नहीं जा सकते थे, लेकिन उनका छोटा बेटा निजाम अपना पुस्तैनी मकान, जायदाद और अपने बुजुर्ग माता–पिता , भाई–बहन, पास–पड़ोस के लोगों को छोड़कर पाकिस्तान चला जाता है, और पाकिस्तान में रहते हुए एक बड़ा आदमी बन गया लेकिन यह मायने नहीं रखता कि वह एक बड़ा आदमी बन गया बल्कि वास्तविकता यह है कि वह अपनी जन्मभूमि, अपने लोगों को भुलाये नयी भूल पाता। अपने बुजुर्ग माता–पिता, भाई–बहन, भतीजे के पास–पड़ोस के सुन्दर काकी, मगरू काका और अपने बचपन के बाल सखा ब्रजलाल की यादें उसे इतना परेशान करती है कि वह लौटते वक्त आते–आते वह बिल्कुल टूट गया।

''क्या सोच रहें हैं चचा? गयास ने निजाम के उदास चेहरे को ताकते हुए पूछा। [2]

''पछतावा..... बहुत पछतावा हो रहा है बेटे तुमसे क्या छिपाना कुछ मजा नहीं आया जिन्दगी का, सब कुछ पाकर भी। क्या खोया यह आज समझ में आया।'' निजाम ने थके हुए लहजे में बोला''।[3]

चूंकि निजाम बड़े भाई के समझाने के बावजूद वह पाकिस्तान चला जाता है। कराची पहुँचकर उसके हाथ आता है एकांकीपन और पेट भरने के लिए रोटी मेहनत–मजदूरी की। निजाम मजदूरी और फेरी कर और सामान्य से अतिसामान्य नौकरी करके धीरे–धीरे पैसा इकट्ठा करता है। लगातार अथक परिश्रम करके निजाम पाकिस्तान में एक बड़ा कारोबार 'निजामगारमेंट' के नाम से खड़ा कर लेता है। यह अपना व्यवसाय जमाने के पश्चात् उसे पाकिस्तान में मूल निवासी के रूप में रहने की अनुमति नहीं प्राप्त होती है। वह दूसरे दर्जे के नागरिक, मोहाजिर के रूप मे ही समाज में पहचान जाता है।

निजाम जब भी कुछ–कुछ दिनों के लिए अपने हिन्दुस्तान आना चाहता है। धन–दौलत प्राप्त होने के बावजूद उसके भीतर एक याद सताती रहती है। अकेलेपन और उदासी में वह डूबा रहता है। मन ही मन निजाम चिंतित रहता है कि उसने यहाँ आकर भूल तो नहीं कि बड़े कोशिश के बाद उसे हिन्दुस्तान आने का बीजा मिलता है। इसी दरमियान हिन्दुस्तान पाकिस्तान का युद्ध शुरू हो जाता है। शहर–शहर दहशत फैली थी। लोग तबाही के कगार पर बढ़ते जा रहे थे। कौन किसके लिए रोए और किसके लिए हँसे लोग अजीब एहसास से गुजर रहे थे। लोगों की परीक्षा की घड़ी नजदीक थी। बेकसूर लोगों को जैसे सुलगती आग पर उन्हें किसी भेड़ की टाँग का कबाब बनाया जा रहा था।

''हिन्दुस्तान ने पाकिस्तान पर हमला कर दिया न ?''

'' हाँ, खरबूजा छुरी पर गिरा या छुरी खरबूजे पर, बात तो वही रही कि''

''जान खरबूजे की गई।''

'' हिन्दुस्तान जीतेगा?''

''पाकिस्तान हारेगा?''

''पाकिस्तान का वजूद मिट जायेगा। वह फिर हिन्दुस्तान का हिस्सा हो जायेगा''

''अच्छा है, बहुत अच्छा....। हिन्दुस्तान ने तो हमला भी इसी नीयत से किया होगा''

'' नहीं–नहीं, पाकिस्तान जीतेगा, हमारी फौज में बहुत दम है।''

इस तरह लोगों के जेहन में तरह–तरह की बातें आती थी। लोगों के मन में सवाल और दहशत दोनों थे। इसकी परवाह निजाम को नहीं थी। लेकिन उसके दिल में किसी कोने में वह आवाज जरूर

उठने लगी थी कि जो हो रहा है, वह बहुत बुरा है और.... और जो हुआ था वह तो और भी बुरा था। थोड़े ही दिनों की जंग ने पूरे पाकिस्तान को डावाडोल कर दिया था। सियासत ने घर–आँगन बाँटा, कूटनीति ने दिलो का काटा और पुराने बाशिन्दों का नई सरहदों में बाँधा था। पुरानी राजनीतिक दाँव–पेंच ने बुझी हुई आग को फिर से फूंक मार कर सुलगा बैठे थे।

इस रंग बदलते समय में देश विभाजन से विस्थापितों की जड़े तो पाकिस्तान में जम चुकी थी। परन्तु इस युद्ध में हिन्दुस्तान की बसी पुरानी यादों की शिद्दत को कम नहीं कर पाया था। नफरत और मोहब्बत के मध्य इन्सानों का जुनून को समझना खुद मुस्किल हो गया था। युद्ध को समाप्त हुए पाँच माह गुजर गए थे इस बीच निजाम को बड़े भाई का कोई पत्र नहीं मिला था। निजाम के मन में जाने कहाँ से यह ख्वाहिश अपना डेरा जमा चुकी थी कि उसे लगता था कि उसका बहुत कुछ पीछे रह गया हैं उन चीजों को वापस तो नहीं पा सकता लेकिन जो रिश्ते शरीर की शक्ल में मौजूद है। उन्हें तो अपने पास संजोकर रख सकता है।

निजाम के अन्दर चलते मानसिक तनाव को उसके पास बैठे दूसरे लोग नहीं महसूस कर सकते थे कि वह दो तरह के माया जाल में जी रहा है।

निजाम अपने कारोबार में व्यस्त होने के बावजूद भी उसके दिलों दिमाग में पल–पल अपने गांव की मिट्टी याद आती रहती है। उसका दिमाग नोटों की गड्डी की हकीकत के साथ अपने गाँव और घर की सैर करता रहता है। कभी–कभी किसी समझौते पर हस्ताक्षर कर हंसते हुए अपने आप से कहता भी है–'' सारे आराम, शान–शौकत और दौलत को हासिल करके मैंने पाया क्या? किसके लिए इतनी मेहनत करके मैं दौलत का अम्बार खड़ा कर रहा हूँ.... किस के लिए?''

इधर कई दिनों से निजाम पर दिमागी तनाव छाया था। बात यह थी कि जो मुसलमान पंजाबी बंटवारे के बाद हिन्दुस्तान की तरफ आये थे, वे पूरी तरह पंजाब में जाकर घुल–मिल गए थे उनके साथ महाजिर शब्द तो नहीं जुड़ पाया था, मगर तभी एक ताजिर की आवाज आती है– ''हम किसी भगोड़े या पनाहगीर को अपनी अंजुमन का सदस्य नहीं बनायेंगे।''

''इस तरह मत बोलो, साई हम ताजिर लोग हैं। हमारा काम धंधा करना है।''[6]

इस सभा के बाद निजाम सचिव चुन लिया जाता है। विस्थापित लोग जो पाकिस्तान में है वे अपने आप को महाजिर कहने पर मजबूर हो गए है। अपनी तारीख, भाषाई पहचान जो दूसरी कौमों से जुदा है, भूल गए, ''हाँ, हर इन्सान बेहतर जिन्दगी चाहता है और यह बिना जद्दोजहद किए तो हासिल हो नहीं सकती। सवाल जिन्दा रहने की लड़ाई का है और.....।''[7] कहते कहते निजाम रूक गया।

इन लोगों के बीच से हटने के बाद निजाम सोचता है कि कुछ तो नहीं बदला। वहाँ हिन्दुओं का खौफ था कि वे मुसलमानों को जीने नहीं देंगे, मगर यहाँ तो हिन्दू मुट्ठी भर ही है और जो मुसलमान भरे हुए है, वह पंजाबी, सिन्धी पठान पहले है। मगर महाजिरो पर आरोप है कि वह भारत में हिन्दू और अब पाकिस्तान में सिन्धी के साथ मिलकर नहीं रह पा रहे हैं। क्योंकि अलगाव का एहसास दिलों में बढ़ रहा है। पुराना वतन सियासत ने छुड़वाया और अब नफा–नुकशान का फायदा खुद करना है।

नासिरा शर्मा ने जिन्दा मुहावरे उपन्यास में यह पीड़ा यह दर्द यह छटपटाहट बड़े ही मार्मिक ढ़ंग से उकेरे हैं। इस उपन्यास के पन्ने दर पन्ने पर जिन्दा मुहावरे में सिर्फ एक परिवार के लोगों का

सच इस तरह प्रस्तुत किया है कि इतने बड़े ऐतिहासिक हादसे से उपजी पीड़ा किसी एक देश की नहीं है वरन सम्पूर्ण इंसानियत की है।

लोगों की भावात्मक संवेदना को बड़े यथार्थपूर्ण ढंग से आमजन के व्यवहारिक जीवन में होने वाले परिवर्तन को मुहावरों के माध्यम से कथाकार ने कथा सूत्रों को जोड़ा है भारतीय मुसलमान की स्थित यह होती है कि पाकिस्तान का स्वप्न उनका एक दुःखद स्वप्न में परिवर्तित हो जाता है। एक धर्म के होने के बावजूद वे हिन्दुस्तानी और पाकिस्तानी के नाम से संबोधित किए जाते हैं।

इतने बड़े देश स्तर पर हुए देश विभाजन के ऐतिहासिक हादसे से उपजी पीड़ा किसी कोंम की ही नहीं है बल्कि पूरे इंसानियत पर प्रश्नचिन्ह लगा दिया। विभाजन सिर्फ दोनों देश की सीमाओं का नहीं हुआ है वास्तव में विभाजन दिलों–दिमाग के एहसास का, सूक्ष्मतम भावनाओं का, निश्चल प्रेम का, अटूट विश्वास का, सदियों की साझा संस्कृति का, परम्पराओं का, धार्मिक मान्यताओं का हुआ।

उपन्यास के एक पात्र प्रो0 ज्वाला प्रसाद कहते है–

''सच पूछो तो बटवारा हमारी सोच का हमारी भावना का हिस्सा बन चुका है उस मानवीय विलय से आज भी निकल नहीं पाये है। शायद पचास साल तक भी निकल न पायेंगे। मैं लाहौर का हूँ। ना शहर भूला, ना दोस्त ना वह खुशबू। आज भी तालिब मुझे ख्वाबो में नजर आता है''।[8]

जिन्दा मुहावरे की संरचना में धरती को मोह लेने वाली बाँस–गंध के साथ अनुकूल भाषा का जीवंत प्रयोग व रिश्तों के साथ वास्तविक ताल मेल ने अलग–अलग समाजों वर्गों और विचारों को एक सूत्र में जोड़कर यह प्रमाणित कर दिया कि सभी धाराएँ एक जुट होकर एक मुख्यधारा का निर्माण करती है और सांस्कृतिक एक रसता की विरासत को अपने समूचेपन में ठोस धरातल पर खड़ा कर देती है। इसी के कारण यह रचना तमाम भ्रमों शंकाओं को निरस्त करते हुए इस सच्चाई को सामेन लाती है कि राजनीतिक स्वार्थों के कारण भले ही लोग अपनी जन्मभूमि से विस्थापित हो गए हो, लेकिन इन्सानी रिश्ते नहीं बंटते।

स्पष्टतः हम कह सकते है कि नासिरा शर्मा का यह उपन्यास जिन्दा मुहावरे एक विशेष कृति है। इस उपन्यास का उद्देश्य आज भी सार्थक है। इसके माध्यम से विभाजन के बाद हुई विस्थापन जैसी समस्या का दंश बहुत ही बखूबी ढंग से दर्शाया गया है। भारत के लोगों में बदलती हुई भावात्मक तस्वीरे लेखिका ने यथा संभव बड़ी मेहनत से अभिव्यक्त किया है।

संदर्भ ग्रंथ सूची :

1. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0– 125
2. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0– 126
3. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–126
4. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–68
5. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–69
6. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–73
7. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–74
8. नासिरा शर्मा, जिन्दा मुहावरे , पृ0–125

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

प्रतिरोधी चेतना का शायर: अदम गोंडवी

डॉ. रवीद्र कुमार यादव
म.गां.अं.हिं.वि. वर्धा, महाराष्ट्र

हिन्दी गजलकारों की परंपरा में अदम गोंडवी एक महत्वपूर्ण हस्ताक्षर के रूप में हमारे सामने आते हैं । वे आम आदमी की भाषा में आम आदमी की गहरी संवेदना को उकेरने वाले हिन्दी और उर्दू की सांझी विरासत हैं, जिनका दोनों पर समान अधिकार है। उनकी शायरी मीर, गालिब की परंपरा में आती है और वर्तमान में अदम की यह परंपरा दुष्यंत के आगे की कड़ी के रूप में उपस्थित होती हुई दिखाई देती है। इस दृष्टिकोण से अदम को हम हिन्दी उर्दू या मिली-जुली जुबान का शायर कह सकते हैं। इस मिली- जुली जुबान के इकलौते शायर अदम जी नहीं हैं बल्कि उनसे पूर्व दुष्यंत कुमार और शलभ श्रीराम सिंह के यहाँ भी यह परंपरा दिखाई देती है। हिन्दी में यही परंपरा प्रेमचंद से लेकर कमलेश्वर तक में दिखाई देती है जो दोनों समाजों (हिंदु –मुस्लिम) को एक सूत्र में जोड़ने का कार्य करती है। इस संदर्भ में हिंदी के वरिष्ठ आलोचक प्रोफ़ेसर विजय बहादुर सिंह का मानना है कि –**"दुष्यंत ने अपनी गजलों से शायरी की जीत नई राजनीति की शुरुआत की थी अदम ने उसे उस मुकाम तक पहुंचाने की कोशिश की है जहां से एक- एक चीज बगैर किसी धुंधला करके पहचानी जा सके यह शायरी एक अर्थ में सचमुच सायरी कम है सीधी बात कहीं अधिक है इस रूप में यह एक ऐसी अपवाद आपद धर्म कला है जो आग की लपटों के बीच दूदू जल्दी बस्तियों को बचाने के लिए आगे आती है"**[1]। अदम एक शायर की भावुकता से पूरी तरह मुक्त नहीं हैं । हिन्दी शायरों और कवियों को अभी भी नक्सलवाद मोहित करता है इससे कवियों की वैचारिकी तथा ऐतिहासिक समझ पर भी प्रश्न चिन्ह खड़ा होता है, इतिहास तथा पुराण के साथ-साथ आधुनिक लेखन के चीर-परिचित और ठोस संदर्भों का सटीक और सार्थक इस्तेमाल कर अदम ने हिन्दी शायरी को अधिक संवृद्ध और संवाद धर्मी बनाने की जो पहल की है इससे उनका महत्वपूर्ण योगदान साबित होता है। शमशेर ,दुष्यंत और शलभ श्री राम सिंह इस तरह की मिली जुली संदर्भमयता को बहुत कम या न के बराबर ही कर पाये हैं। निश्चय ही यह विशिष्टता इकबाल और फिराक में दिखाई देती है। अदम ने इस परंपरा को अधिक मुखर और जनप्रिय रूप देने की कोशिश करके कविता को परम्परागत महफ़िलों से बाहर ले आने का जोखिम उठाया है। तुलनात्मक रूप से हिंदी के एक बड़े गजलकार दुष्यंत की बात करें तो इनमें और अदम गोंडवी में काफी अंतर दिखाई देता है। यह अंतर संवेदना और शिल्प दोनों स्तरों पर साफ-साफ दिखाई देता है। अदम गोंडवी में प्रतिरोध की चेतना अधिक है, जबकि दुष्यंत कुमार में गजलपन रूमानियत का सुखद एहसास है। वास्तव में अदम गोंडवी आम आदमी की भाषा को एक गहरी संवेदना में प्रस्तुत करने वाले शायर हैं। इस संदर्भ में वरिष्ठ कवि एवं संस्कृतिकर्मी राजेश जोशी का मानना है कि-" **दुष्यंत और अदम का कवि मन और व्यवहार एकदम**

अलग जमीन पर खड़ा है। दुष्यंत संकेतों और बिंबों के जरिए अपने राजनीतिक आशयों को व्यक्त करते हैं जबकि अदम अभिधा और व्यंजना का उपयोग करते हैं और बिंबों का सहारा कम से कम लेते हैं। दुष्यंत में एक गजलियत है। अदम में प्रतिरोधात्मक फटकार सुनाई देती है।"[2]

जन संवादी कविता के कामकाज के ख़तरे पहले भी थे और आज भी हैं ऐसा भी नहीं कहा जा सकता अदम की शायरी सरलता की हद तक जाकर भी व्यावसायिकता और उधेडपन से साफ- साफ बच निकली है तभी उनकी शायरी लोगों के दिलों में स्वाभिमान भरोसा आत्मविश्वास भाईचारा प्रतिरोध और क्रांति की उस ज्वाला को फूँक सकी है, जो जन-जन तक उपस्थित हो रही है आज के उपभोक्तावादी और बाजारी समाज में विद्रोह और गहन गुस्से से फूटा हुआ व्यंग भी, सांस्कृतिक बाजारों और उपभोक्तावादी समाज में कितनी मंहगी और ऊंची दरों पर बिक रहा है यह देखा जा सकता है अदम और उनकी शायरी इस बिकाऊपन से काफी सावधान रही है और जनता को बगावत का धर्म ही नहीं उसका तरीका भी समझाने की कोशिश करती रहेगी ।सिर्फ अमीरी और गरीबी का भेद ही नहीं सिर्फ अर्धसामंती अर्धपूजीवाद सरकार का असली चरित्र नहीं धार्मिक कट्टरता और संप्रदायवाद उपभोक्तावाद भाषावाद प्रांतवाद रूढ़ि और अंधविश्वास चुनावतंत्र की विकृतियां पूंजीवाद के बढ़ते हुये दबाव खेतों की कीमत पर विकसित किया जाने वाला उधोगवाद, व्यापारवाद, सरकारी शोषण, रिश्वत, राजनीतिक भ्रष्टाचार और राष्ट्रवादी राजनीतिक चेहरों को उजागर करती अदम की शायरी अपनी प्रत्येक गजल में शोषित उत्पीड़ित भारतीय जनता के दुख दर्द का बया करती है।अदम की शायरी अपनी सघन अनुभूतियों तथा कसक को समेटे हुये अपने पाठकों को न वाह करने के अवसर देती है और न ही आह भरने की मजबूरी ही परोसती है बल्कि वह अपने पाठको में प्रतिघात करने उत्प्रेरणा तथा गुस्सा पैदा करती है। मुख्यतः भूख सांप्रदायिकता गाँव के किसानों का नित- नया शोषण और किसान जीवन की आजादी, आजादी की मुश्किले और चिंताए अदम को बुनियादी रूप से झकझोरती है। हिंदी के सुप्रसिद्ध आलोचक मैनेजर पाण्डेय का मानना है कि –
"अदम गोंडवी की कविता आज के हिंदी कविता की दुनिया में एक अचरज की तरह है आज की हिंदी कविता के रूप रंग दिशा दृष्टि बनावट सजावट और पहुंच की इच्छा से एकदम अलग और बेपरवाह व उनकी कविता है जिसके लिए अब कोई कविता नहीं लिखता वह गांव के गरीबों दलितों असहाय मजदूरों किसानों और सताई जाने वाली औरतों की कविता है ऐसे ही कविता को कॉल मारने मनुष्यता की मातृभाषा कहा था।"[3] अदम का काव्य संसार वर्तमान व्यवस्था का घोर विरोधी है, जहाँ व्यवस्था से लड़ने के अलावा और कोई उपाय ही नहीं है। अदम अपने समाज की विसंगतियों, विडंबनाओ और चुनौतियों को सही रूप में परखते हैं । अपने समय की जातिगत व्यवस्था, गरीबी तथा सदियो से उपेक्षित जातियों की तमाम समस्याओं को प्रमुख रूप से उठाते हैं। अदम का समय बड़े राजनीतिक बदलाव का समय था औपनिवेशिक सत्ता से मुक्त हुई जनता की भारतीय शासन से बड़ी आशा और आकांक्षा थी लेकिन जल्द ही जनता का यह स्वप्न टूट गया आम जनता में बेबसी और लाचारी अब भी बनी रही समाज और गाँव में अब भी सामन्ती शोषण हावी था गाँव में अब भी उच्च वर्ग का वर्चस्व बना हुआ था ऐसे में अदम का लेखन साहित्य जगत में एक मौलिक दृष्टिकोण और मौलिक चेतना के

साथ उद्भूत होता है। गाँधी के गाँधीवाद और अहिंसा में अदम का बिल्कुल भी विश्वास नहीं हैं अदम प्रगतिशील शायर हैं साथ ही प्रगतिवादी भी वे इसी मार्ग पर चलते हुये दिखाई देते हैं और अपने आक्रोश को व्यक्त करते हैं।

वास्तव में आजाद भारत के कैनवास पर देखें तो गांधीवाद का जो ढांचा भारत में पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अपनाया वह ढांचा पूर्णता सफल नहीं हो पाया क्योंकि ना तो जातिवाद पूरी तरह से समाप्त हो पाया और ना ही पूंजीवाद पूरी तरह से समाप्त हो पाया इन दोनों का मिला जुला रूप भारत में यथावत बना रहा जो अदम गोंडवी के समय तक यानी अब तक बना हुआ दिखाई देता है। अदम गोंडवी ऐसी व्यवस्था के प्रति घृणा व्यक्त करते हैं जो मानव मानव के बीच में दरार पैदा करें और विषमता की खाई को कम करने की बजाय और विस्तार देती हो इसलिए वे लिखते हैं कि-

"जो डलहौजी न कर पाया वो ये हुक्काम कर देंगे
कमीशन दो तो ये हिन्दुस्तान को नीलाम कर देंगे"[4]

"जिनके चेहरे पर लिखी हैं जेल की ऊँची फ़सील
राम नामी ओढ़कर संसद के अंदर आ गए
देखना सुनना व सच कहना जिन्हे भाता नहीं
कुर्सियो पर फिर वही वापू के बंदर आ गए"[5]

अदम गरीबी के आलम को सही रूप में परखते हैं आजादी के इन साठ वर्षों मे कांग्रेस ने हमको क्या दिया उसके सारे दावे केवल किताबों और फाइलों में दर्ज रहे हैं आजादी के पूर्व जिस भारत कि संकल्पना को पंत ने यह कहकर अभिव्यक्ति प्रदान की हैं कि भारत की आधे से अधिक जनसंख्या न तो अपना तन ढक पा रही थी और न ही अपना पेट भर पा रही थी क्योंकि देश अंग्रेजी दासता से मुक्त नहीं हो पाया था–

'भारतमाता ग्रामवासिनी, खेतों में फैली है श्यामल, धूल भरा मैला सा आँचल गंगा यमुना में आँसू जल, मिट्टी कि प्रतिमा उदसिनी भारत माता ग्रामवासिनी।'

इसी कविता के अंत में वह कहते हैं -'सफल आज उसका तप संयम' लेकिन अब ऐसा नहीं हैं क्योंकि अब देश आजाद है लेकिन बाद में यही संकल्पना अदम के यहाँ धूमिल होती हुई दिखाई देती हैं अदम कहते हैं -

"सौ में सत्तर आदमी फिलहाल जब नाशाद हैं
दिल पे रखके हाथ कहिए देश क्या आजाद हैं
कोठियों से मुल्क के मेयार को मत आँकिए
असली हिन्दुस्तान तो फुटपाथ पर आबाद हैं"[6]

इस तरह आम आदमी के दर्द को अदम ने जिस तरीके से उकेरा है, इससे यह साफ है कि आम आदमी के जीवन में यानी दलित, आदिवासी, स्त्री, किसान और खानाबदोश जीवन व्यतीत करने वाले व्यक्तियों के

जीवन स्तर में न तो आर्थिक रूप से कोई समृद्धि आ पाई है और ना ही सामाजिक रूप से कोई समृद्धि आ पाई है आज भी वही स्थितियां बनी हुई है जो आजादी से पूर्व बनी हुई थी

दलित सामाजिक चेतना – अदम के यहाँ दलित और सामाजिक चेतना अपने यथार्थ रूप में दिखाई देता हैं हाशिये के समाज और उसके मन में व्याप्त सामाजिक हीनता बोध और आक्रोश को अदम ने एक गहरी अभिव्यक्ति प्रदान कि हैं -

"अंत्यज कोरी पासी हैं हम,
क्यूँ कर भारतवासी हैं हम
अपने को क्यों वेद में खोजे,
क्या दर्पण विश्वासी हैं हम
धर्म के ठेकेदार बताए,
किस ग्रह के अधिवासी हैं हम"[7]

अदम गोंडवी की कविता से यह साबित होता है कि उन्होंने खुद को डी क्लास नहीं डिकास्ट भी कर दिया है। इसलिए उन्होंने एक और भारत के शोषित-पीड़ित जन से तादात्म्य स्थापित किया है, तो दूसरी और दलित समुदाय का पक्षधर बनकर उसकी भावना और सोच की कविताएं लिखी है। मुक्तिबोध ने जिस ज्ञानात्मक संवेदना और संवेदनात्मक ज्ञान की बात की है वह अदम गोंडवी की कविता में है। भारत के शोषित- पीड़ित जन की जिंदगी से अदम की एकता तादात्म्य स्थापित करती है। इसलिए अब दलित जन के बारे में अदम की कविताओं की बात करना जरूरी है। इस संदर्भ में मैनेजर पांडेय का विचार है कि -**"इस देश में गरीब, दलित अब भी भारतीय लोकतंत्र के सच्चे और पूरे नागरिक नहीं है ना संस्कृति में और न समाज में आज भी रोज -रोज जघन्य ज्यादतियों और अपराधों के शिकार हो रहे हैं इस स्थिति को ध्यान में रखकर अदम गोंडवी उनकी ओर से सवाल करते हैं।"**[8] इस तरह अदम गोंडवी आम दलित की पीड़ा व दमन को एक स्वरूप प्रदान करते हैं इसी तरह की कविता 'चमारों की गली है' जो दलितों के दमन की पूरी प्रक्रिया को दिखाती है जहां एक तरफ जातिवाद उच्च जातीय दंभ हावी है तो वहीं दूसरी तरफ छोटी जातियों पर होने वाले अत्याचार का क्रूरता पूर्वक बहिष्कार किया जाता है जो अदम गोंडवी की कविता में एक सतत प्रवाह के साथ दिखाई देता है। अदम से पूर्व दलितो में आक्रोश का यह स्वर विद्रोही और क्रांतिकारी कवि निराला में दिखाई देता हैं जब वो कहते हैं –

'आज अमीरों कि हवेली होगी किसानों की पाठशाला धोबी पासी चमार तेलीखोलेंगें अंधेरे का ताला एक पाठ पढ़ेंगे टाट बिछावों'

अदम के दलितों में आक्रोश का यह स्वर अगर अदम से पूर्व अगर किसी कवि से जुड़ता हैं तो वह निराला से जुड़ता हैं अदम वेद और पुराण से लेकर आज़ तक के साहित्य को खंघालते हैं इतना ही नहीं बल्कि वे इतिहास वेद तथा पुराण को ख़ारिज भी कर देते हैं वे आस्था की जगह अनास्था पर विश्वास करते हैं

"वेद में जिनका हवाला हाशिए पर भी नहीं
वे अभागे आस्था विश्वास लेकर क्या करे
लोकरंजन हो जहाँ शंबूक वध की आड़ में
उस व्यवस्था का घृणित इतिहास लेकर क्या करे।"[9]

दलितों के भीतर सामाजिक भेदभाव तिरस्कार का जो दंश और आक्रोश भरा हुआ हैं अदम उसको यथार्थ रूप में परखतें हैं धर्म के प्रति अदम का दृष्टिकोण नकारात्मक रूप में दिखाई देता है। अदम इस रूप में क़ौमी एकता के शायर हैं की वे हिंदू – मुस्लिम एकता बनाये रखने की कोशिश करते हैं गरीबी से लड़ने की जो जहमत अदम के यहाँ दिखाई देती हैं वो साधारण आम आदमी से लेकर बौद्धिक दोनों को समान रूप से आकर्षित करती हैं -

"मेरी नज्मों में मशीनी दौर का इतिहास हैं
भूख के शोलो में जलती कौम का इतिहास हैं"[10]

अदम इस रूप में भी क़ौमी एकता के शायर हैं की वे कुछ चीजों को दबी हुई मर्यादित रूप में देखना चाहते हैं उन्हें न वे यथार्थ रूप में देखना चाहते हैं और न ही उसे उघाड़ने की कोशिश करते हैं –

"हिंदू या मुस्लिम के अहसासात को मत छेड़िए
अपनी कुर्सी के लिए जज़्बात को मत छेड़िए
हममे कोई हूण कोई शक कोई मंगोल हैं
दफ्न हैं जो बात अब उस बात को मत छेड़िए।"[11]

अदम के काव्य में प्रतिरोध के साथ-साथ विरोधाभाष भी दिखाई देता हैं जहाँ अदम के विचार आपश में टकराते हुए दिखाई देते हैं उनके एक विचार दूसरे विचार को काटते हुए नजर आते हैं एक जगह वे कहते हैं

"हममे कोई हूण कोई शक कोई मंगोल हैं
दफ्न हैं जो बात अब उस बात को मत छेड़िए।"[12]

अदम में प्रतिरोध का यह स्वर न केवल राजनीतिक सामाजिक आर्थिक और अपनी व्यवस्था में दिखाई देता हैं बल्कि साहित्यकारों कलाकारों अदिबो के प्रति भी दिखाई देता हैं शायरों साहित्यकारों कवियों को अपने हकीकत में बने रहने की नसीहत अदम के यहाँ दिखाई देती हैं देश काल वातावरण और सामाजिक परिस्थितियों के अनुरूप ही एक रचनाकार को मर्म की तलाश करनी चाहिए समय की धारा के विपरीत रहकर कोई रचनाकार कभी प्रासंगिक नहीं रह सकता हैं -

"भुखमरी की रुत में नग्मे लिख रहें हैं प्यार के
आज़ के फनकार भी हैं दोगले किरदार के"[13]

अदम यहाँ एक निर्देशक के रूप में दिखाई देते हैं और जमाने की तल्ख सच्चाइयों से जुड़ने को रचनाकार को प्रेरित करते है। हर तरह की परंपराओं में परिवर्तन का आकांक्षी कवि गजल की परंपरा में भी बदलाव चाहता हैं –

"भूख के अहसास को शेरो-सुखन तक ले चलो
या अदब को मुफ़लिसों की अंजुमन तक ले चलो
जो गजल माशूक के जल्वों से वाकिफ हो गई
उसको अब बेवा के माथे की शिकन तक ले चलो"[14]

अंततः कवि फनकारों को सजग रहने की प्रेरणा और अपने कर्तव्यों के प्रति निष्ठवान बने रहने की प्रेरणा देता है। इस तरह अदम की काव्य संवेदना और प्रतिरोध का यह स्वर अत्यंत मार्मिक रूप में दिखाई देता हैं वह किसी नंगे अल्फ़ाजों का व्योरा मात्र नहीं हैं वह अपने सामाजिक विसंगतियों और भ्रष्ट लोकतंत्र की सच्चाई हैं जो हमारे सामने बेलिबास रूप में आती हैं । इसी तरह मशहूर शायर अनवर जलालपुरी ने अदम की शायरी को व्यापक फ़लक पर देखने की बात कही उन्होंने कहा कि -**आजादी के बाद समाज में व्याप्त बुराइयों राजनेताओं और अधिकारियों के चरित्र और सामंती जुल्म पर गोंडवी ने जिस बेबाकी से अपनी लेखनी चलाई ऐसे रचनाकार बहुत कम मिलते है. उन्होंने बताया कि गोंडवी का लहजा 'इंकलाब जिंदाबाद' से आगे निकल कर बगावत का लहजा बन चुका था।**"[15]

समग्रता में कहा जाय तो अदम गोंडवी क्रांति के गायक थे जीर्ण शीर्ण व्यवस्था से लड़ने का उनमें अदम्य साहस तथा उत्साह था उनका पूरा जीवन साहस और संघर्ष से भरा हुआ दिखाई देता हैं। किसी भी शायर या कवि के बड़ा बनने में मुख्यतः दो बाते सहायक हुआ करती हैं पहली यह की वह अपने जमाने से आगे की बात करता हैं और दूसरी यह की वह अपने समय में कोई नई आवाज पैदा करता हैं ,अदम गोंडवी इन दोनों रूपों में याद किए जाएँगे। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगा की अदम की शायरी में आलोचनात्मक रुख दिखाई देता है जो मन से रूह और रूह से दिल तक उतरती है।

संदर्भ ग्रंथ –

1. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी वाणी प्रकाशन (कवर पेज से)
2. कल के लिए. संपादक – डॉ. जय नारायण. (त्रैमासिक पत्रिका दिसंबर 2011 से जून 2012 अदम गोंडवी स्मृति अंक) अंक 75- 77 पृष्ठ संख्या 14
3. कल के लिए. संपादक – डॉ. जय नारायण. (त्रैमासिक पत्रिका दिसंबर 2011 से जून 2012 अदम गोंडवी स्मृति अंक) अंक 75- 77 पृष्ठ संख्या 6
4. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 40
5. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 31
6. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 48
7. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 39

8. कल के लिए. संपादक – डॉ. जय नारायण. (त्रैमासिक पत्रिका दिसंबर 2011 से जून 2012 अदम गोंडवी स्मृति अंक) अंक 75- 77 पृ.सं . 7
9. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 45
10. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 87
11. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 88
12. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 88
13. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 94
14. समय से मुठभेड़ अदम गोंडवी पृ.सं. 47
15. https://www.aajtak.in/literature/profile/story/poet-ram-nath-singh-popularly-known-as-adam-gondvi-passed-away-229262-2014-12-18
16. गोंडवी, अदम. समय से मुठभेड़ . वाणी प्रकाशन
17. कल के लिए. संपादक – डॉ. जय नारायण. (त्रैमासिक पत्रिका दिसंबर 2011 से जून 2012 अदम गोंडवी स्मृति अंक) अंक 75- 77
18. https://www.aajtak.in/literature/profile/story/poet-ram-nath-singh-popularly-known-as-adam-gondvi-passed-away-229262-2014-12-18

सहायक ग्रंथ -

1. प्रसाद, कालिका. (2016). वृहत् हिंदी कोश. वाराणसी: ज्ञानमंडल.
2. मद्दाह, मुहम्मद मुस्तफ़ा खाँ. (2006). उर्दू हिंदी शब्दकोश. लखनऊ: उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान
3. चंद्र, बिपन. (2011). समकालीन भारत.(अनु.अंशुमाली, प्रो.ब्रजकिशोर, चारुमित्र, डॉ.द्वारिका प्रसाद). नई दिल्ली: अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्ट्रीब्यूटर्स (प्रा.) लिमिटेड.
4. चंद्र, बिपिन. (2014). आज़ादी के बाद का भारत. नई दिल्ली: हिंदी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली विश्वविद्यालय.
5. अकबराबादी, सैयद मोहम्मद अहमद रिजवी मखमूर, रूहे नजीर, उत्तर प्रदेश उर्दू अकादमी लखनऊ 1978
6. अहमद, मलिकजादा मंजूर, इंतिखाब गजलियात, नजीर अकबराबादी उत्तर प्रदेश उर्दू एकेडमी लखनऊ, संस्करण 2009
7. उस्मानी, शमशुल हक, नजीरनामा, सुबुही पब्लिकेशन दिल्ली 1979
8. गोरखपुरी, फिराक रघुपति सहाय, उर्दू साहित्य का इतिहास, उत्तर प्रदेश हिंदी संस्थान लखनऊ 2008
9. hi.wikipedia.org › wiki
10. aajtak.inनई दिल्ली,18 दिसंबर 2014,(अपडेटेड 18 दिसंबर 2014, 5:06 PM IST
11. वंचित जनता. (अक्टूबर-नवंबर 2013)
12. वर्तमान साहित्य. (अगस्त-सितंबर 2014)

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

''गांधी की विकास–अवधारणा एवं वर्तमान में प्रासंगिकता''

आशीष कुमार सिंह
शोध–छात्र
मध्यकालीन इतिहास विभाग
आर0आर0पी0जी0 कालेज
अमेठी।
डॉ0 रा0म0लो0 अवध वि0वि0, अयोध्या

शोध–सारांश

विश्व एवं भारत में लगभग एक सदी से विकास की बहस पूँजीवादी एवं समाजवादी अवधारणा पर केन्द्रित विकास मॉडल पर ही उलझी रही है। जहाँ पूँजीवादी विकास मॉडल धन–सम्पत्ति को कुछ निजी व्यक्तियों के हाथों में संकेन्द्रित होने को आश्रय देता है, वहीं समाजवादी मॉडल राज्य को ही सब कुछ सौंप देना चाहता है। महत्वपूर्ण है कि इन दोनों ही विकास मॉडलों में मानवीय संवेदनाओं एवं मानवेत्तर प्रकृति पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है। उक्त परिस्थिति में गांधी जी ने एक ऐसे आर्थिक विकास की संकल्पना तैयार करने का प्रयास किया जिसमें व्यक्ति के मनोभावों, उसकी भौतिक आवश्यकताओं एवं प्रकृति के साथ उसके गहन सम्बन्धों को स्थापित किया। 20वीं सदी के अन्तिम दशकों में आकार लेती सतत् विकास की अवधारणा गांधी जी के विचारों को पुष्ट करती दिखायी पड़ती है। गांधी अपने इस विकास सम्बन्धी संकल्पना में रस्किन, थोरो, ज्यां बोन्द्रेआं एवं भारतीय उपनिषद की परम्परा से प्रेरित हैं।

मुख्य शब्द : पूँजीवाद, समाजवाद, मानवीय संवेदना, सतत विकास एवं प्रकृति

गांधीवादी विकास सिद्धान्त :

गांधी न तो अर्थशास्त्र के विद्यार्थी थे और न ही कोई विशिष्ट अर्थशास्त्री। गांधी अपने विचारों एवं दर्शन में कुछ विशिष्ट पहलू उपलब्ध कराते हैं जो कि एक विकास सिद्धान्त को निर्मित करते हैं। गांधी के ये विकास सम्बन्धी विचार वर्तमान के वैश्वीकृत एवं नवीन उदारवादी विश्व में अत्यधिक प्रासंगिक हो जाते हैं। आज यन्त्र की सत्ता में सूचना संचार प्रौद्योगिकी व्यक्ति को आत्म निर्वासन की ओर अग्रसर कर रही है। जहाँ व्यक्ति की सफलता का पैमाना उसकी भौतिक उपलब्धियाँ हैं, ऐसी परिस्थिति में हिंसा, वंचना, नस्लवाद, प्रभुत्व स्थापित करने की स्थिति, मानसिक तनाव आदि अपने चरम पर हैं। उपभोक्तावाद अपने राजनीतिक सन्दर्भ में व्यक्ति की हैसियत तय कर रहा है। ऐसी परिस्थिति में गांधी जी के सामाजिक, आर्थिक विचार मार्गदर्शन करते दिखायी पड़ते हैं। गांधी जी एक ऐसी राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की वकालत करते हैं जो सामाजिक न्याय का पक्ष लेती हो, असमानताओं को कम करती हो और निर्धनों में भी निर्धनतम की बेहतरी पर केन्द्रित हो।

गांधी जी आर्थिक जीवन में भी नैतिक मूल्यों के आधार पर कारोबार करने का समर्थन करते हैं। इसके साथ ही वे लोगों के स्वयं के प्रयासों से उनकी उन्नति के पक्षधर हैं। इस बिन्दु पर गांधी, पूँजीवाद एवं समाजवाद के बीच का रास्ता निकालते हुए दिखलायी पड़ते हैं। इसके अतिरिक्त व्यक्ति एवं समाज के सम्पूर्ण विकास के लिए गांधी जी कुछ मूल्यों को भी स्थापित करते हैं –

i) सत्य

ii) अहिंसा

iii) आत्म नियंत्रण

iv) स्पृश्यता का उन्मूलन

v) स्वदेशी

vi) खादी

गांधी के सम्पूर्ण विकास मॉडल को निम्नलिखित उपशीर्षकों के माध्यम से समझने का प्रयास किया जा सकता है :–

1. सर्वोदय :

गांधी का सर्वोदय लोगों के लिए लोगों के द्वारा और लोगों का एक विकास प्रक्रम है जो कि सभी के कल्याण को सुनिश्चित करता है। गांधी के सर्वोदय की इस अवधारणा में जेम्स मिल व बेंथम की अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम कल्याण का सिद्धान्त नहीं है, क्योंकि उपयोगितावाद का यह दर्शन कहीं न कहीं पूँजीवाद, उपभोक्तावाद को बढ़ावा देता है लेकिन गांधी के यहाँ अन्त्योदय की अवधारणा है जिसमें समाज के अन्तिम छोर पर खड़े हुए व्यक्ति के कल्याण की बात की गयी है। सर्वोदय प्रणाली में मूलभूत आवश्यकताओं को अधिक वरीयता दी गयी है।

विलासितापूर्ण एवं आरामदेह वस्तुओं को गांधी जी दूसरी श्रेणी में रखते हैं। सर्वोदय की इस अवधारणा में गांधी जी आर्थिक असमानता, गरीबी एवं विषमता के लिए मानव की लोभ लालच की प्रवृत्ति को उत्तरदायी मानते हैं। वर्तमान पूँजीवादी मॉडल में कॉरपोरेट लालच कूट–कूट भरा हुआ है, जो कि समाज एवं प्रकृति का क्षरण कर रहा है। 1908 में 'हिन्द स्वराज' में गांधी जी लिखते हैं ''एक व्यक्ति धनवान होने पर आवश्यक रूप से प्रसन्न नहीं हो सकता इसी प्रकार गरीब व्यक्ति अप्रसन्न नहीं हो सकता।'' इस प्रकार सुख या प्रसन्नता एक मानसिक अवस्था है, जो कि चरम भौतिक उपलब्धियों में भी प्राप्त हो ऐसा सम्भव नहीं है।

2. गांधी का ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त :

गांधी अपने इस सिद्धान्त में सामाजिक परिवर्तन के लिए गैर हिंसक मार्ग की रुपरेखा प्रस्तुत करते हैं। वे यहाँ साम्यवाद की उस हिंसक वर्ग– संघर्ष की अवधारणा को तिरस्कृत करते हैं जो अभी तक अस्तित्व में आयी ही नहीं है। गांधी की ट्रस्टीशिप की अवधारणा समाज को समाज के कल्याण के लिए सशक्त करती है। गांधी इस अवधारणा में सामूहिक भागीदारी और विकास कार्यकर्ताओं के माध्यम से लोगों के साथ मिलकर कार्य करने की बात करते हैं। इसके लिए चार पक्ष स्थापित करते हैं –

i) ग्रामीणों का अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सामूहिक रूप से विचार–विमर्श करना।

ii) एक व्यवस्थित योजना को समुदाय द्वारा तैयार करना।

iii) संसाधनों की उपलब्धता एवं उनकी कुशल उपयोगिता को किसी योजना के लिए समुदाय द्वारा सुनिश्चित करना।

iv) समुदाय का योगदान एवं समर्थन।

3. विकास के लिए नई तालीम के रूप में गांधी की एक प्रविधिः

गांधी ने 1937 में सम्पूर्ण विकास के लिए जिसमें शरीर, मस्तिष्क एवं आत्मा को सम्मिलित करते हुए शिक्षा के कुछ विशिष्ट सिद्धान्त स्थापित किये, जो कि निम्नवत् है :–

i) मातृभाषा में शिक्षा, हस्तशिल्प के साथ।

ii) स्थानीय आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए शैक्षणिक कार्यों का निर्धारण।

iii) शैक्षणिक कार्य सामाजिक रूप से उपयोगी एवं उत्पादक होना चाहिए।

iv) सीखने की प्रक्रिया व्यावहारिक जीवन में प्रदर्शित हो।

यह अवधारणा तकनीकी के साथ शिक्षा को कार्य केन्द्रित बनाती है। इसके द्वारा ग्रामीण युवाओं की कुशलताओं एवं क्षमताओं में वृद्धि होती है।

4. सम्पूर्ण विकास के लिए ग्राम स्वराज :

विकास विज्ञानियों का यह मानना है कि विकास को गति देने के लिए नगरीकरण और शहरों का विस्तार महत्वपूर्ण है लेकिन पश्चिम के आधुनिकीकरण के विकास मॉडल में नगरीकरण एक अपरिहार्य अंग रहा है। ध्यान देने योग्य है कि पश्चिम की संस्कृति, जीवन शैली, राजनीति, जनसंख्या का आकार आदि भारत से भिन्न है, किन्तु भारत में भी आजादी के बाद से ही आधुनिकीकरण के विकास मॉडल को अपनाया गया। जिसमें नगर केन्द्रित विकास पर बल दिया गया। वहीं गांधी जी की दृष्टि में भारत का सम्पूर्ण विकास गाँव के ही विकास से सम्भव था। गांधी जी का यह दावा था कि भारत में गाँव ही हैं जहाँ देश की महत्वपूर्ण समस्याएँ विद्यमान हैं। अतः गाँवों का पुनर्निर्माण किया जाना चाहिए, जिससे देश का विकास हो सके। गांधी जी की दृष्टि में एक आदर्श गाँव अपनी आवश्यकताओं के लिए खाद्यान्न फसलों एवं कपास का उत्पादन करे। गांधी, शहर और गाँव की समस्या का विश्लेषण करते हुए लिखते हैं कि ''ग्रामीणों का रक्त शहरों के निर्माण के लिए सीमेन्ट का कार्य करता है।'' शहरों के तीव्र विकास में ग्रामीण जीवन का यह रक्त और भी अधिक फैल जायेगा, जो कि आज शहरों को भी प्रभावित कर रहा है।

5. सन्तुलित समृद्धि का गांधीवादी मॉडल :

यह मॉडल आर्थिक संवृद्धि, मानसिक संवृद्धि और नैतिक उत्थान को समाहित करता है। इसके अन्तर्गत निम्न प्रकार के सन्तुलन सम्मिलित हैं–

i) दार्शनिक सन्तुलन – आर्थिक संवृद्धि और नैतिक संवृद्धि के मध्य सन्तुलन।

ii) संरचनात्मक सन्तुलन – ग्रामीण और शहरी अर्थव्यवस्था के बीच।

iii) परिस्थितिकी सन्तुलन – पर्यावरण एवं मनुष्य के बीच का सन्तुलन।

iv) तकनीकी सन्तुलन – लघु एवं बड़े उद्योगों को तकनीकी का सन्तुलन।

उक्त सन्तुलन के माध्यम से सामाजिक एवं आर्थिक विकास में भी सन्तुलन प्राप्त किया जा सकता है।

6. सतत् विकास एवं गांधीवादी मॉडल :

गांधी जी का यह मॉडल उनके इस दर्शन पर आधारित है – ''धरती मनुष्य की आवश्यकताओं के लिए पर्याप्त संसाधन रखती है, लेकिन लालच के लिए नहीं''। इस तरह गांधी जी पर्यावरण, समाज और अर्थव्यवस्था के बीच एक स्वस्थ्य सम्बन्ध बनाये रखने के पक्षधर हैं। इसके लिए गांधी जी निम्न प्रकार के उपाय प्रस्तुत करते हैं :–

i) सतत् कृषि – रासायनिक उर्वरकों एवं कीटनाशकों का सीमित प्रयोग करते हुए जैविक कृषि को बढ़ावा।

ii) खादी एवं लघु उद्योग – पर्यावरण हितैषी, रोजगार सृजन, गरीबी निवारण एवं सीमित प्रदूषण।

iii) नवीकरणीय ऊर्जा स्रोत।

iv) सेल्वीकल्चर – वृक्षारोपण, ईंधन के लिए लकड़ी घरों के निर्माण के लिए लकड़ी।

उपसंहार :

विकास के विभिन्न सिद्धान्त यथा आधुनिकीकरण का सिद्धान्त, क्लासिकल मॉडल, नियोक्लासिकल मॉडल, निर्भरता सिद्धान्त आदि आर्थिक संवृद्धि को केन्द्र में रखते हैं, लेकिन उन सिद्धान्तों में विकास किसके लिए हो रहा है अर्थात् मनुष्य की भावनाओं पर ध्यान नहीं दिया गया है, लेकिन गांधीवादी विकास सिद्धान्त को एक ऐसी सम्पूर्ण प्रक्रिया के रूप में देखता है, जिसमें सर्वे भवन्तु सुखिनः की भावना विद्यमान है। जिसमें मानवीय संसार के अतिरिक्त पेड़–पौधे एवं जीव–जन्तु भी सम्मिलित हैं। वर्तमान समाज में व्याप्त लालच, भ्रष्टाचार, हिंसा, तनाव आदि को गांधीवादी मॉडल एक राह दिखा सकता है।

संदर्भ :

1. अलकायर, एस0, 2008 : ''कॉन्सेप्ट एण्ड मेजर्स ऑफ एजेंसी'', यूनिवर्सिटी ऑफ ऑक्सफोर्ड.
2. अमीन, एस0, 1976 : अनइक्वल डेवलपमेन्ट न्यूयार्क, हारवेस्टर प्रेस.
3. गांधी, एम0के0, 1908 : हिन्द स्वराज, नवजीवन पब्लिशिंग हाउस, अहमदाबाद.
4. हरिजन, 23 अप्रैल, 1946.
5. हार्वे, डी0, 2005 : ए ब्रीफ हिस्ट्री नियोलिब्रलिज्म ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क.
6. हेन्स, जे0, 2008 : डेवलपमेन्ट स्टडीज कैम्ब्रिज पॉलिटी.
7. सुमन, आर0, 1969 : समाजसुधार ''समस्याएँ और समाधान'', गांधी साहित्य प्रकाशन, इलाहाबाद.
8. पटनायक, वी0के0, 2016 : सेज पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

नैतिकता का नया प्रतिमान: लिव इन रिलेशनशिप

डॉ. बीना जैन
एसोसिएट प्रोफेसर
किरोड़ीमल महाविद्यालय
दिल्ली विश्वविद्यालय

लिव इन रिलेशनशिप बीसवीं शताब्दी के अंत में शुरू होने वाली नई जीवन पद्धति है जिसका हमारे समाज के युवा वर्ग ने बहुत उत्साह के साथ स्वागत किया है। कॉर्पोरेट सेक्टर की चुनौतियां, काम के अधिकतम घंटे, व्यस्त और यांत्रिक जीवन शैली, अकेलापन, भावात्मक असुरक्षा, विवाह और संतान की जिम्मेदारियां निर्वाह न कर पाने की विवशता ने आज के युवा वर्ग के समक्ष लिव इन रिलेशनशिप के विकल्प को खोला है। घर-परिवार से दूर शहरों या महानगरों में नौकरियां करते हुए आज का युवा वर्ग इस रिलेशनशिप के तहत जीवन यापन कर रहा है । मुंबई, दिल्ली, बैंगलोर जैसे महानगरों में तो यह आम बात हो गई है। बीसवीं शताब्दी से यात्रा करते हुए इस रिलेशनशिप में 21वीं शताब्दी में भी दस्तक दी है। लिव इन रिलेशनशिप सुनने में बहुत सुखद, सहज एवं आसान जीवन का विकल्प अवश्य नजर आता है लेकिन इसकी राह में भी युवा वर्ग अनेक चुनौतियों, संघर्षों असमंजस के दोराहे पर अपने को खड़ा पाता है। समाज, धर्म, जाति, परिवार, राजनीति और अर्थ तंत्र युवा वर्ग को अनैतिक और गलत साबित करने के लिए, उनके निर्णय को प्रभावित करने के लिए अपनी संपूर्ण शक्ति का प्रयोग कर उनके जीवन में धंस कर उसे विध्वंस करने की पुरजोर कोशिश करता है ।बावज़ूद इसके आज का युवा -वर्ग अपने भविष्य को अपने सपनों के अनुरूप गढ़ने से पीछे नहीं हटता ।

नारी पुरुष की स्वतंत्रता की आकांक्षा केवल आज की सदी का विषय नहीं है। बीसवीं शताब्दी के छठे दशक में भी हमारे समाज में यह इच्छा और जरूरत उगने लगी थी जिसका गवाह है राजेंद्र यादव का उपन्यास- 'उखड़े हुए लोग' जो अविवाहित स्त्री- पुरुष के एकसाथ रहने के निर्णय तले होने वाले संघर्षों और चुनौतियों की गाथा है।' उखड़े हुए लोग' स्वातंत्र्योत्तर समाज में आई स्त्री- पुरुषों की बदलती हुई मानसिकता व नए मूल्यों के प्रति

आग्रह व्यक्त करता है। राजेंद्र यादव की इस उपन्यास पर टिप्पणी है कि "इस उपन्यास में युध्दोत्तरकालीन स्त्री- पुरुष के बिगड़ते, बदलते ,बनते संबंधों का चित्र है।"[1] " इसमें शरद और जया नामक दो कॉलेज से हाल ही में निकले हुए युवक युवती के साहस पूर्ण विचारों और आचरण की पृष्ठभूमि में शोषण और अनैतिकता की कहानी कही गई है।" [2]

स्त्री की स्वतंत्रता का समर्थक शरद नारी को वस्तु के रूप में प्रयुक्त किए जाने का घोर विरोधी है। उसकी दृष्टि में "पुरुष की अधिकार लिप्सा का चरम रूप ही सती- प्रथा है। बाद में महाजनी युग में भी नारी की हालत बेहतर नहीं हुई। आज तो नारी के श्रम का उचित मूल्य ही नहीं आंका जाता और उसके शरीर को खिलौना बना दिया जाता है।"[3] उसके मतानुसार आज के आर्थिक समानता के युग में स्त्री पुरुष को अपनी वास्तविक स्वतंत्र इच्छाओं को महत्व देकर ही विवाह के बंधन में बंधना चाहिए। वह नर नारी के दांपत्य जीवन के संदर्भ में इस मुक्तता का हामी है कि दोनों के व्यक्तित्व एक दूसरे पर लदे नहीं, एक दूसरे से दवे नहीं एक दूसरे की सीमा न बनकर शक्ति बनें।

उपन्यास के प्रारंभ में ही शरद व जया समाज की परंपरागत विवाह संस्था की नीतियों को चुनौती देते हुए नई पद्धति कायम करते हैं स्वतंत्र व्यक्तित्व के आग्रही वे दोनों पुराने संस्कारों से मुक्त प्रगतिशील विचारों का प्रतिनिधित्व करते हैं। शरद को एहसास है कि उसके सपनों को एक साथ दो व्यवस्थाओं सामंतवाद, महाजनी समाज से लड़ना हैदोनों जीवन के लिए एक प्रयोग करते हैं तथा सम्मिलित जीवन बिताने का निश्चय करते हैं क्योंकि उसके अनुसार विवाह एक व्यक्तिगत मसला है और आज का सामाजिक रूढ़िबद्ध, जर्जर मिटता हुआ रूप व्यक्ति के अनुकूल ही नहीं उसके विकास में सबसे बड़ा बाधक है इस मसले को समाज की दृष्टि से नही शुद्ध व्यक्तिगत स्तर पर ही हल करना चाहिए । "आज विवाह एक समझौता है और इसके सिवा वह कुछ हो नहीं सकता जब आपस में यह गुंजाइश नहीं रहेगी कि इसे चलाया जा सके या इस पर स्थिर रहा जा सके तो यह समझौता टूट जाएगा। "[4]

युवा वर्ग नए विचारों के जोश में आकर नैतिकता के नए रूप को तो प्रस्तावित करना चाहता है, लेकिन उसके परंपरागत संस्कार मन में द्वंद भी उपस्थित करते हैं। मध्यम वर्गीय परिवार से जुड़े जया और शरद के मन में बहुत तर्क वितर्क चलता है । जया शरद की बौद्धिकता से प्रभावित होकर उसके साथ रहना तो स्वीकार कर लेती है लेकिन इतना बड़ा कदम उठाते हुए वह भीतर से सशंकित भी है। परिवार, संस्कार, अपवाद आदि के भय

मिलकर एक स्वप्न का जाल बुनने लगते हैं। स्वयं शरद सोचता है "कहीं वास्तव में हम ऐसी गलती करने तो नहीं जा रहे हैं कि जीवन भर पछताना पड़े अभी कुछ नहीं है अब भी लौट सकते हैं। "[5] शरद- जया समाज व्यवस्था के विरुद्ध एक नया कदम उठा तो लेते हैं लेकिन उनके सामने कोई दिशा नहीं है। नितांत अपरिचित स्थान पर निराश्रित बन कर आना शरद जया के लिए संघर्ष की नई स्थिति पैदा करता है। गृहस्थ के रूप में अपने पैरों पर खड़ा होने की चुनौती उन्हें अनेक तनावों से गुजारती है । जया नौकरी छोड़ आई है। शरद भी किसी के वचन मात्र पर नौकरी की उम्मीद रखता है। वे प्रथम दिन का नाश्ता पड़ोसी सूरज के यहां करते हैं । गृहस्थी के लिए आवश्यक सामग्री भी वे सूरज की सहायता से उधार में पाते हैं। इस विवाह के बाद वे दोनों न केवल आर्थिक जरूरतों व समस्याओं के लिए वरन् अनेक मनोवैज्ञानिक जटिलताओं के घेरे में स्वयं को पाते हैं। समाज का परंपरागत ढांचा व मानसिकता पग -पग पर इनके समक्ष प्रश्न पैदा करता है। शरद जया को पत्नी नहीं वरन साथिन कहकर लोगों से परिचित कराता है। शरद की यह नई शब्दावली सार्वजनिक शंका को और भी गहरा करती है। सब दबे- दबे स्वर में यही कहते हैं कि जया भगा कर लाई गई है। परंपरागत संस्थाओं व मान्यताओं में विश्वास करने वाली प्रोफेसर कपिल की पत्नी इस संबंध की कटु आलोचना करती हैं जिससे जया का व्यक्तित्व भीतर तक हिल जाता है। जया के लिए संभवतः ये कठोरतम पीड़ा के क्षण हैं ।

परिवार से टूटकर युवा वर्ग जरा- से अपनत्व से अभिभूत हो छला जाता है । कभी आर्थिक जरूरतें तो कभी भावात्मक आवश्यकता उसे गलत लोगों के बीच फंसा देती हैं । आर्थिक निर्भरता और ऊंचा बनने के सपने शरद को देशबन्धु के संपर्क में ला देते है जिसके माध्यम से लेखक राजनीति में व्याप्त स्वार्थपरता, भाई- भतीजावाद, पूंजीवाद, भ्रष्टाचार और व्यभिचार को उभारते हैं। शरद देशबन्धु के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर कृतज्ञ है और उनकी प्रशंसा में नत है। राजनीतिक नेता देशबन्धु सार्वजनिक रूप में मानवीय संवेदना से परिपूर्ण समाज का सच्चा सेवक, त्याग और तपस्या की मूर्ति, गांधीवादी, राष्ट्र- सेवक है लेकिन वास्तविकता में वह एक पूंजीपति, शोषक, कपटी, चरित्रहीन, धूर्त, स्वार्थी और कामुक है। माया को बहन कहता है लेकिन उसके पति को मरवा कर उसकी संपत्ति हड़प कर उसे रखैल की तरह रखता है बल्कि उसकी पुत्री पदमा को बेटी कहते- कहते भी उसे अपनी वासना का लक्ष्य बनाना चाहता है। जब देशबन्धु उसका कौमार्य भंग करने का प्रयास करता है तो वह आत्महत्या करके अपनी रक्षा करती है। पदमा की मृत्यु मानवीय विघटन की सूचक है और माया देवी की परिणति आधुनिक शोषण पर व्यंग्य। नारी स्वतंत्रता के नाम

पर नारी को किस प्रकार सम्मानित वेश्यावृत्ति करने पर बाध्य किया जाता है, वह इसका प्रतीक है।

शरद और जया उच्चवर्गीय समाज का घिनौना रूप देखते हैं जिससे दोनों तेजी से उखड़ने लगते हैं। देशबन्धु के गुप्त चरित्र की भनक पा शरद पर से उसका जादू टूट जाता है। आर्थिक मजबूरियां शरद को परिस्थितियों के साथ समझौता करने पर विवश करती है। शरद कहता है वास्तविकता तो यह है कि" हम सब टूटे हुए व्यक्तित्व के लोग हैं। हमारे स्वाभाविक गठन और व्यक्तित्व को कुछ इस तरह मरोड़ दिया गया है जैसे गीली मिट्टी से बनी- बनाई सुंदर मूर्ति को कोई अत्यंत निर्दयता से मरोड़ डाले। हर जगह समझौता करना पड़ता है। हर जगह झुकना पड़ता है। वरना क्या करें, कहां जाएं ।"[7] शरद का यह भ्रम उस समूची युवा पीढ़ी का मोहभंग है जो स्वातंत्र्योत्तर राजनीति के भ्रष्ट व दोहरे चरित्र से उपजता है। कथनी और करनी का दोमुँहापन आंखों के सामने आते ही आस्था और मोह का टूटना अवश्यंभावी था, जो आजादी के पहले जन्मी और आजादी के बाद होश संभालने वाली पीढ़ी अपने कर्णधारों के प्रति अनुभव करती आई थी। शरद की यह पीड़ा भारतीय बुद्धिजीवी की पीड़ा में रूपांतरित हो जाती है जो ऐतिहासिक राजनीतिक, आर्थिक परिस्थितियों के जटिल जंजाल में फस कर अपनी अस्मिता खोने लगता है।

राजनीति का छद्म शरद में, और पदमा के प्रति पाशविकता, जया में भय, घृणा, तनाव , पीड़ा और छटपटाहट का संचार करती हैं जिससे दोनों मुक्त होना चाहते हैं। शरद को न नौकरी की इच्छा रहती है न भविष्य की चिंता। शरद और जया ऐसे घृणित माहौल से उखड़ना बेहतर समझते हैं। भविष्य को लेकर आश्वस्त होने की बनिस्बत शरद शंकाशील हो कोई बीच का रास्ता खोज डालना चाहता है और अपनी सारी समस्याओं का हल अतीत में खोजता है। दोनों उस वातावरण से भागकर उस व्यवस्था को खारिज करते हैं।

उपन्यास का अंत और पराजित पलायनवादी शरद- जया को लेकर भिन्न-भिन्न मत विद्वानों ने प्रकट किए हैं। राजेंद्र यादव की स्वयं की टिप्पणी है कि "आज की आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक व्यवस्था व्यक्ति के आदर्शवादी सपनों को नष्ट करके उसे समझौतावादी बनने के लिए किस प्रकार बाध्य करती है यही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है।"[7] डॉक्टर विश्वनाथ त्रिपाठी के अनुसार भले ही इस उपन्यास में राजनीति और नर नारी के संबंधों के स्वार्थ पूर्ण उपयोग का उद्घाटन किया गया है लेकिन वस्तुतः" उखड़े हुए लोग उस

दंपति की कथा है जो बेईमानी और कुटिल दांवपेच की दुनिया में रह नहीं सकता।"[8] डॉक्टर सुभद्रा का मत है कि "नवीन जीवन मूल्यों की स्थापना में प्रयत्नशील शरद और जया ही परिस्थितियों में उखड़े हुए लोग बन जाते हैं उनका विश्वास, आस्था और उमंग सब समाप्त हो जाती है और मूल्यों की स्थापना का प्रश्न ही पीछे छूट जाता है।"[9]

लेकिन यह उपन्यास केवल समझौतों और उखड़ेपन तक ही सीमित नहीं है। यह केवल नकार का आख्यान नहीं है वरन यह संघर्षशील व आस्थावान मनुष्य को भी प्रस्तावित करता है। शरद- जया का उखड़ापन भी ऐतिहासिक परिस्थितियों की देन है। उस समय मध्यमवर्ग इसी नियति को झेल रहा था बल्कि आज तक झेल रहा है। शरद- जया उन प्रगतिशील बुद्धिजीवी मनुष्य का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनके पास साध्य हैं लेकिन साधन नहीं, ताकत नहीं धन नहीं लेकिन फिर भी रुढ़िबद्ध संस्थान को तोड़ नया रचने की हिम्मत उन्होंने दिखाई है ।

सन्दर्भ:

1. उखड़े हुए लोग- राजेंद्र यादव-पृष्ठ-02
2. अधूरे साक्षात्कार-नेमिचन्द्र जैन-पृष्ठ-132
3. उखड़े हुए लोग- राजेंद्र यादव-पृष्ठ-23
4. वही--पृष्ठ-28
5. वही--पृष्ठ-94
6. वही-पृष्ठ-225-226
7. वही -पृष्ठ -25
8. हिंदी साहित्य का संक्षिप्त इतिहास- डॉ. विश्वनाथ त्रिपाठी -पृष्ठ 129
9. हिंदी उपन्यास- परंपरा और प्रयोग -डॉ. सुभद्रा- पृष्ठ 278

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

भारतीय दार्शनिक परंपरा और महर्षि अरविंद (विशेषतः भारतीय राष्ट्रवाद के संदर्भ में)

सुनील दास
शोधार्थी, राजनीति विज्ञान विभाग,
विनोबा भावे विश्वविद्यालय,
हजारीबाग

सार संक्षेप

श्री अरविन्द ने अपने विचार को योग की संकुचित व्याख्या तक सीमित रखने की जगह सत्य तक पहुँचने के लिए विभिन्न मार्गों को समन्वित रूप में बाँधकर देखने का प्रयास किया। उनके अनुसार जीवन एक अखण्ड प्रक्रिया है। चेतना के अनेक स्तर हैं। इसे निम्नत्तर स्तर से उठाकर उच्चतम स्तर तक ले जाया जा सकता है। उन्होंने अनुभव किया कि आधुनिक युग में मस्तिष्क एवं बुद्धि की दृष्टि से विकास चरम को प्राप्त कर चुका है। अब दैवी समाज की कल्पना साकार की जा सकती है। अगर इससे आगे नहीं बढ़ा गया तो ह्रास या पराभव निश्चित है। अतः इस चेतन तत्व को प्रकाश, शक्ति एवं सत्य से समन्वित करना आवश्यक है। क्योंकि इसी के माध्यम से वह मानव जीवन के प्रमुख उद्देश्य अनुभवातीत सत्य–चेतन–तत्त्व में संपूर्ण रूप से रूपान्तरित हो सकती है। श्री अरविन्द कहते है ईश्वर सृष्टि का कर्ता सनातन और सर्वात्मा है। ईश्वर परमपुरुष है ब्रह्म निर्विकार एवं निराकार है किन्तु अन्ततः दोनों एक हैं। उन्होंने भौतिक एवं आध्यात्मिक दोनों ही तत्वों के मूल में ब्रह्म को पाते हैं। वे कहते है मानव जीवन का उद्देश्य सत् चित्त एवं आनन्द की प्राप्ति है। इस महान लक्ष्य को गीता में प्रतिपादित कर्मयोग एवं ध्यानयोग द्वारा प्राप्त किया सकता है। संसार से पलायन की जगह निष्काम भाव से कर्म करने से ही सत् चित्त एवं आनन्द की प्राप्ति की जा सकती है। पर इसके लिए स्वस्थ शरीर विकार रहित मन एवं संयमित आचार–विचार आवश्यक है। योग के द्वारा मानव अपने शरीर सोच–विचार एवं कार्य पर नियंत्रण रख उन्हें उचित दिशा में ले जा सकता है।

विषय–सूचक पदावली : ज्ञान, मीमांसा, दर्शन, गीता, निवृत्ति, आनंद, रैशनल, रिडक्सनिज्म, पुनर्जागरण, राष्ट्रवाद, सत्याग्रह, समुन्नत, विज्ञानवाद, मूल्यबोधक

प्रस्तावना :

भारतीय ज्ञान–मीमांसा में दर्शन की परंपरा बहुत लंबी रही है और भले ही ज्ञान की एक विशिष्ट शाखा के रूप में विकसित करने का श्रेय यूरोप लेता है लेकिन हमें यह ध्यान रखना पड़ेगा कि यूरोप में दर्शन का विकास मूल रूप से मनुष्य के भौतिक जीवन की विवेचना पर केंद्रित रहा है, इसको अधिक स्पष्ट रूप में कहने के लिए यह कहा जा सकता है कि भोग को ही विवेचना पर आधारित है। इसकी तुलना में भारतीय ज्ञान परंपरा में भोग को बिना नकारे मनुष्य की संवेदना, उसके भाव पक्ष और आध्यात्मिक चेतना के विकास पर बल दिया गया, पूरा वैदिक साहित्य आसक्ति और अनासक्ति दोनों

को साथ लेकर चलता है, यही कारण है कि गीता के दर्शन में कर्म को महत्व देने के बावजूद अन्ततः उसका समाहार निवृत्ति में होता है। दूसरी तरफ यह भी कह सकते हैं कि निवृत्ति को लक्ष्य मानने के बावजूद भोग को नकारा नहीं गया है। दरअसल भारतीय दर्शन में भौतिकता की एक सीमा है, इसके विपरीत पश्चिम की दार्शनिक परंपरा का विकास ही भोगवाद की जमीन पर हुआ है। उसमें अनुभूति, संवेदना और मनुष्य मात्र के कल्याण की विश्व दृष्टि का पश्चिम की दार्शनिक परंपरा में सर्वथा अभाव है और आधुनिकता का विकास वहां भोगवादी दर्शन के माध्यम से ही हुआ। भौतिकता की यह दार्शनिक परंपरा की शुरुआत ही औपनिवेशीकरण से हुई और दुनिया भर में हिंसा और दमन का चक्र चला। इस प्रकार पश्चिम की दार्शनिक परंपरा की तुलना भारतीय दार्शनिक परंपरा से करें तो कुछ बुनियादी अंतर दिखलाई देते हैं। संस्कृति और दर्शन में अनिवार्य संबंध होता है। यूरोप के जिस भौतिकवादी दर्शन का आविर्भाव हुआ उसमें व्यक्ति की आत्मचेतना को महत्व मिला। यह संस्कृति की खंडित धारणा थी, यानी इसमें पूरे जीव–जगत के प्रति लगाव की बात तो छोड़ ही दें, पूरी मानव जाति के प्रति भी समभाव का अभाव था। प्रकृति को एक 'अन्य' की तरह देखा गया, जबकि भारतीय दार्शनिक परंपरा और संस्कृति में पूरी सृष्टि के प्रति अपनत्व का भाव दिखलाई देता है। प्रकृति तो भारतीय जीवन का एक अंग ही मानी जाती रही है। भारत और पश्चिम की दार्शनिक परंपरा में यही मौलिक अंतर है। इस मौलिक अंतर का कारण दोनों के बीच की जीवन–दृष्टि का अंतर है और साफ शब्दों में कहें तो यह कह सकते हैं कि भारत की दार्शनिक परंपरा में आध्यात्मिकता से बहुत दूरी नहीं बनाई गई जबकि पश्चिम की दार्शनिक परंपरा में आध्यात्मिकता और व्यक्ति चेतना के बीच बड़ी चौड़ी खाई रही है। पश्चिम का दर्शन वैज्ञानिकता पर आधारित है जिसमें तथ्यों पर ज्यादा बल दिया जाता है लेकिन भारतीय दार्शनिक परंपरा में तथ्यों से ज्यादा मूल्यों पर बल दिया गया। यही कारण है कि भारत में दर्शन का विकास उस तरह बिल्कुल स्वतंत्र रूप में नहीं हुआ जिस रूप में पश्चिम में हुआ। यहां दर्शन का विकास मनुष्य के भौतिक जीवन और आध्यात्मिक चेतना के साथ हुआ और यह मनुष्य की भौतिक और आत्मिक चेतना दोनों को साथ लेकर हुआ है।

विषय–विवेचन :

महर्षि अरविंद के दार्शनिक मत को समझने के लिए भारत और पश्चिम के बीच के इस बुनियादी अंतर को समझना होगा। उनकी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि उन्होंने पश्चिम के दर्शन की वैयक्तिक चेतना के सामने भारतीय दर्शन की व्यापक मानवीय परंपरा को स्थापित किया। हिंदी के कवि रामधारी सिंह दिनकर ने उनपर पुस्तक लिखी है, उसमें वे बड़ी मार्के की बात कहते हैं–

"योगी, कवि और वैज्ञानिक, एक ही व्यक्ति में इन तीनों का समन्वय इतिहास में और कभी हुआ था या नहीं, यह प्रश्न विचारणीय है। अगर ऐसा कोई व्यक्ति पहले कभी हुआ था, तो वह भारत में ही हुआ होगा। किन्तु श्री अरविंद में व्यक्तित्व में योगी, कवि और दार्शनिक, तीनों का समन्वय था और वे सबके सब एक ही लक्ष्य की ओर गतिशील थे। इसलिए श्री अरविंद का ध्यान करते समय ऐसा भासित होता है, मानो हम मानवता के एक महासूर्य को देख रहे हों। वैसे तो मात्र कवि और दार्शनिक के रूप में भी श्री अरविंद अत्यंत वरेण्य हैं, किन्तु उनकी सबसे बड़ी महिमा यह थी कि वे योगी थे। उनके दर्शन और काव्य की जो वास्तविक शक्ति है, उनके भीतर जो प्रमाणिकता है, वह श्री अरविंद की योग साधना से आई है। योग के बल से ही उन्होंने सत्य को देखा और योग के बल से ही उन्हें यह शक्ति मिली कि उस सत्य को वे भाषा में अभिव्यक्त कर सकें।"[1] पश्चिम ने जिस आधुनिक दर्शन को विकसित किया वह भौतिक सुख की लालसा तक ही केंद्रित है। सुख की कामना भौतिक है, उसमें आनंद का समावेश नहीं है। आनंद सुख से बहुत आगे की दशा है। सुख क्षणिक होता है, कालबद्ध होता है, आनन्द काल और परिस्थिति सापेक्ष नहीं होता। सुख देह में सीमित है, आनंद मनुष्य की आत्मिक चेतना

से जुड़ा हुआ है। पश्चिम का दर्शन देह के सुख की कामना तक सीमित है, यह बात जितनी मार्क्स के साम्यवादी दर्शन पर लागू होती है उतनी ही पूंजीवादी या भाववादी दर्शन पर भी लागू होती है। पश्चिम और भारत की दार्शनिक दृष्टि के बुनियादी अंतर पर विचार करते हुए प्रसिद्ध विचारक छगन मोहता कहते हैं–

"परंपरा को समझने के लिए यह आवश्यक है कि इसे किसी गैर तरीके से नहीं समझा जाय। गैर तरीके से मेरा आशय यह है कि यह जो आधुनिक विचार शैली या जिसे हम वैज्ञानिक पद्धति कहते हैं उससे परंपरा की सही समझ विकसित नहीं हो सकती। वैज्ञानिक विचार शैली के दो तरीके हैं– एक है विश्लेषणात्मक और दूसरा है ऐतिहासिक या कालक्रमात्मक। वस्तु को अवयवों में बांटना, विश्लेषण करना और फिर यह सिद्ध करना कि वह उन सबका संयोग है या जोड़–तोड़ है। दूसरा तरीका है कि कालक्रम से उसके विकास की अवस्थाओं को समझना। इन्हें एनालिटीकल मोड ऑफ थॉट कहते हैं। विज्ञान में दोनों का समावेश है। विज्ञान अलग–अलग शाखाओं में अपनी खोज करता है और इस पर कुछ निष्कर्ष निकालता है लेकिन विज्ञान से प्रभावित होकर आधुनिकता का जो चिंतन–दर्शन बनता है उसमें ये दोनों पद्धतियां प्रभावी होती हैं और इसके आधार पर सारी रैशनल फिलोसोफी एक नेचुरल फिलोसोफी बनती है। इस तरह की चिंतन–शैली से हम परंपरा को नहीं समझ सकते क्योंकि यह रिडक्सनिज्म का तरीका है, हाइयर वैल्यूज को लोअर वैल्यूज से समझने की कोशिश।"[2]

पश्चिम में आधुनिकता का उदय परंपरा को जीवन से काटकर हुआ लेकिन भारतीय दार्शनिक परंपरा में आधुनिकता परंपरा की निरंतरता के योग से विकसित हुई और इसमें जितनी महत्वपूर्ण भूमिका बुद्ध, विवेकानंद अथवा महात्मा गांधी की रही है उतनी ही महत्वपूर्ण भूमिका महर्षि अरविंद की रही है। वे जीवन और जगत से दूर कोरे आध्यात्मिक व्यक्ति नहीं थे इसलिए उन्होंने केवल आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार नहीं किया, (भौतिकवादी दार्शनिक मार्क्स ने आत्मा के महत्व को अस्वीकार कर दिया था) जबकि अरविंद आत्मा के साथ मैटर को भी स्वीकार करते हैं)। वे लोगों से कहते हैं कि–"तुम यद्यपि प्रकृति में अबतक के निर्माणों में सबसे श्रेष्ठ हो, किन्तु विकास के क्रम में तुमने अभी आधी दूरी भी तय नहीं की है। मन तुम्हारा सबसे बड़ा यंत्र है, किन्तु इससे भी सूक्ष्मतर और सूक्ष्मतम यंत्रों की संभावनाएं तुम्हारे भीतर छिपी हुई हैं। तुम्हें चाहिए कि तुम मन के धरातल से ऊपर उठने का प्रयास और उन शक्तियों को प्राप्त करो, जो मन की सीमा के परे तुम्हारा इंतजार कर रही हैं।"[3] अपने प्रसिद्ध ग्रंथ The Life Divine में ज्ञान के बारे में जो उन्होंने लिखा है उससे प्रकट होता है कि वे मनुष्य की भौतिक जरूरतों को व्यर्थ नहीं मानते, लेकिन उनका कहना है कि वहीं ठहरना नहीं चाहिए, ज्ञान के और ज्यादा विस्तृत क्षेत्र की ओर बढ़ना चाहिए। यही वह विंदु है जहां से वे पश्चिम के दार्शनिकों से आगे निकलते हैं–

"Our gain in becoming more perfect mental beings is that we get to the possibility of a sunakar, higher and wider euistence, consciousness, force, happiness and delight of being in proportion as we rise in the scale of mind, a greater power of these things comes to us, our mental consciousness acquires for itself at the same time more vision and power and more subtlety and plasticity, and we are able to embrace more of the vital and physical euistence itself to know it better, to give it nobler values, a broader range, a more sublimated action."[4]

इस कथन से श्री अरविंद के दर्शन के वैशिष्ट्य को समझा जा सकता है। न तो इनका भौतिक जीवन से विरोध है, न विज्ञान के विकास से। लेकिन यूरोप जिस प्रकार वैज्ञानिक विकास पर ज्यादा निर्भर हो गया इसका प्रभाव उसकी दार्शनिक परंपरा पर भी पड़ा। डॉ० देवराज के इस कथन से इसको और ठीक से समझा जा सकता है–

"सच यह है कि इधर के दार्शनिक विचारक, विशेषतः अंग्रेजीभाषी देशों में, विज्ञान को अतिरिक्त महत्व देते रहे हैं। विज्ञान जहां एक ओर आज के सभ्य जीवन का आधार बन चुका है– एक अत्यंत समुन्नत यंत्र व्यवस्था के रूप में, वहां दूसरी ओर यह राज्य की शक्ति का भी विशिष्ट साधन बनता जा रहा है। फलतः वैज्ञानिक शोधों का महत्व और उनपर खर्च किया जाने वाला धन निरंतर बढ़ता जा रहा है। इस स्थिति से दार्शनिक विचारक भी अप्रभावित नहीं रहे हैं। डेकार्ट से शुरू करके रसेल, विटगेस्टाईन तक पश्चिमी सभ्यता में यह धारणा क्रमशः बद्धमूल होती गई कि वैज्ञानिक बोध ज्ञान का आदर्श रूप है।"[5]

श्री अरविंद का व्यक्तित्व बहुमुखी था। वे दार्शनिक के साथ कवि, योगी और राष्ट्रवादी क्रान्तिकारी भी थे। लेकिन इन सबमें उनका दार्शनिक ही प्रबल था और योग प्रबल सहायक था इसमें। दोनों की मजबूत एकता दिखलाई देती है उनमें। आधुनिक भारतीय दार्शनिक परंपरा में अरविंद का महत्व यह है कि उन्होंने पश्चिम के शुष्क विज्ञानवाद की ओर झुके दर्शन के सामने भारतीय दर्शन की उच्च मानववादी और आध्यात्मिक विचार–परंपरा को ऊंचाई प्रदान की। इस प्रकार उन्होंने यह प्रतिपादित किया कि विज्ञान के मूल्य बोधक कथन ज्ञान की दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं होते।

निष्कर्ष :

वास्तव में भारतीय राष्ट्रवाद के केंद्र में अन्य जो भी विचार हों, दार्शनिक दृष्टिकोण से अरविंद के विचार उसके मूल में मौजूद हैं। भारत में राष्ट्रवाद का उदय पुनर्जागरण आंदोलन से हुआ। पुनर्जागरण की शुरुआत बंगाल में राजा राममोहन राय से शुरू हुई। 1857 के गदर के बाद स्वामी दयानंद के आर्यसमाज आंदोलन से इसका पूरे देश में प्रसार हुआ और वही दौर था जब राजनीतिक रूप से राष्टवाद के विचार का उदय भारत में हुआ। श्री अरविंद के राष्ट्रवाद में भारतीय दर्शन की सुदीर्घ परंपरा के तत्व निहित हैं। महात्मा गांधी पर इसका प्रभाव था, उन्होंने सत्याग्रह, अहिंसा और मानवता के जो संदेश दिए उनमें अरविंद के विचारों के दर्शन होते हैं।

संदर्भ संकेत :

1. दिनकर, रामधारी सिंह : 'श्री अरविंद : मेरी दृष्टि में', लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, 2008, पृ० 12
2. मोहता, छगन : 'संक्रांति और सनातनता', वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर, 2000, पृ० 64
3. दिनकर, रामधारी सिंह : 'श्री अरविंद', पृ० 13 से उद्धृत
4. Sri Aurobindo : 'The Life Divine', Sri Aurobindo Ashram Pub- Department, Pondicherry, 2006, page 758
5. डॉ० देवराज : 'दर्शन, धर्म, अध्यात्म और संस्कृति', भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली, 2003, पृ० 27

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

Correlation between Idealism and Tragedy: A Study of Tragic Patterns in the Select Novels of John Galsworthy

Mr Sanjeev Kumar Bansal *& Prof. Sharmila Saxena**

*Assistant Professor of English, Department of English, Shri Varshney College, Aligarh, Uttar Pradesh
(Affiliated to DR B R A University, Agra, U P)
Research Scholar (Kumaun University, Nainital, Uttarakhand), skb0071979@gmail.com, 88260- 56878
**Professor and Head, Department of English, S.B.S. Govt. P.G. College, Rudrapur, U.S. Nagar, Uttarakhand
(Affiliated to Kumaun University, Nainital, Uttarakhand)

Abstract

John Galsworthy (John Sinjohn) was a great person (14- 08- 1867 to 31- 01- 1933) who was a man *of 'simple living and high thinking'* and struggled throughout his whole life for the sake of his principles. He suffered so many tragic situations in his life and these are reflected in his works. He wrote more than 20 novels but we have delimited our study to the reading of only three prominent novels of love *'The Dark Flower', 'Beyond', and 'Saint's Progress'.* Usually, every novel has some themes. Themes may be semantic or latent. We would analyse these three novels to trace out the particulartheme *'Tragedy of Idealism'*. In the light of the select novels of him, we would try to establish that being an idealist is not an easy task in this materialistic world. Idealists have to pay a price for having good traits. To find out the correlation between idealism and tragedy and to study the tragic patterns in the select novels of him, we would analyse and compare the various events and the characters in the select novels. The paper follows MLA 8th style.

Keywords: Correlation, Tragic Patterns,Passion, Love, Idealism, Tragedy, Society, Saint, Church, Instincts, and Practicality.

Introduction: Multiplicity of themes can be seen in the novels of John Galsworthy but as a whole he had strived hard for the cause of social welfare through the medium of his writings. John Galsworthy was quite sure that the persons who fight for social cause ultimately become victim of the social forces which usually put up a great resistance in the way of fulfilment of their extraordinary wishes that they want to be fulfilled as a visionary in the interest of society. To be an idealist is not an easy task. Idealists have to suffer so many hardships for the sake of protecting their principles. Society fails to understand the philosophy and intentions of such idealists which is quite visible in the novels of John Galsworthy.We will discuss each of the three selected novels *'The Dark Flower' (1912-13), 'Beyond' (1915), and 'Saint's Progress' (1917-18)* one by one.

Frechet states, ". . . By its descriptiveness, and poetic inspiration, *The Dark Flower* is predominantly a lyrical novel. . . . " (168).The novel is quite symbolic. It is a novel of passions.In this novel, the tragedy of idealism as a theme is not prominent. However, the novel has idealistic characters who suppress their natural instincts either for the sake of their

beloved or for the sake of society. The novel is quite autobiographical in nature. In this novel, John Galsworthy is remindedof his love affair with Sybil Carr, his singing teacher and with Ada whom he wanted to marry at different stages of his life. He could not marry Sybil Carr due to the opposition of his own father but later on, hesucceeds in marrying Ada who motivated him to become a writer. The novel opens in spring season in which the protagonist Mark Lennan, 18 years old student, has been shown in affair with 36 years old lady Mrs Anna Stormer, the wife of his tutor Harold Stormer. Anna isa childless woman who oscillates between her motherly and sexual love for Mark Lennan. Anna is not quite sure about the kind of her feelings for Mark. She is not satisfied with her marital life and longs for Mark but she is also fearful of society and represses her emotions when she comes to know about the passionate love of Sylvia Doone for Mark. We see that Mrs Anna Stormer isan idealistic lady who succeeds in resolving her immoral conflict through her own efforts which gives a good message. Anna does not challenge society to fulfil her wishes rather she leavesMark. We see that Anna succeeds in protecting the dignity of her relations with the student of her husband by thinking, ". . . It was natural that she should lose her hour! Natural that her thirst should go unslaked, and her passion never bloom; natural that youth should go to youth, this boy to his own kind, by the law of—love. . . ." (Galsworthy 70; the dark flower, bk. I, part I, ch. XVI).

After 8 years, in the second section entitled *'Summer'*of the novel *'The Dark Flower'*, we observe that Mark comes into contact with Olive Cramier who had married with thirty-eight years older Robert Cramier which reminds us of John and Ada's beginning of love-affair. As Ada's marital life with Arthur was not happy, the marital life of Olive is not happy with Robert. With a view to make Olive aware about the importance of society, Mark interact with Olive and comments on society, ". . . Society— she knew, she must know—only cared for the forms, the outsides of things. And what did it matter what Society thought? It had no soul, no feeling, nothing. . ." (Galsworthy 128;the dark flower, bk. I, part II, ch. XIV).On seeing Mark, Olive starts believing in the power of love again. On knowing his wife's affair with Mark, Robert challenges Mark for a dual. Mark argues with Robert on the issue of love. Robert calls Olive as his bad wife. Despite their passions for each other, Olive and Mark could not marry due to several reasons. Mark marries Sylvia.

In the third section entitled *'Autumn'* of the novel *'The Dark Flower'*, we observe that married Mark, a sculptor, entangles himself in a love triangle. Oliver and Mark arethe suitors of Nell. Despite having known about the passions of her husband Mark for Nell, Sylvia does not object and even wins Mark's heart through her sympathetic and psychological behaviour towards them. Sylvia's behaviour forces Mark to think about her wife, her love and her confidence in him. This is a great thing Galsworthy portrayed in the last section of this novel,"… But to leave her whom he did love, and who had said to him so generously: "'I will not hamper you—go to her'"— would be a black atrocity. . . ." (Galsworthy 215; the dark flower, bk. I, part III, ch. XV).It seems that he wanted to give a good message that belief has an upper hand over passions. Mark teaches the true definition of love to Nell while riding with her. We find references to 'Don Quixote' which suggests that Galsworthy was quite influenced by this work. Mark counsels Nell as he is expected to. Mark feels happy in uniting

Oliver with Nell. We see that Mark happily accepts the pain of separation from his beloved Nell for the sake of his principles.

> . . . They went well together, those two Dromores—his dark head and her fair head; his clear, brown, daring eyes, and her grey, languorous, mesmeric eyes. Ah! Master Oliver was happy now, with her so close to him! It was not jealousy that Lennan felt. Not quite—one did not feel jealous of the young; something very deep—pride, sense of proportion, who knew what—prevented that. She, too, looked happy, as if her soul were dancing, vibrating with the music and the scent of the flowers. He waited for her to come round once more, to get for a last time that flying glance turned back; then found his coat and hat and went. (Galsworthy 202- 03; the dark flower, bk. I, part III, ch. XII).

Mark returns to society what Mrs Anna Stormer had taught him earlier. We do not see any kind of tragedy of idealism in this novel. However, we see that the idealism of Sylvia is rewarded properly as she wins the heart of her husband by showing faith in him. Sylvia not only save her husband from going on the wrong track but also saves the life of Nell.

> In the last section 'Autumn', though merrily married for many years to an early fascination, Sylvia, Lennan is sweet on a bouncing virgin Nell. However, this time, at last he himself comes to realise this acting law of love: "Youth with youth, summer to summer, falling leaf with falling leaf." (22). It is this realisation that makes Mark to resolve [to] bid farewell to his feelings for Nell. (Vishnu 170-171; Ch. 5).

Beyondis another novel of love published by John Galsworthy in 1915. It is divided into four parts to show the extremist tendencies in love and hate. The novel was dedicated to Thomas Hardy. The novel shows the upbringing of sensitive Gyp/Ghita by her legal guardian Major Charles Clare Winton. Major Winton is her biological father. Gyp's mother dies while giving birth to Gyp. We see that Gyp is not greedy as she isnot even interested in her inheritance. We observe the way in which Gyp comes into contact with Gustav Fiorsen who is a Swedish violinist. Gyp has a passion for music but she misunderstands her love of violin as her love for Gustav Fiorsen. She is unable to distinguish between her love for music and her love for Gustav. After hearing the love story of Gustav from the mouth of a baroness, Gyp takes it as a challenge to win Gustav's heart. With the passage of time, Gyp and Gustav starts loving each other. Gustav startsconsiderings himself even a dog and slave of Gyp. We see that Gustav's and Gyp's love affair flourishes at her aunt Rosamund's house. We see that Winton not only rejects the proposal of Gustav for her daughter Gyp as he hate Gustav for his habits and his temperament but also warns Gyp for her choice. However, Gyp marries Gustav against the wishes of her dear father. After their marriage, we see how the faith and love of Gyp in Gustav comes to an end: "'I made a fearful mistake—against my father's wish. I haven't seen my husband for months; I shall never see him again if I can help it. Is that enough?'" (Galsworthy 383; beyond, bk. II, part-III, ch. IV).Gustav behaves as a brute by making sarcastic comments not only on Winton but also on Rosamund and others who love and respect Gyp. Gustav is not able to tolerate anyone who is having love in his/her heart for his wife Gyp. He becomes too much possessive in the matters of Gyp. His extreme love for

Gyp acts as a barrier in the success of their marital life. However, it is not his love but his lust for Gyp. Gustav wakes up late while Gyp follows the maxim *'early to bed and early to rise'*. Gyp passes her early mornings with her father riding and shopping whichhave worked as pouring ghee in the fire. Gustav becomes jealous of Gyp's father. We see that Daphne Wing, a dancer, comes into contact with Gustav and both starts loving each other. Gyp is a self-employed girl who bears the expenses not only of herself but also of her husband. Gustav is also suffering from inferiority complex. However, it is one of the virtues of Gyp that she is self- dependent but her virtue works against her in some sense or the other. On the one hand, Gustav has some kind of self-respect but on the other side, he is not only unable to bear his expenses but also unwilling to compete with his wife in earning their livelihood. With the passage of time, pregnant Gyp starts visualising the character of Gustav and realises her mistake in marrying him against the wishes of her father. However, Gyp pays off the debts of her husband even by selling her jewellery. Despite Gyp's sacrifices, Fiorsen does not look after his wife Gyp even in her pregnancy. Gyp's father takes every care of Gyp in her pregnancy. Fiorsen is not able to bear the absence of Gyp. Meanwhile Gyp gives birth to a baby girl and Fiorsen entangles himself in the love of Daphne Wing. Gustav has no concern about the health and life of Gyp but he regrets over the sexual pleasures which he has missed with Gyp and wants to have those pleasures with his wife on her return. Monsieur Harmost, the old music teacher of Gyp, is not happy with the untimely marriage of Gyp and her getting the status of mother. He considers it a great obstacle in her progress. We see despite her adverse circumstances, Gyp spares some time to take the music lessons from her old music teacher who also has some passion for her. We see in order to get his money back from Gustav and to take revenge on him for spoiling the life of her innocent daughter Daphne, how Mr Wagge, father of Dahpne, is compelled to sell Gustav's house which he had lent him earlier. The crime is committed by Gustav but Gyp suffers more than Gustav. Gustav is an extravagant drunkard and smoker who not only accuses Harmost unnecessarily for having illicit relations with her wife but also becomes suspicious of every movement of his wife outside the house. As a result, Gyp has to leave his house silently for her father's house. Her father fetches her baby and her dogs from Gustav's house cleverly without informing him for which Gustav accuses him afterwards. Gyp continues her music lessons even from her father's home. Gyp helps Daphne in her pregnancy against the wishes of Gustav. However, she gives birth to a dead baby. On account of her idealistic tendencies, Gyp's life becomes like hell and she hasto leave Gustav's house.

We see that Galsworthy hasrepresented Gyp and Summerhay as quite complementary to each other as Gyp is a motherless girl while Summerhay is a fatherless guy. Gyp starts loving him as they both have passions for literature and music. Gyp reveals her mistakes of past to Bryan Summerhay. Gyp oscillates between Gustav and Bryan and she finds it very difficult to pursue divorce from her former husband. Gyp, being an idealist, is not in favour of divorce as it is an act of infidelity in her opinion in more or less inthe same way as her husband hasbetrayed her. However, she finds peace in the company of Bryan but remains bounded continuously to think about her duties towards her former husband. She has a great sense of duty and responsibility but no one cares about such sentiments in this cruel world. Her ideal

nature causes much delay in taking a suitable decision for her life. Her past does not let her make her future better. It seems, perhaps, she has lost her faith in love due to her husband's infidelity and mental harassment. She has undergone a psychological change. She is not handled properly by her husband. As Gyp has married Fiorsen against the wishes of her father, it seems that she lacks sufficient amount of moral courage in accepting Bryan as her next husband. We see that Fiorsen's lucrative proposals for Gyp to take her on a foreign tour could not work in winning her heart. Gyp repents over her past decisions again and again and she finds it quite impossible to undone what she has already done. Her past pinches her soul and she thinks herself not suitable for Bryan. We see that Fiorsen is not ready to listen any word in praise of Gyp from the mouth of anyone like Daphne Wing. Bryan's mother is not in favour of her son's marriage with Gyp as she remains quite fearful of society. However, Gyp is not fearful of society but of men's attitude towards women which can be seen in her talk with Bryan:

> . . . "Why are you afraid?"
>
> "Oh! Let it be like this. Don't let's change or risk anything."
>
> "Is it people—society—you're afraid of? I thought you wouldn't care."
>
> Gyp smiled.
>
> "Society? No; I'm not afraid of that."
>
> "What, then? Of me?"
>
> "I don't know. Men soon get tired. I'm a doubter, I can't help it." . . .
>
> (Galsworthy 417; beyond, bk. II, part III, ch. XI).

Suspicionand jealousy starts taking refuge in Gyp's heart. Gustav kidnaps Gyp's baby and tries Gyp to accept him as her husband. Even Gustav's act of kidnapping Gyp's baby could not change Gyp's decision. However, Gyp remains quite fearful about the well- being of her daughter in the hands of her careless husband and gives him proper instructions to take care of her daughter. She had to choose between Bryan and her daughter: "'Gyp: "I am not a baby-stealer like your father. The law gives me the right to my own child. But swear to give up your lover, and the baby shall come back to you at once. If you do not give him up, I will take her away out of England. Send me an answer to this post-office, and do not let your father try any tricks upon me. "GUSTAV FIORSEN.'" (Galsworthy 421; beyond, bk. II, part III, ch. XII).However, Fiorsen, on sensing the possibility of his defeat, returns Gyp's baby to her with a view to get Gyp's sympathy. In the last part of the novel, we see the entry of Diana Leyton who loves her cousin Bryan Summerhay, forming a love triangle keeping Bryan at its top. However, Bryan does not confess his love for Diana but Gyp could not help in comparing Diana with Daphne. In some way or the other, Bryan finds Gyp jealous of her cousin Diana. Bryan hashot talk with Gyp on the issue of his cousin Diana. Diana weakens the love string between Bryan and Gyp. Gyp could not tolerate the description of the event of Diana's kissing Bryan.

> . . . But he couldn't hate this girl simply because she loved him- not even to save Gyp pain. It was not reasonable, not possible. Why could not women see things in proportion? See that a man might want other friendships, passing moments of passion, and yet love her just the same? She thought him cruel—what for? Because he had kissed a girl who had kissed him; because he liked talking to her, and— yes, might even lose his head with her. But cruel! He was not! Gyp would always be first with him. He must *make* her see it. . . . (Galsworthy 467, beyond, bk. II, part IV, ch. IX).

However, Bryan does his best to remove the doubts and suspicions from the mind of Gyp but he fails miserably and meets with an accident in the due course of time. Gyp's distrust in Bryan makes her relations bitter with him. Gyp curses Bryan for cheating her for the sake of another girl. However, Gyp is wrong in her thinking and decision. Bryan's mental condition is responsible for his accident while ridinga horse. Gyp has to suffer again for her pathetic past life. Gyp's past makes her future bitter. We observe that even after having adverse results for her good feelings, Gyp does not leave her faith in the goodness and decides to dedicate her life for the services of the poor children to restore her mental strength. We observe that the life of the ideal persons like Gyp and Bryan becomes hell just because of the presence of evil characters in society.

In **Saint's Progress**, John Galsworthy successfully portrays the character of Edward Pierson and his daughter Noel in explaining the tragedy of idealism. Noel is a motherless girl like Gyp. Gratian is her sister. The novel explains the love story of Gyp with Cyril in a pathetic way. Edward Pierson is an extremist in his faith towards his church, "Edward Pierson in Saint's Progress is a clergyman of the Anglican High Church. He subjects himself to all kinds of tortures for the sake of the Cross. He abstains from all kinds of luxury and adopts saintly habits." (Rita Das 137). Despite his ardent faith in his beliefs and principles, he could not save the honour of his daughter and family and becomes the victim of the society and also the victim of his own principles. Before accepting anyone's marriage proposal for her daughter, Edward desires to have a proper understanding of the boy by giving himself some time. Edward is also of the view that no one can understand anyone in short period of time. Noel and Cyril have been in each other's contact for only 21 days. So, on the basis of that short-span, their proposal of marriage is not accepted by Edward. On the other hand, Edward considers his daughter too young to be married. George Laird is the husband of Gratian. We see George and Edward are diametrically opposite in their thinking but Edward helps George whenever he require his help. Edward leads a life of a saint. He is a man of simple living and high thinking. He travels in the third class compartment of the train. This shows the simplicity and purity of his heart. Cyril having failed in marrying Gypdeparts for the front to discharge his duties as a soldier.He hopes to get her married in his next leave. Edward wishes to see his daughter as a nurse serving others.

Leila Lynch is of the view that about fifty percent of the miseries of the world are caused by suppression of our natural instincts. Those who succeed in suppressing their natural instincts, want others to do the same. She had passion for Edward before marrying Fane and Lynch. She develops some kind of passion towards Jimmy Fort. The novel portrays the death of

Cyril on the warfront as a soldier which leaves Noel as an unwed mother. We see that Noel is also a miser or spendthrift, she refuses to consult a doctor even after getting fainted during her pregnancy. She considers medical expenses a kind of luxury in the toughest times of war. Noel takes Cyril as her husband even without getting the opportunity to marry him. The cruel claws of death snatches Cyril from her untimely: "'I can't bear it; I can't sleep. I want him back; I hate life—I hate the world. We hadn't done anything—only just loved each other. God likes punishing; just because we loved each other; we had only one day to love each other—only one day—only one!'" (Galsworthy 571; saint's progress, bk. III, part II, ch. V, 1).

Noel discusses her problems and life story with her sister Gratian who in turn discusses it with her husband George. George and Gratian look after Noel properly in her pregnancy and tries their best to understand her. They motivate her to accept the challenges of life quite bravely. Noel has a very kind heart which she proves on various occasions like helping the woman from Ornsey. We see Noel's dialogues with a Belgian painter Lavendie. The painter is of the view that being different from others is not an easy task to do as it is very much risky. Noel tries her best to redefine Christianity. The painter is of the view that a good man is bound to see goodness in everything which sometimes becomes the cause of his fall. Noel is praised by the painter as a saint. The painter praises Barra and says to Noel: "'. . . Men are afraid of being fair. See how we all hate not only our enemies, but those who differ from us. . . . '" (Galsworthy 633; saint's progress, bk. III, part III, ch. II, 2).

We see Edward's decision to marry Mrs Mitchett's unwed daughter who is on the verge of delivering a baby from her womb. Edward fails to deliver the proper judgement for his own daughter due to the fear of society. Noel wants her baby despite the fear of losing her respect in society. Edward feels the value of right parenting. Edward curses himself for his mistakes. Thirza, Edward's sister-in-law, explains Noel's pathetic story to her husband Bob. They remain quite sympathetic and helpful towards Noel in her adverse circumstances. They help her in delivering the war baby from her womb.

The painter Lavandie suffers humiliation in his home because his wife Henriette does not like his philosophy and his painting work and she considers his artistic works his step-wife. Noel undergoes through psychological change due to the adversity of her circumstances. In the meantime, we see that the Church authorities go against Edward and he has to choose either his daughter or the church. Edward faces difficulty in identifying the source of the problem which has caused the tragedy with his daughter. However, he identifies his unpracticality as the major cause of the tragedy. Noel being a quite sensible girl leaves the house of her father with her new-born baby for Leila's home in order to let him resolve his conflict easily. Edward tries to bring Noel back to his home. Despite all the tragedy, Edward requests Noel not to curse society and the church. The novel presents father and daughters' extreme love for each other.

> . . . "I'm afraid not. There is something wanting in me, I don't know exactly what; but something very wanting." "There isn't. It's only that you're too good—that's why!" Pierson shook his head. "Don't, Nollie!" "I will," cried Noel. "You're too gentle, and you're too good. You're charitable, and you're simple, and you believe in another

> world; that's what's the matter with you, Daddy. Do you think they do, those people who want to chase us out? . . . " (Galsworthy 666; saint's progress, bk. III, part III, ch. VII, 2).

Despite having so much love for each other, tragedy takes place with both of them on account of their idealisms. Noel's faith in the value of family system fades away with the rising problems in her life. George warns Noel to take care of her conduct to save the post of her father. However, Edward tenders his resignation by expecting chaplaincy somewhere in the east. On the other hand, Leila holds Edward responsible for the tragedies in his life. Leila thinks, Had Edward thought of his remarriage with Leila at the proper time, the tragedy could have been avoided to take place: . . . "'I do; I can see that you've been half burned alive; half burned and half buried! Well, you have your reward, whatever it is, and I mine. Good-bye, Edward!" She took his hand. "You might give me your blessing; I want it.'" (Galsworthy 697; saint's progress, bk. III, part III, ch. XIII, 1).

Edward gets chaplaincy in Egypt. Noel is of the view that her father had not lived his life according to his passions but had passed his time like the old woman who was knitting.We see how Captain Fort's proposal for Noel is rejected by Edward. Edward labels Fort as the person lacking in principles. Fort is also claimed by Leila. Gratian and George work like a good guardian in the absence of Edward and take care of Noel. They do not permit Noel to work in the fields. Being a kind girl, Noel has sympathy for the rabbits who were wandering and destroying the crops in the fields. Due to the efforts and intervention of Gratian and George, Noel gets married to Captain Fort to the surprise of her father for which she begs his pardon by writing a letter to him. Gratian and George also write to him explaining the situation, and the importance of their marriage for the well-being of Noel and her baby.

Conclusion:

In *'The Dark Flower'*, Anna Stormer's illicit love affair with Mark Lennan comes to an end automatically due to the inherent goodness in the heart of Anna. Mark and Olive could not marry. Married Mark rejects the love of Nell in about the same way as he is rejected by Anna in the first part of the novel. We see how the faith of Sylvia in Mark wins.We do not notice any major traces of tragedy of idealism in this novel. We observe that inherent goodness in someone's character always shows its effect in their decisions.

In *'Beyond'*, we observe that motherless Gyp who is in search of true love, marries motherless Gustav Fiorsen against the wishes of her father and suffers adverse circumstances. Gyp's mother dies pathetically after giving her birth.Gyp is a quite bold and passionate girl who bears every kind of suffering for the sake of her passion, her baby and her reputation in society. She shows no faith in divorce proceedings. The novel portrays how her idealistic tendencies makeher life, a hell; how her pathetic life could not turn around despite the true love of Bryan Summerhay. Gyp remains kind towards everyone who comes into her contact. Despite her kindness, she could not get whatever she deserved. At last, she has to take shelter in the social service work to satisfy her urges which shows the real worth of her character.

In *'Saint's Progress'*, we see Noel is motherless but passionate. Edward never ever thinks of remarriage after the demise of his wife. Noel's father Edward makes her life like a hell because he follows his principles strictly without any care for its consequences. For him, principles are everything. Besides losing Cyril, as his daughter's lover and husband, he also loses his prestigious post, and his peace of mind, but he remains quite firm in his principles. However, Edward realizes lack of practicality in his approach but he never ever curses his principles. Such is the nature of sages. Noel's heart is very much soft which makes her life so hard. Whatever is the effect of her father's decision on Noel's life, but she does not stop loving her father in any situation. However, Noel is married to Fort as a kind of compromise with her life. We see how Leila Lynch holds Edward responsible for all the miseries of his life.

Gyp, and Noel are motherless but they struggle. They fight for their passions, for their principles and make their lives pathetic in the eyes of society but it seems that they enjoy their life in every kind of situation. They both choose their matches and marry against the wishes of their fathers. They follow their passions despite their obedient nature towards their fathers. Gyp repents for her decision to choose Gustav as her life partner against the wishes of her father but Noel does not repent. Gyp remains unmarried but Noel marries with Fort at last. Out of the three selected novels, two novels predominantly show tragedy with idealistic people. Hence, we observe that the idealism and the tragedy are correlated to a great extent in the select novels of Galsworthy.

Works Consulted:

- Ahlgren, Ivan Edward. *Study of John Galsworthy's Social Criticism*. U of Montana. 1947.
- Barker, Dudley. *The Man of Principle: A View of John Galsworthy.* Heinemann. London. 1963.
- Bingham, Fern Catherine. *Galsworthy and the Theme of the Unhappy Marriage*. U of Arizona. 1937.hdl.handle.net/10150/553312
- Das, Rita. *The Art of John Galsworthy as a Novelist.* 1998.
- Dass, Bijay Kumar. *Comparative Literature*. Atlantic Publishers and Distributors (P) Ltd. Delhi. 2012.
- Frechet, Alec. *John Galsworthy: A Reassessment.* The Macmillan Press Ltd. London. 1982.
- Galsworthy, John. *Three Novels of Love.* Volume V. Charles Scribner's Sons. New York. 1931.
- Takahashi, Genji. *Studies in the Works of John Galsworthy with Special Reference to His Visions of Love and Beauty.* Shinozaki Shorin. Tokyo.
- Vishnu, Ashwini Kumar.*John Galsworthy the Novelist: A Critical Study*. Rohilkhand. 1996.
- https://en.wikipedia.org/wiki/Thematic_analysis

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

Parent-Child Relationship: A Study of Select Novels of Anita Desai

Himanshu Sharma
Assistant Professor of English, Department of English, J S Hindu P G College, Amroha, Uttar Pradesh
(Affiliated to M J P Rohilkhand University, Bareilly, Uttar Pradesh)
Research Scholar (M J P Rohilkhand University, Bareilly, Uttar Pradesh),

Abstract

Anita Desai(b. 1937) is one of the most distinguished and renowned Indian English novelists. She has won recognition and fame not only in India but abroad also through her writings in a variety of genres of fiction like short stories, novels,literature for children, essays, articles, and reviews. Her novels, beginning with 'Cry, the Peacock' (1963) to her latest novel, 'The Zigzag Way'(2004), deals with a variety of themes - feminine sensibility, feminine psyche, alienation and human relationship. The present paper attempts to study Anita Desai's treatment of parent-child relationship in three of her prominent novels 'Cry,the Peacock'(1963),'Voices in the City'(1965) and 'Fire on the Mountain'(1977). In the light of the above three novels we would try to analyze the extent to which parent-child relationshipexerts a formative influence on human personality, how the individual's present is rooted in his earlier memories of his happy or unhappy associations with his parents and how his present relationship with his parents has a strong bearing on his present as well as future life. Anita Desai's delineation of this core relationship is very realistic, meeting the demands and imperatives of her age, an age in which traditional values were being challenged by the new set of values with a marked inclination towards material pursuits and utilitarianism. Her depiction of the parent-child relationship in her novels is objective, unbiased, and unprejudiced. The paper follows MLA 8th style.

Keywords: Cry, the Peacock, Voices in the City,Fire on the Mountain, Parent-Child Relationship, Feminine Psyche, Sensibility, Overindulgence and Alienation.

Introduction: One of the most distinguishing features of Indian literature down the ages and across all Indian languages be it Hindi, Sanskrit, Urdu, Bengali, Tamil or even English is the treatment of the human relationships. Parent-child relationship is only one part of the complex web of the human relationships. But it is perhaps what distinguishes Indian literature from the literature ofother countries. Indian literature, as is true of Indian way of life itself, has always laid deep emphasis on righteousness and nobility of conduct and moral uprightness, which are rooted in steadfast and unswerving idealism preached by our revered saints and rishis since times immemorial. Howsoever deceptively powerful and frightening the evil maybe, ultimately it is the good that triumphs; hereselfish motives have to yield to

altruism and the stubborn ego has to succumb and flee and make way for the greater good of the mankind.The Vedas, the Ramayana, the Mahabharata and the Gita are but a few examples of the great idealistic tradition preached incessantly by Indian literature. At the same time, the Indian Society and Culture have been influenced by modern scientific, technological and industrial developments in the West, Socio-economic changes brought by them and the sense of interrogation and disillusionment consequent upon the material pursuit. And the Indian writers haverightfullyand unavoidablydepicted these influencesand the changes brought about by them in the socio-economic, cultural, religious and political spheres of our society. How far this depiction is artistically appealing and moving is what gives intrinsic worth and permanence to literature. This being **"the age of anxiety"**, the simplicity of parent-child relationship, or for that matter any human relationship has become complex and diverse myriad forces, both visible and invisible, covert and overt are at work to make them more and more complicated and subtle.Anita Desai's delineation of a wide gamut of human relationships in all her novels has been influenced by the existing intricate social conditions and circumstances. This paper attempts to study her portrayal of parent-child relationship, which has direct or indirect bearing on other human relations. It follows the demands and patterns of her age. There is hardly any current of nostalgic longing for traditional values found in her novels, but there is no discrediting either. Her perspective seems to be objective, impartial, unbiased and unprejudiced. And she persistently delves deep to explore men's unconscious being, unravel the mysteries of the human psyche and lay bare the most uncomfortable and unpleasantly disagreeable truths and realities of the existing social milieu.
In **'Cry, the Peacock'(1963),** the parent-child relationship has been delineated in a very touching manner. Maya, the protagonist, is a pampered child of her doting father. She has been reared in a fairy world. And therefore, she is ill-equipped to cope up with the harsh realities of her life. Seeing the comforts, luxuries, and other kinds of affluence in her life she may appear to be a fortunate child. But often things are not what they seem. Having lost her mother at an early age, she often feels lonely and neglected. Whenever she feels lonely and alienated, she longs for the company of her father. She says: '". . . I wish I could see father again. It always helps. . . ."'(Desai 49; cry, the peacock, part two, ch. 2). She remembers with intense longing the breakfast sessions with her father in the garden ". . .as good as a revel of elves and fairies. . ." (Desai 41; cry, the peacock, part two, ch. 2). On such occasions she was fed on fairy tales, ". . . the Arabian Nights, the glories and bravado of Indian mythology, long and astounding tales of princes and regal Queens of jackals and tigers. . ."(Desai 41; cry, the peacock, part two, ch. 2).

Having been brought up in such an over-protective and too caring an atmosphere, she finds it difficult and almost impossible to cope up with the problems of married life, especially when she is married to someone as practical as Gautama, who isquiet rational and down to earth in his approach to life and its problems. Actually Maya may herself be held responsible for her disturbed marital life.Her woeful tale begins the moment she chooses to marry Gautama, who is her father's protégé and who is almost twice her age. She thinks that marriage with an elderly person will provide protection to her world of fantasy; no sorrow or disappointment will ever encroach upon her world of dreams. Like her father, her husband will treat her with

utmost love and care; all her wishes, desires and hopes will be fulfilled. But very soon, just after the marriage she realizes her folly. All her dreams, desires and hopes are shattered to pieces one after the other; they just prove to be her childish illusions. During four years of her strained married life she becomes more and more conscious of her predicament. She grows apprehensive not only about Gautama's ability to understand her but also about even his good intensions. Gautama's dry intellectualism, which he is all the time forcing down her unwilling soul, worsens the situation all the more, making her push Gautama down the terrace to death. But seeds of this tragic culmination of Maya and Gautama's life lie in her father-obsession.Gautama considers Maya's father-fixation the root cause of her unbalanced personality and her tendency to regress. He holds her father responsible for making her a spoilt child, a neurotic. Feeling offended by Maya's behavior Gautama indignantly remarks:

> . . . Neurotic, that's what you are. A spoilt baby, so spoilt she can't bear one adverse word. Everyone must bring a present for little Maya- that is what her father taught her. . . .He is the one responsible for this- for making you believe that all that is important in the world is to possess, possess riches, comforts, poises, dollies, loyal retainers- all the luxuries of the fairy tales you were brought up on. Life is a fairytale to you still. . . . (Desai 98; cry, the peacock, part two, ch. 4).

Maya leads a life of delusion. She considers Gautama a ". . . wicked bogey-man who refuses to play. . ." along with her, and". . . who cuts down all the pretty posies with a lash of his whip. . ." (Desai 98; cry, the peacock, part two, ch. 4).It is quite evident that Maya's motherless childhood pampered by too doting and Overindulgent a father is responsible for spoiling her, for her unbalanced and skewed personality.Her father, it must be credited, often advises her to resist and overcome her childish impulses and desires, understand and accept the reality of life and behave properly with her husband but his sane advice falls on deaf ears.

Being motherless, Maya craves for a mother figure, which by virtue of being married to Gautama she gets in the form of her mother in law. She desires for the company of her mother-in-law and sister-in-law. But this relationshiptoo, unfortunately for Maya,proves one-sided. How pathetically does she long for maternal love, care and tenderness!". . . And yet I yearned for her to hold me to her bosom. I could not remember my own mother at all. My throat began to swell with unbearable self-pity. I would cry, I knew it, in a while, and dreaded it, in their sane presence. 'Please', I whispered." (Desai 136; cry, the peacock, part two, ch. 6).

In her second novel**'Voices in the City' (1965)**Anita Desai deals with the theme of Parent-Child relationship in a more elaborate manner.Nirode is continuously haunted by his childhood memories which are a mixture of both sweet and bitter feelings. As a child, he was often comparedto his brotherArun, who was a bright student, whereas he himself was regarded an incorrigible failure. He feels that as a child he received less love and affection from his parents than his younger brother. And this feeling of being treated partially and discriminately hampers the full blossoming of his personality. He feels like ". . . along weed undulating under water, a weed that could live only in aqueous gloom, would never rise and sprout into clear day-light. . ."(Desai 63; voices in the city). As a child he felt himself deeply

attached to his mother, almost having a mother-obsession. He remembers how his mother in their childhood used to play with them indoor games, how she used to tell them bedtime stories, particularly from the Mahabharata. But all these sweet memories give way to vigorous and acute hatred when the abhorrent face of major Chadha appears before him.Nirode is too dissatisfied with his mother to have a healthy mother-son relationship with her. He suspects her mother of having a secret, immoral and illicit affair with Major Chadha. This shocking revelation about his mother makes him feel ". . . that between him and mother's brilliant territory was erected a barbed wire fence, all glittering and vicious. . ."(Desai 27; voices in the city). He feels offended by ". . . the sensual smile which was so hideousin his mother."(Desai 28; voices in the city). He is so upset over this repulsive relationship that even in his dreams,he mutters, ". . .No mother, you can't. . ."(Desai 26; voices in the city).

Monisha, the elder sister ofNirode,is also leading a miserable life with her husband Jiban, to whom she is unhappily married. Leading a servile life within the rigid and obscure confines of a traditional extended Hindu family in Calcutta, she feels Stifled by her suffocating surroundings. The sights, the smells, and the sounds of householdin the new place are in complete contrast with the healthy and lively surroundings in which she had spent her childhood days among the serene hills of Kalimpong. Having been brought up by a doting and overindulgent mother, she finds it very difficult to adjust herself to the conservative atmosphere in the house of in-laws. She feels so utterly humiliated, desolate, and dejected that she is left with no other alternative but to commit suicide. Though there is no clear mention in the novel, but the effects of her childhood memories, the parental influence,particularly her mother's licentiousness must have played a negatively aggravating role in her taking such a drastic step as committing suicide.

Amla, the younger sister arrives in the city happily after completing her course at an art school in Bombay. She begins to work very enthusiastically at an advertising firm. Being lively and sprightly, she gets involved in a close relationship with a bald middle-aged artistJit Nair. She is different from both her brother Nirode and sister Monisha. She wants to share joys with her family and live a life of pleasure. She seems to have escaped the unhealthy and deteriorating effects of the discord between her parentswith which she is quite familiar. She knows pretty well that her father was a cynic and drunkard and her mothera practical lady. And therefore it was unlikely that they could ever have a liking or love for each other. Thisdissonance between the parents is probably always at the back of her mind, even when she is trying to lead a happy life. She too is disillusioned and frustrated as she cannot reason out as to what weighs so heavily upon Nirode and Monisha. After seeing Monisha,her elder sister, she is disappointed and very sad.She feels agedby at least ten years.

Anita Desai'sdepiction of parent-child relationship in '**Fire on the Mountain'(1977)**is very unique. Nanda Kaul, the great-grandmother andRaka, her great-granddaughter share a very similar kind of nature.Yet, they share a very strained relationship. Having been ignored and ill-treated by her husband throughout her married life, Nanda Kaul develops an embittered and sour attitude towards life. When her children grow up and she gets an opportunity, she

decides to leave it all behind and fulfil her subdued passion for enchanting loneliness. She moves away from the plains and settles to a life of seclusion in Carignanoin the hills of Kasauli. There she is leading a happy, contented and almost perfect life until the letter announcing Raka's arrival disturbs the peace of her mind.Raka, who is her own flesh and blood, is visualized by her as an intruder from the outside world threatening her tranquilly with disorder. To herRaka is a reminder of the anxieties of her earlier life, a life overburdened with responsibilities which she had continued to discharge, sometimes willingly, other times unwillingly, andfrom which she has somehow managed to escape. As a result, her behavior towards Raka, when she actually arrives in Carignano to live with her, is far from satisfactory. She is an uninvited, an unwelcome guest to her. Raka too does not feel any warmth for or inclination towards her great-grandmother. Instead, she feels affectionately inclined towards Ramlal, who is merely a servant to Nanda Kaul. The great-grandmother is shocked to see that Ramlal, who is not a blood relation to Raka, could arouse the young girls' interest so naturally and spontaneously and sustain it too, while she herself could not move an inch closer to her. She feels hurt by Raka's continuous indifference towards her.This rejection by the young girl incites her desire to somehow reach out to her and possess her tender love all the more. She feels pained when she sees Raka". . . run after Ramlal and swing from his arm. She had not even called to her Nani. . ."(Desai 79; fire on the mountain, part II, ch. 13).

Nanda Kaul realizes her mistake of not showing enough warmth and cordiality in her behavior towards her great-granddaughter, not giving her sufficient love and affection when she first comes to live with her. Often the first impressions have a lasting effect on one's memory. And probably that too has, besides her painful childhood memories, made Raka indifferent to her great-grandmother. Nanda Kaultries to win Raka's love and affection back to herself, recreating an imaginary childhood, projecting some of her own childhood longings and desires and describing how her father cared for the emotional needs of the children. She tells Raka: "'He loved to go riding with the children himself. . . . and we'd have such games out on the lawn, all of us, at times, even by moonlight. . . . We could have anything we wanted of him, anything. . .'" (Desai 99-100; fire on the mountain, part II, ch. 20). At that time it seemed to her as if she had entered her childhood again and once again she was enjoying the pleasures of her childhood.

But she's dismayed to see that Raka, despite all her efforts does not listen to her with the desired interest.Raka feels impatient and restless to breakout into freedom again, as from the very beginning, she ". . . wanted only one thing -to be left alone and pursue her own secret life amongst the rocks and pines of Kasauli." (Desai 48; fire on the mountain, part II, ch. 4). Raka, unfortunately, shares an almost similar love and inclination for a life of seclusion and loneliness as that of her great-grandmother but there is a noticeable difference as far as the reason behind choice of such a life of isolationand withdrawal is concerned. "If Nanda Kaul was a recluse out of vengeance for a long life of duty and obligation her great-granddaughter was a recluse by nature, by instinct. She had not arrived at this condition by a long route of rejection and sacrifice-she was born to it, simply."(Desai 48; fire on the mountain, part II, ch. 4).The natural and gradual detachment of Raka has its root in her childhood memories, which

are full of tormenting and traumatic experiences and which keep haunting her in her dreams even now. She remembers how her cruel and heartless father returned home from a party ". . . stumbling and crashing through the curtains of night. . ." abusing her mother in filthy language, beating her mother, and how she was frightened and made to ". . . cower under her bedclothes . . .", how she urinated out of fright making her mattress wet and how she had to struggle to free herself. She would start weeping and then ". . .her mother was crying. Then it was a jackal crying." (Desai 71-72; fire on the mountain, part II, ch. 11). We oftentrace the origin of the parent-child relationship, whether happy or unhappy, from the time of birth of the child; correlating it with healthy or unhealthy surroundings he is exposed to after his/ her birth, but this is probably where we are mistaken. A large part of the development of a child's personality takes place inside the womb, in its pre-natal stage. The impressions of the external surroundings, the harmonious or inharmonious relationships among the family members particularly between parents, which a child receives in its pre-natal life go a long way in shaping his/ her personality, his/ her psychological and emotional development and his/ her familial and social adjustment. Parental dissonance might have played a negative role in Raka's case too.

All these undesirable, unhealthy and excruciatingly painful experiences have gone into making Raka a peculiarly isolated child who never ever demands or expects anything from anyone. Like her great-grandmother, she is utterly unwilling to mix up with anyone. Thegreat-grandmother and the great-granddaughter both have created their own worlds of fantasy and live a life of withdrawal from the outside world. But there is a difference in the way they approach to their respective worlds. Jasbir Jain very aptly remarks, "The difference between the fantasy world of the two -Raka and Nanda Kaul- lies also in the degree of freedom fantasy offers.For Rakait is perhaps a move towards liberation from her childhood fears and a violent realization of the future,for NandaKaul it serves as a mirror of the hollow self she has created and shocks her into the present."(Jain 50).

Conclusion:

To conclude, from the above thematic survey of the three selected novels of Anita Desai for the study, we may assert that familial relationships, particularly the parent-child relationship plays an important part in her fictional realm. Parent-child relationship has a strong bearing on the formation and development of the personality of various characters in her novels. Whether it is Maya in 'Cry, The Peacock', Nirode, Monisha and Amla in 'Voices in the City' or Raka in 'Fire on theMountain' discord and disharmony, either between mother and father, or between either of the parents and children leads to the development of skewed,emotionally disturbed and socially maladjusted personality often leading to tragic and catastrophic ends. Anita Desai doesn't present before us a rosy or ideal picture of parent-child relationship.Her realistic portrayal makes us realize the bitter truth in all its nakedness. She uses the narrative technique of flashbacks into childhood to show its formative influence on the personality of various characters. She uses the memories of past as a method of ". . . evaluating the Individuals relationship with the present."(Jain 14).

Works Consulted:

- Bansal, Sanjeev Kumar and Deepak Jaiswal. The Era of Strange Learning Strategies-Garbhasanskar, Google SMS Channels & U-Learning as strange Learning Strategies. Electronic International Interdisciplinary Research Journal (EIIRJ). vol. 1, issue-IV, July/ Aug 2012, pp. 107-119, http://www.aarhat.com/eiirj/?p=62. Accessed 29 March 2021.
- Dash, Sandhyarani. Forms and Visions in the Novelsof Anita Desai. Prestige Books. New Delhi. 1996.
- Desai, Anita. *Cry, The Peacock*. Orient Paperbacks. New Delhi. 1980.
- Desai, Anita. *Fire on the Mountain*. Allied Publishers Private Limited. New Delhi. 1977.
- Desai, Anita. *Voices in the City*. Orient Paperbacks. New Delhi. 1982.
- Gopal, N.R. A Critical Study of the Novels of Anita Desai. Atlantic Publishers and Distributors. New Delhi. 1999.
- Jain,Jasbir. Stairs to the Attic: The Novels of Anita Desai. Printwell. Jaipur. 1987.
- Khanna, Shashi. Human Relationships in Anita Desai's Novels. Sarup& Sons. New Delhi. 1995.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

पूर्व किशोरावस्था की छात्राओं के स्वास्थ्य का तुलनात्मक अध्ययन

डॉ0 सुषमा रानी
गृह विज्ञान

मानव जीवन एक सजीव प्रक्रिया है। यह शिशु अवस्था से शुरू होकर मृत्यु पर्यंत चलती है जीवन के विकास में कई अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है। जैसेः बचपन, किशोरावस्था, प्रौढ़ावस्था एवं वृद्धावस्था।

किशोरावस्था बचपन तथा प्रौढ़ावस्था के बीच का परिवर्तन काल है किशोरावस्था (Adolescence) लैटिन शब्द (Adolescence) से बना है। जिसका अर्थ है 'परिपक्वता की दिशा में बढ़ना' कई भी बालक बालिकायें किशोरावस्था को पार किए बिना वयस्क नहीं हो सकता है। बहुत से मनोवैज्ञानिक इसे बाल्यवस्था और वयस्कता के बीच का सेतुबोध मानते है। इसे लैंगिक परिपक्वता की ओर तेजी से बढ़ता हुआ कदम कह सकते है। जिस दरम्यान बालक, बालिकायें खुद को पहचानता है तथा अपने मूल्यों, दृष्टिकोणों, आत्मविश्वास, सामाजिक व व्यावसायिक लक्षणो को प्राप्त करता है। ताकि समाज में वह अपनी पहचान बना सके, अपने को समायोजित कर सकें।

किशोरावस्था के वैज्ञानिक अध्ययन के जन्मदाता जो स्टेनले हॉल ने इस अवस्था को तुफान तथा तनाव की अवस्था कहा है।

मसन, कोंगर, केगन तथा हस्टन के अनुसार इस अवस्था में केवल शारीरिक, लैंगिक, मानसिक तथ ज्ञानात्मक परिवर्तन ही नहीं होते बल्कि इस अवस्था में अन्य व्यक्तियों जैसेंः माता–पिता, अध्यापन संगी–साथी इत्यादि की सामाजिक आकांक्षाएं भी बढ़ जाती है।

पूर्व किशोरावस्था में सामान्यतः शारीरिक परिवर्तन के कारण शरीरिक परिवर्ततन तेजी से होते है। किशोर अपने शारीरिक विकास के प्रति सजग होते जाते है। इस अवस्था में वृद्धि स्फुरण के कारण शारीरिक परिवर्तन आरंभ होते है। किशोर अपने शारीरिक विकास के प्रति सजग होते जाते है। यह समय 12 से 15 वर्ष तक होता है। इस अवस्था में हार्मोनल परिवर्तन के कारण लैंगिक परिपक्वता आरंभ हो जाती है। पूर्व किशोरावस्था में लड़कियां का विकास लड़कों की अपेक्षा तेजी से होता है।

इसलिए वे अपनी ही आयु के लड़को के मुकाबले बड़ी लगने लगती है। पूर्व किशोरावस्था में किशोरावस्था का आगमन कई कारको द्वारा प्रभावित होता है। जैसें 1. व्यक्तिगत भिन्नताएं 2. अंतः स्तावी ग्रथियों की क्रियाएं 3. अनुवांशिकता 4. खानपान 5. सामाजिक आर्थिक स्तर 6. उस क्षेत्र का तापमान 7. स्वास्थ्य एवं पोषण।

12 से 15 वर्ष की आयु को प्यूबर्ति पीरियड ;च्नइमतजल च्मतपवकद्ध भी कहा जाता है। व्यूबर्ति शब्द की लैटिन भाषा के व्यूबरटस से उत्पति हुई है। जिसका अर्थ है 'यौवनारंभ' या 'पुरूपरख की आयु'।

स्वातनयोतर काल के प्रारंभ के वर्षो से ही आत्मनिर्भरता के लक्ष्य को प्राप्त करने के उद्देश्य से कृषि उत्पादन के क्षेत्र में विशेष प्राथमिकताएं दी गई है। इस बात की पुरजोर व्यवस्था राष्ट्रीय कृषि में की गई थी कि चूंकि भारत गांवो का देश है और करीब 80 प्रतिशत भारत की आबादी गांवो में बसती है। 20 प्रतिशत भारत की आबादी ही शहरों में जो किसी न किसी तरीके से भारत की अर्थवस्वस्था को नियंत्रित करती है। पचास के दशक पर यदि गौर करेगें तो पायेगें की भारत केवल पांच करोड़ टन अन्न का उत्पादन करता था और शेष अन्न की आपूर्ति अन्य देशो से होता थी। हरित क्रान्ति के परिणामस्वरूप उत्पादन क्षमता से होने वाली वृद्धि ने भारत को खाद्यान्न में आत्मनिर्भरता के स्तर तक पहुचा दिया। अन्न से भरा पेट व ज्ञान की सम्पन्नता को सामाजिक विकास करने का मुख्य आधार माना गया। ज्ञान के बढ़ते महत्व के साथ–साथ विकसित मानसिक क्षमता के महत्व को भी महत्वपुर्ण माना गया। विभिन्न कार्य के उपरान्त यह माना गया है कि मनुष्य के सर्वागीण विकास के लिए शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक एवं आध्यामिक शक्तियों का विकास होना अति आवश्यक है भारतीय स्वास्थ्य पद्धति में व्यक्ति को शारीरिक एवं मानसिक क्षमता के पारस्परिक संबंधों को मान्यता दी गई है।

मानव विकास की प्रक्रिया में स्वास्थ्य की अहम भूमिका को ध्यान में रखते हुए मानव विकास सूचकांक के मानदंड के रूप में स्वास्थ्य को जब से शामिल किया गया है। तब से केन्द्र सरकार व राज्य सरकार द्वारा विभिन्न कल्याणकारी योजनाओं का शुभारंभ किया गया। संयुक्त राष्ट्रसंघ के एशिया प्रशान्त सागर क्षेत्रा के सामाजिक और आर्थिक आयोग (UNESCAP) द्वारा किए गए शोध अध्ययन के अनुसार स्वास्थ्य पर किए गए व्यय तथा आर्थिक विकास में घना संबंध है। विश्व स्वास्थ्य संगठन के मानदंड के अनुसार प्रति व्यक्ति प्रति वर्ष खर्च किये जाने वाले व्यय 36 होना चाहिए, परन्तु 20 से भी कम हो रहा है जिसके परिणामस्वरूप सभी नागरिकों की पर्याप्त सुविधएं नहीं मिल पा रही है। राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2017 में स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले 0.9 प्रतिशत राष्ट्रीय सकल घरेलू उत्पाद (GDP) के व्यय की अगले पांच वर्षो की अवधि में बढ़ाकर 2.3 प्रतिशत घरेलु उत्पाद व्यय के लक्ष्य प्राप्त किया जाना है।

जबकि वर्ष 2018 में अपने सकल घरेलु उत्पाद (GDP) 15.5 प्रतिशत आस्ट्रेलिया ने ता 10.1 प्रतिशत राशि न्यूजीलैंड ने तथा जापान ने 9.15 प्रतिशत राशि स्वास्थ्य सेवाओं पर व्यय किए।

यदि भारत में शिक्षा के स्तर की गुणवता की चर्चा की जाए तो हम पायेगें के ग्राम पंचायतों को यह जिम्मेवारी दी गई है। कि वो 6–14 वर्षो की आयु के बच्चों की शिक्षा के मौलिक अधिकार की रक्षा के साथ–साथ, सर्वशिक्षा को अपनी पंचायत में सफल बनाने, स्कूल के बाहर के बच्चों को स्कूल से जोड़ने, लड़कियों को स्कूल से जोड़ने के साथ–साथ गांव के स्कूलों के संचालन में सकारात्मक हस्तक्षेप के साथ–साथ शिक्षा समिति के माध्यम से सहयोग करें आदि सम्मिलित है। वर्ष 2010 तक 6 से 14 के आयु वर्ग के सभी बच्चों को उपयोगी तथा प्रारंभिक शिक्षा प्रदान करने का लक्ष्य भी निर्धारित किया गया था। पर वह लक्ष्य प्राप्त नहीं हो पाया। एक शोध के अनुसार भारत अपना कोई भी लक्ष्य तभी प्राप्त कर पाएगा, जब इसमें महिलाओं की भागीदारी अधिक हो सकेगी। एक लक्षित वर्ग के रूप में महिलाओं के लिए पंचायत, विभिन्न योजनाओं के क्रियान्वयन में एवं अपनी योजनाओं में उन्हें प्राथमिकता देकर उनके शक्तिकरण में सहायक हो सकती है। महिलाओं की अधिक से अधिक सहभागिता भी योजनाओं को सफल बनाने में कारगर सिद्ध हो रही है। पंचायतों की इन्हीं भूमिकाओं को ध्यान मे रखकर पटना जिले के ग्रामीण विद्यालय में अध्ययनरत बालिकाओं के स्वास्थ्य को लक्षित कर वर्ग षष्ठ से लकर वर्ग अष्टम तक की बालिकाओं के स्वास्थ्य को समाजशाष्त्राीय अध्ययन करने की योजना बनाई गई। स्वास्थ्य योजनाओं के तहत विभिन्न प्रकार की शारीरिक कमी को अध्ययन करने का शोध आधार बनाया गया।

छात्राओं के स्वास्थ्य तथा उनकी पारिवारिक आया का विवरण :–

क्र0सं0	शारीरिक स्वास्थ्य के घटक	उच्च आय वर्ग		मध्य आय वर्ग		निम्न आय वर्ग		कुल
			50		50		100	
1.	रक्त अल्पता	20	40:	25	50:	40	40:	85
2.	श्वास की समस्या	10	20:	5	10:	15	15:	30
3.	सर दर्द	10	20:	10	20:	15	15:	35
4.	चक्कर आना	10	20:	10	20:	30	30:	50
5.	कुल संख्या	50		50		100		200

पूर्व किशोरावस्था में आवश्यक पौटिष्क तत्वों की दैनिक प्रस्तावित मात्रा। ICMR

Table: Daily Recommended Allowances for Adolescence : ICMR

पौष्टिक तत्व Nutrients	किशोर	किशोरी
	12–15	12–15
कैलोरी (K. Cal)	2450	2060
प्रोटीन (gm)	70	65
वसा (gm)	22	22
कैल्सियम (mg)	600	600
लोहा (hg)	28	41
विटामिन (A)	600	600
रेटीनॉल (mg)	2400	2400
ठ कैरोटीन (mg)	1.2	1.0
थायमिन (gm)	1.5	1.2
राइबोफ्रलेविन (gm)	16	14
नियासिन (gm)	100	100
फोलिक अम्ल (gm)	2.0	2.0
विटामिन B12 (gm)	2.0	2.0
विटामिन C (gm)	40	40

पटना जिला के ग्रामीण क्षेत्रों के सरकारी विद्यालयों में अध्ययनशील पष्ठ से वर्ग अष्टम वर्ग तक की पूर्व किशोरा अवस्था छात्राओं को केन्द्रित करके प्रश्नोतरी विधि के माध्यम से एनीमिया या खून की कमी की स्वास्थ्य में होने वाली गिरावट पर अध्ययन का आधार बनाया गया। चयनित पूर्व

किशोराअवस्था की छात्रा को उसके विभिन्न सामाजिक व आर्थिक परिवेश के आधार पर सम्मिलित किया गया। आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखते हुए तीन समूहों में इन छात्राओं को बांटा गया।

1. उच्च आर्थिक स्थिति
2. मध्य आर्थिक स्थिति
3. निम्न आर्थिक स्थिति

इन आर्थिक स्थितियों को उनके परिवार द्वारा अर्जित की गयी मासिक आय के आधार पर निर्धारण किया गया। सामाजिक स्थिति को नियत गुणांक मानकर शोध अध्ययन किया गया। इन किशोरी छात्राओं की आयु 12 वर्ष से 15 वर्ष के आस पास थी। जो विद्यालय में उपलब्ध आंकडों के आधर से प्राप्त हुआ था। इन छात्राओं की कुल संख्या 200 थी। जिसमें उच्च आय वर्ग से 50 छात्रा, मध्यम आय से 50 छात्रा तथा निम्न आय से 100 छात्रा सम्मिलित थी। आर्थात कुल छात्राओं की संख्या 200 थी।

आर्थिक आधार का स्वरूप :– आर्थिक आधार को स्वास्थ्य की मानक ईकाई मानते हुए इसे तीन वर्गो में विभाजित किया गया है।

उच्च आय वर्ग :–इस आय वर्ग के अंतर्गत वैसे लोगो की सम्मिलित किया गया था, जिनके पास

1. सालो भर सरकारी / गैर सरकारी क्षेत्र में रोजगार के अवसर उपलब्ध थे।
2. जिनकी मासिक आय 25 से 30 हजार के बीच थी।
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 6 से 8 तक थी।

मध्य आय वर्ग :–इस वर्ग के अंतर्गत वैसे लोगों को सम्मिलित किया गया था, जिनके पास

1. सरकारी / गैर सरकारी क्षेत्र में कार्य तो थे, पर आवश्यकतानुसार ही उन्हें अवसर प्रदान किया जाता था।
2. जिनकी मासिक आय 10 से 12 हजार के बीच थी।
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 6 से 8 तक थी।

निम्न आय वर्ग :– इस वर्ग के अंतर्गत वैसे लोगो को सम्मिलित किया गया, जिनके पास

1. सरकारी / गैर सरकारी क्षेत्र में कार्य तो थे, पर आवश्यकतानुसार ही उन्हें अवसर प्रदान किया जाता था।
2. जिनकी मासिक आय 8 से 5 हजार के बीच थी।
3. जिनके परिवार में सदस्यों की संख्या 6 से 8 तक थी।

परिणाम एवं चर्चा :– गांव के सरकारी विद्यालय में अध्ययनशील छात्राओं के स्वास्थ्य का समाजशास्त्रीय अध्ययन विषय पर किए गए शोध कार्य के उपरांत प्राप्त परिणाम के आलोक में परिचर्चा के क्रम में यह पाया जाता है कि भारत सरकार के राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति 2002 में संकेत दिया है। कि स्वास्थ्य सेवाओं पर होने वाले 0.9 प्रतिशत राष्ट्रीय सकल घरेलू (GDP) के व्यय को अवधि में बढ़ाकर 2–3 प्रतिशत राष्ट्रीय सकल घरेलु उत्पाद (GDP) व्यय के लक्षण की प्राप्त करने का प्रयास किया जाएगा। भारत सरकार की पहल को ध्यान में रखने पर यह पाया गया है कि एनीमिया या खून की कमी से निपटने के

लिए लौह तत्व की गोलियों की आंगनबाड़ी, स्वास्थ्य केन्द्रो के माध्यम से उपलब्ध पंचायत के माध्यम से बांटा गया था। पर क्या वे सभी लौह तत्व से युक्त गोलियों की प्रभावी क्षमता का अंत तो नहीं हो गया था? अमर्त्यसेन की मान्यता के अनुसार शिक्षा की भांति स्वास्थ्य भी मनुष्य की मूलभूत क्षमता की प्रतीक है। और जीवन को समानता प्रदान करने में सबल सहायता भी है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने भी राज्यो को यह दायित्व सौपां है कि सरकार की ओर से भी नागरिकों को मर्यादापूर्ण जीवन यापन के लिए आवश्यक स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध करायी जाएगी। (अनुच्छेद 47)। इतना ही नहीं मौलिक अधिकारो की सूची में जीने के अधिकार (Right to life) को भी शामिल किया है। उच्चतम न्यायलय की व्याख्या के अनुसार जीने के अधिकार का तात्पर्य मर्यादापूर्ण जीवन यापन की सुविधा से है और यह स्वास्थ्य के अधिकार पर निर्भर है। पुनः उसी न्यायलय में स्थिति को अधिक स्पष्ट करते हुए एक अन्य मामले में (N D Jayal Vs Union of India SC 362) ने राय दिया है कि सर्वोच्च न्यायलय के स्पष्ट अभिमत के अनुसार सभी नागरिको को अपेक्षित स्वास्थ्य सेवा सुविधा का मौलिक अधिकार प्राप्त है।

शोध से एकदम स्पष्ट है कि हर बार की तरह अपेक्षित तिरस्कृत, लिंग भेद एवं ज्ञान से दूर व्यक्ति जो आर्थिक मार भी झेलता है सारी बीमारियों का वाहक होता है, सूचना और प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में अवश्य ही क्रान्ति आ गई पर, इन दिशाहीनो के जीवन में क्रान्ति कब आयगी?

शिशुओं एवं माताओं, बहनों के स्वास्थ्य में सुधार तथा संक्रामक रोगों, लिंग भेद के नियंत्रण को प्राथमिकता दी जाए।

आर्थिक रूप से सहमें छात्र/छात्राओं में अभी भी चक्कर आने, सांस फुलना, सरदर्द होने की प्रतिशत संख्या अधिक है।

इनके स्वास्थ्य के स्तर में होने वाले गिरावट के उपरांत जो बातें सामने आती है। वो यह है कि आखिर सरकार द्वारा उपलब्ध कराई जाने वाले राशि का सदुपयोग कैसे किया जाए?

ताकि सभी के पास स्वास्थ्य पहुंच सके।

जिससे हमारी भावी पीढ़ी के चिकित्सक एक आम आदमी को बेहतर स्वास्थ्य सेवा उपलब्ध कराने में सफल हो सके, साथ ही साथ सरकारी व गैर सरकारी दोनो ही स्तर पर विद्यालय में अध्ययनशील छात्राओं के स्वास्थ्य की जांच प्रशिक्षित डॉक्टर/मेडिकल स्टाफ से कराई जाए तथा प्रभावित छात्र–छात्राओं को विभिन्न स्वास्थ्य सेवा केन्द्रों के माध्यम से स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराई जाए, जिसका विस्तृत ब्यौरा ग्राम पंचायत या ब्लॉक स्तर के पदाधिकारी के पास व विद्यालय के प्रधान के पास रिकार्ड के रूप में सुरक्षित व संरक्षित रखे जाए, और उनके घरों में लिंग भेद भी ना किया जाए। ऐसा करके ही सबों के लिए स्वास्थ्य लक्ष्य को प्राप्त कर पाएंगे एवं स्वास्थ्य तन के सपने को साकार कर सकेंगे।

जल की अधिकता के प्रभाव (Effect of Excess water intake)

जब एक स्वास्थ्य प्रौढ़ व्यक्ति 2 लीटर जल ग्रहण करता है तो यह जल सम्पूर्ण शरीर में शीघ्रता से वितरित हो जाता है। तथा आवश्यकता से अधिक जल 3 घंटे के भीतर गुर्दो के द्वारा शरीर से बाहर निकाल दिया जाता है। अतः शरीर में जल संग्रह नहीं होता है।

सामान्यतः हमारे शरीर से मूत्र का निष्कासन 20 मिलि/घंटा होता है। अधिक जल के सेवन से इसकी मात्रा 1500 मिलि/घंटा तक बढ़ जाती है। उष्ण जलवायु में जल का निष्कासन पसीने के माध्यम से अधिक होता है।

परन्तु यदि शरीर द्वारा प्राप्त किये जल से शरीर द्वारा उत्सर्जित जल की मात्रा कम होती है तब शरीर में पानी की अधिकता (Excess of wate in Body) हो जाती है। इसके कारण शरीर से सोडियम एवं पानी का निष्कासन नही हो पाता है परिणामतः बाह्यकोशीय रसों की तरलता बढ़ जाती है। सोडियम की मात्रा अधिक होने से उतकों में पानी भर जाता है।

जल की अधिकता से व्यक्ति में निम्न लक्षण दृष्टिगोचर हो जाते है–

1. व्यक्ति के शरीर में सूजन आ जाती है।
2. रक्त में प्रोटीन की कमी है जिससे सीरम प्रोटिन का रसाकर्षण दाब भंग हो जाता है। परिणामतः शरीर के उतकों में जल भर जाता है।
3. व्यक्ति का जी मिचलाने लगता है। वमन एवं घबराहट होने लगती है।
4. नाड़ी संबंधी विकार उत्पन्न हो जाते है।
5. यकृत संबंधी रोग उत्पन्न हो जाते है।

स्वच्छ पेयजल की सुलभता देश की प्रमुख समस्या है क्योंकि जल एवं जन स्वास्थ्य का राष्ट्रीय विकास से सीधा संबंध है स्वास्थ्य देशवासी की उस देश की आर्थिक व्यवस्था के मेरूदंड होते है। भारत की 70 प्रतिशत जनंसख्या गांवो में बसने के कारण जल गुणवता की समस्या और गहन हो जाती है। हमें पेयजल की गुणवता एवं स्वच्छता के महत्व की न केवल शहरो में वरन ग्रामीण क्षेत्रों में भी जानकारी देनी होगी और पेयजल को आगामी पीढ़ी के लिए बचाकर रखना होगा।

जल का घरेलू, सामुदायिक, कृषि एवं औद्योगिक क्षेत्र में मितव्ययता से उपभोग राष्ट्रीय विकास की कुंजी है।

संदर्भ सूचीः–

1. ए0 के0 मुखर्जी– ए0 के0 मुखर्जी – यूनिवर्सिटी न्यूज 133(20) June, 1995
2. अनुच्छेद 47
3. Right to life depends on Right to health - state of punjabe vs mahinder singh chawla, AIR 1997 sc 1225.
4. N. D. ayal vs Union of India, popularly known as Tehri Dam Case (2004) Sc, 362.
5. Social Reserach Journal, Past, Present, Future July - December 2009. Page No.- 171, 172, 173, 174.
6. आहार एवं पोषण विज्ञान ले0– वृंदा सिंह, पृ0सं0 – 575, 576, 577
7. बाल मनोविज्ञान : बाल विकास – ले0– डॉ0 डी0एन0 श्रीवास्तव एवं डॉ0 प्रीति वर्मा, पृ0सं0 – 371, 372
8. Internet.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

धर्म की अभिव्यक्ति तथा दार्शनिक उपादेयता

डॉ0 विकास कुमार
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
श्री वार्ष्णेय महाविद्यालय, अलीगढ़, उत्तर प्रदेश एवं
सम्पादक– International Literary Quest एवं World Translation

बहुत प्राचीन काल से ही ईश्वर के अस्तित्त्व के पक्ष तथा विपक्ष में अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जाते रहे हैं और उसके स्वरूप तथा उसमें आरोपित गुणों का भी सविस्तार विवेचन किया जाता रहा है। किन्तु यही विवेचन धार्मिक व्यक्ति अथवा ईश्वरवादियों द्वारा किया जाता है, तो उसका रूप दार्शनिक के विवेचन से भिन्न होता है। धार्मिक भाषा का स्वरूप तथा सार्थकता समकालीन पाश्चात्य धर्म दर्शन का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है तथा जब यह ईश्वर के संदर्भ में हो तो यह और भी महत्त्वपूर्ण हो जाता है क्योंकि धार्मिक व्यक्ति के लिए ईश्वर संबंधी विचार जो कि धार्मिक भाषा का मूल है, पर अटूट श्रद्धा तथा विश्वास होता है।

सर्वप्रथम धार्मिक व्यक्तियों एवं ईश्वरवादी दार्शनिकों के अनुसार ईश्वर का स्वरूप स्पष्ट करना होगा। प्राचीन काल से ईश्वर के स्वरूप के संबंध में दो मुख्य धारणाएँ स्वीकार की जाती रही हैं– मानवत्वारोपी अवधारणा तथा अमानवत्वारोपी अवधारणा। मानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार, ईश्वर को दैवी शक्तियों से परिपूर्ण महामानव माना जाता है और उसमें मनुष्य के समस्त श्रेष्ठ गुणों को असीमित मात्रा में आरोपित किया जाता है। इस अवधारणा के अनुसार ईश्वर असीमित शक्ति, ज्ञान, शुभत्त्व, प्रेम आदि श्रेष्ठ गुणों से परिपूर्ण एक महापुरुष है, जो इस जगत् का रचयिता, नियंता तथा पालनकर्त्ता है और जो अपने भक्तों की प्रार्थना सुनकर उनकी सहायता करता है। वह अपनी सृष्टि के समस्त जीवों से उसी प्रकार प्रेम करता है, जिस प्रकार पिता अपनी सभी संतानों से प्यार करता है। प्रायः सभी भक्त और धर्मपरायण व्यक्ति ईश्वर की इसी अवधारणा में विश्वास करते हैं।

अमानवत्वारोपी अवधारणा के अनुसार ईश्वर कोई व्यक्ति या प्राणी नहीं है, वह निराकार, अनुभवातीत, असीम, शाश्वत और देश–काल से परे है। इसी कारण हम उसे इंद्रियजन्य अनुभव और तर्कबुद्धि द्वारा नहीं जान सकते। परन्तु यहाँ उल्लेखनीय है कि ईश्वर की इस अमानवत्वारोपी अवधारणा में विश्वास करने वाले ईश्वरवादी दार्शनिक भी धर्मपरायण व्यक्तियों की भाँति ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वव्यापक तथा अत्यंत दयालु मानते हैं और यह कहते हैं कि यह भक्तों का उपास्य विषय है तथा हम सबसे पिता की भाँति प्रेम करता है। वे उसे जगत् का रचयिता, नियंता और पालन करने वाला भी मानते हैं। इस प्रकार स्पष्ट है कि ईश्वर के गुणों तथा कार्यों के संबंध में इन ईश्वरवादी दार्शनिकों का उन धर्मपरायण व्यक्तियों से कोई मतभेद नहीं है जो ईश्वर की मानवत्वरोपी अवधारणा में विश्वास करते हैं।

पुनः धार्मिक व्यक्ति द्वारा किस विचार को समर्थन किया जाता है यह भी स्पष्ट करना जरूरी है। धर्म–दर्शन तथा धर्मशास्त्र दोनों ही धार्मिक कहानी को संकलित करते हैं किन्तु धार्मिक व्यक्ति का

सरोकार धर्मशास्त्र है न कि धर्म–दर्शन से। धर्म–दर्शन तथा धर्मशास्त्र में एक समानता यह है कि दोनों का संबंध धर्म से है तथापि दोनों के विषय–वस्तु की व्यापकता और चिन्तन की विधि में अन्तर है। धर्म–दर्शन का संबंध किसी धर्म–विशेष से नहीं है जबकि धर्मशास्त्र का संबंध किसी विशेष धर्म से होता है। हर धर्म का अपना अलग धर्मशास्त्र होता है। इसके अलावा, किसी एक धर्म की अलग–अलग शाखाओं का अपना अलग–अलग धर्मशास्त्र भी हो सकता है। साथ ही, धर्म–दर्शन में किसी भी धार्मिक मान्यता को पहले से ही सत्य स्वीकार नहीं किया जाता है तो दूसरी ओर, धर्मशास्त्र में बुनियादी धार्मिक मान्यताओं की सत्यता के बारे में कोई भी प्रश्न उठाए बिना धार्मिक विश्वासों को व्यवस्थित करने का प्रयास किया जाता है।[1]

धर्मपरायण व्यक्तियों की यह मान्यता है कि हमें पवित्र धर्मग्रन्थों से मनुष्य और ब्रह्माण्ड के संबंध में विशेष प्रकार का ज्ञान उपलब्ध होता है जिसे 'धार्मिक ज्ञान' कहते हैं। वे यह मानते हैं कि इन धर्मग्रंथों में विद्यमान धार्मिक ज्ञान हमारे जीवन का मार्गदर्शन करता है और हमारे आचरण को उत्कृष्ट बनाता है, अतः इस ज्ञान का विशेष महत्त्व है। यह कहा जाता है कि इन धर्मग्रंथों में नैतिकता तथा मानवीय आचरण की पवित्रता के नियमों के अतिरिक्त ईश्वर, विश्वरचना, इतिहास, मनोविज्ञान आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों से संबंधित ज्ञान उपलब्ध होता है जिसका मूल आधार ईश्वरीय प्रेरणा अथवा श्रुति है। ईश्वर के कृपा के फलस्वरूप ही कुछ महापुरुषों अथवा संतों को यह ज्ञान प्राप्त होता है। इसी कारण धर्मपरायण व्यक्ति धर्मग्रंथों में उपलब्ध इस ज्ञान को श्रुति पर आधारित धार्मिक ज्ञान मानते हैं।

याकुब मसीह के अनुसार, ''धर्मशास्त्र में धर्म–विशेष की मान्यताओं को स्पष्ट करने के लिए समकालीन दार्शनिक शब्दावली का इस्तेमाल जरूर किया जाता है लेकिन यह सब उस धर्म–विशेष की व्याख्या और समर्थन के लिए किया जाता है।''[2] धर्मशास्त्र धर्मविशेष की श्रुति को, धर्मग्रन्थों तथा शास्त्रों को आप्त वचन मानता है तथा धार्मिक व्यक्ति का जीवन–यापन तथा विचार इसी के इर्द–गिर्द होता है। आमतौर पर एक औसत धार्मिक व्यक्ति अपने धर्म को सर्वश्रेष्ठ समझता है तथा अपने धर्म से संबंधित धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक मानता है।

धर्मपरायण व्यक्तियों का यह दावा है कि धार्मिक कथन हमें एक वस्तुगत एवं स्वतंत्र अतीन्द्रिय ईश्वर के अस्तित्त्व, गुणों तथा कार्यों का बोध कराते हैं। इन कथनों में 'जानना', 'विश्वास करना' आदि ज्ञानवाचक शब्दों का प्रयोग करते हैं और इनके संबंध में हम सत्य या असत्य होने का प्रश्न भी उठा सकते हैं। उदाहरणार्थ धर्मपरायण व्यक्ति यह कहता है कि ''मैं जानता हूँ ईश्वर हम सब की प्रार्थना सुनता है और हमारी सहायता करता है'', ''मुझे विश्वास है कि ईश्वर मेरे कष्टों का निवारण अवश्य करेगा'', ''यह पूर्णतः सत्य है कि दयालु ईश्वर हम सबका पिता है और वह हम सबसे प्रेम करता है'' इत्यादि। इस प्रकार स्पष्ट है कि धर्मपरायण व्यक्ति धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक अथवा तथ्यबोधक ही मानता है।

अब प्रश्न है कि धार्मिक व्यक्ति के द्वारा धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक मानने का आधार क्या है? स्पष्ट है कि किसी भी प्रकार से तर्कबुद्धि द्वारा इसका स्पष्टीकरण संभव नहीं है क्योंकि जब धार्मिक कथन द्वारा यह कहा जाता है कि ''ईश्वर अत्यंत दयालु है और वह हम सबसे पिता की भाँति प्रेम करता है'' का मानवीय संदर्भ में अपने अनुभव के आधार पर सही साबित नहीं किया जा सकता। अपने अनुभव द्वारा यह जानते हैं कि शरीरवान पिता होने के कारण पिता में कुछ कार्य करने की क्षमता है, अतः पुत्र के प्रति उसके व्यवहार के आधार पर हम यह भली–भाँति जान सकते हैं, कि वह अपने पुत्र से प्रेम करता है या नहीं। परंतु ''ईश्वर हम सबसे प्रेम करता है'' इस कथन का अर्थ समझने के लिए हमारे पास कोई आधार नहीं है। इसका कारण यह है कि हम निराकार तथा अनुभवातीत ईश्वर द्वारा किसी प्रकार की भावना का अनुभव करने और उसके द्वारा कोई कार्य किये जाने की कल्पना भी नहीं

कर सकते। फिर अवश्य ही धार्मिक व्यक्ति द्वारा धार्मिक कथनों को सत्य मानने का कारण आस्था एवं उस पर उसका विश्वास है।

जब हम धार्मिक आस्था की बात करते हैं तो यह स्पष्ट है कि इस आस्था का संबंध विशेषतः मनुष्य के धार्मिक दृष्टिकोण तथा उसके धार्मिक कर्मकांड से है। ईश्वर अथवा किसी अन्य उपास्य विषय में मनुष्य जो अखंड आस्था रखता है उसे ही 'धार्मिक आस्था' की संज्ञा दी जा सकती है। इस आस्था में उपास्य के प्रति मनुष्य की श्रद्धा, पूजा तथा उसके प्रेम, आदर और पूर्ण समर्पण की भावनाएँ अनिवार्यतः सम्मिलित रहती हैं। उपास्य विषय के प्रति अपनी इस आस्था के कारण ही वह यह अनुभव करता है कि उपास्य देवता भी उससे प्रेम करता है और सदा उसकी सहायता करने के लिए तत्पर रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ईश्वर या किसी अन्य उपास्य विषय से संबंधित तथ्यों में विश्वास मात्र धार्मिक आस्था नहीं है। ऐसी आस्था के लिए अपने उपास्य विषय के प्रति मनुष्य में पूजा तथा पूर्ण समर्पण की भावना का होना भी अनिवार्य है। ईश्वरवादी यह मानते हैं कि हमें ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों में अवश्य ही पूर्ण आस्था रखनी चाहिए– अर्थात् अपनी आस्था के आधार पर हमें यह स्वीकार करना चाहिए कि ईश्वर का अस्तित्त्व है, वह इस जगत का रचयिता है, वह सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ, दयालु तथा सर्वव्यापक है, वह हम सबसे प्रेम करता है इत्यादि। यदि हम ईश्वर संबंधी इन कथनों की सत्यता में पूर्ण आस्था नहीं रखते तो निराशा एवं संकट के क्षणों में हम अपने आपको नितांत असहाय अनुभव करेंगे और हमें अपना संपूर्ण जीवन निरर्थक प्रतीत होगा। इसी कारण ईश्वर को पूर्णतः अबोधगम्य तथा अनिर्वचनीय मानते हुए भी हमारे लिए उसमें अखंड आस्था रखना अनिवार्य हो जाता है। ईश्वर के प्रति यह आस्था ही हमें अपने जीवन में आने वाले असह्य कष्टों को सहन करने तथा भीषण संकटों एवं बाधाओं के विरूद्ध संघर्ष करने की शक्ति प्रदान करती है। इस दृष्टि से यह धार्मिक आस्था हमारे जीवन के लिए अपरिहार्य है।

इस प्रकार, आस्था या फेथ ही धर्म का प्रमुख आधार है। सभी धार्मिक श्रद्धालु व्यक्ति अपने–अपने धर्म के संस्थापकों और धर्मग्रन्थों में आस्था रखते हैं। वैटिकन काउंसिल के अनुसार आस्था ''एक अतिप्राकृतिक सद्‌गुण है, जिससे प्रेरणा पाकर और ईश्वर की कृपा की सहायता से, हम यह विश्वास करते हैं कि जो बातें उसने श्रुत की हैं, वे सत्य हैं।''[3] इस तरह, ईसाई मत के अनुसार आस्था ''श्रुत सत्यों'' में विश्वास है। इन ''सत्यों'' में श्रद्धालु व्यक्तियों द्वारा विश्वास इसलिए नहीं किया जाता है, क्योंकि उन्हें अपनी तर्कबुद्धि द्वारा उसका ज्ञान हुआ है, बल्कि इसलिए क्योंकि ये ईश्वर द्वारा श्रुत या प्रकाशित की गयी है। धार्मिक कथनों को आस्था के आधार पर सत्य मानने के संदर्भ में डफ–फोर्ब्स लिखते हैं कि ''यदि धार्मिक व्यक्ति इस प्रकार के कुछ तथ्यों को अपने इस दावे के प्रतिपक्ष में स्वीकार करता है कि ईश्वर मनुष्यों से प्रेम करता है, परन्तु, क्योंकि 'ईश्वर मनुष्यों से प्रेम करता है', यह कथन केवल आस्था का विषय है, अतः यह इसके प्रतिपक्ष में केवल प्रतीत होता है (परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं करता है), और यदि धार्मिक व्यक्ति कालांतर में यह स्वीकार करता है कि कोई भी स्वीकृत तथ्य, इसके अतिरिक्त कि यह केवल प्रतीत होता है (परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं करता है) स्वीकार नहीं किया जा सकता है, तो इससे यह पूर्णतया स्पष्ट नहीं हो पाता कि, वस्तु–स्थिति एवं निरीक्षणात्मक स्थितियाँ असंगत है, क्योंकि वे कभी भी स्वीकृत अर्थ में स्वीकार नहीं की जा सकती है।''[4]

धार्मिक भाषा की सार्थकता का प्रश्न केवल दार्शनिकों के लिए ही नहीं बल्कि धार्मिक व्यक्तियों के लिए भी अत्यंत महत्त्वपूर्ण है क्योंकि किसी धार्मिक व्यक्ति के लिए धार्मिक कथन केवल उसके धार्मिक जीवन का ही नहीं बल्कि उसके नैतिक जीवन का भी अभिन्न अंग है। अल्स्टन के अनुसार, ''धार्मिक भाषा रहस्यानुभूति की अभिव्यक्ति है।'' रहस्यवादियों के अनुसार ईश्वर के बारे में सिर्फ रहस्यानुभूति या अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही जाना जा सकता है। भाषा द्वारा ''ईश्वर'' को व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

रहस्यवादियों के अनुसार ''रहस्यानुभूति में ज्ञाता और ज्ञेय के बीच कोई अंतर नहीं रह जाता है।''[5] विलियम जेम्स के अनुसार रहस्यानुभूति की एक विशेषता है ''अनिर्वचनीयता''। इसका अर्थ यह हुआ कि उसे साधारण भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता है। यह गूँगे द्वारा गुड़ के स्वाद की अनुभूति की तरह है।''[6] अतः यहाँ इतना तो स्पष्ट है कि धार्मिक व्यक्ति के लिए धार्मिक कथनों की सार्थकता अवश्य है किन्तु स्वयं वो अपने अनुभूति की भाषा में व्यक्त नहीं कर सकते। अब, इसमें तो कोई सन्देह नहीं है कि धर्मशास्त्रीय कथनों का इस्तेमाल स्वयं धार्मिक लोगों द्वारा संज्ञानात्मक रूप में ही किया जाता है। जॉन हिक ने भी इस तथ्य की ओर ध्यान दिलाया है कि परम्परागत रूप में यहूदी और ईसाई धर्मों में इन धर्मों की बुनियादी मान्यताओं को तथ्यपरक ही समझा जाता है। यही बात इस्लाम और अन्य धर्मों के बारे में भी कही जा सकती है। जब धार्मिक लोग यह कहते हैं कि ''ईश्वर सर्वशक्तिमान और दयालु है'' या ''कयामत के दिन सभी मृत व्यक्ति फिर से जीवित हो उठेंगे'' तो वे यही समझते हैं कि वे वास्तविकता का वर्णन कर रहे हैं। यह नहीं कि वे अपनी भावनाओं को व्यक्त कर रहे हैं, या किसी ''मिथ'' के बारे में बात कर रहे हैं। इसी तरह, जब हिन्दू धर्म में यह कहा जाता है कि ''राम और कृष्ण विष्णु के अवतार है'', तो उस समय यही समझा जाता है कि यह वाक्य तथ्यों का वर्णन कर रहा है। इसी तरह, यह भी नहीं किया जा सकता है कि इन वाक्यों का सिद्धान्ततः सत्यापन संभव नहीं है। (यह अलग बात है कि सत्यापन करने पर ये सभी वाक्य असत्य साबित होंगे)। परम्परागत रूप से और सामान्य तौर पर धार्मिक लोग यह दावा तो नहीं करते हैं कि वे जिन ''तथ्यों'' की बात कर रहे हैं, वे सब इन्द्रियानुभव से परे या इन्द्रियातीत हैं। उदाहरण के तौर पर, हम बौद्ध धर्म की इस मान्यता को लें कि ''संसार में जीवन दुःख से भरा हुआ है।'' क्या इसका सत्यापन संभव नहीं है। यहाँ तार्किक दृष्टि से सही दृष्टिकोण यह होगा कि ऐसे धार्मिक कथन, जिनके बारे में यह दावा किया जाता है कि उनका सम्बन्ध ''इन्द्रियातीत वस्तुओं'' से है, असंज्ञानात्मक है। यह नहीं कि सभी धर्मशास्त्रीय कथन असंज्ञानात्मक होते हैं।

वस्तुतः धर्मपरायण व्यक्ति का विचार है कि ईश्वर, आत्मा आदि अतीन्द्रिय सत्ताओं तथा दैवी शक्तियों से संबंधित होने के कारण धार्मिक ज्ञान हमारे सामान्य अनुभवाश्रित ज्ञान से भिन्न होता है। अनुभवाश्रित ज्ञान के विपरीत धार्मिक ज्ञान को अनिवार्य, सर्वदा सत्य तथा अपरिवर्तनीय माना जाता है। धर्मपरायण व्यक्ति किसी भी तथ्य अथवा तर्क को धार्मिक ज्ञान के विरूद्ध प्रमाण के रूप में स्वीकार नहीं करते। इसका कारण यह है कि वे इस ज्ञान को तथ्यों अथवा प्रमाणों पर आधारित न मानकर केवल आस्था पर ही आधारित मानते हैं। धर्मपरायण व्यक्तियों के लिए धार्मिक ज्ञान का अंतिम स्रोत अथवा आधार धर्मग्रंथों तथा धर्मगुरुओं में अखंड आस्था ही है। इस आस्थामूलक ज्ञान में तथ्यों की स्वतंत्र रूप से परीक्षा करने तथा प्रमाणों द्वारा उनकी पुष्टि के प्रयास का कोई स्थान नहीं है।

संभवतः यही कारण है कि ऐक्विनास ने धार्मिक ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान से पृथक् माना है उसे 'अस्पष्ट ज्ञान' की संज्ञा दी है। वे कहते हैं कि ईश्वर के अस्तित्त्व और स्वरूप से संबंधित हमारा ज्ञान बहुत अस्पष्ट हे।[7] अपने इस मत को उन्होंने एक उदाहरण से स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि हमारे लिए ईश्वर के अस्तित्त्व का ज्ञान उसी प्रकार अस्पष्ट है जिस प्रकार हमारा यह ज्ञान कि कोई व्यक्ति हमारी ओर आ रहा है किन्तु हमें नहीं मालूम कि वह कौन है। हमारा यह ज्ञान बहुत अस्पष्ट है, हम यह नहीं जानते कि हमारी ओर आने वाले व्यक्ति का नाम क्या है और हमारे पास किसलिए आ रहा है। ईश्वर की सत्ता के विषय में भी हमारा ज्ञान ऐसा ही अस्पष्ट और अनिश्चित ज्ञान है, क्योंकि हम उसके स्वरूप के संबंध में स्पष्ट तथा निश्चित रूप से कुछ नहीं जानते। समकालीन दार्शनिक हिक भी ईश्वर संबंधी धार्मिक ज्ञान के संबंध में ऐक्विनास के मत का समर्थन करते हैं तथा कहते हैं कि ईश्वर मानवीय अनुभव से परे है, अतः कोई भी मनुष्य उसे निश्चित रूप से जानने का दावा नहीं कर सकता।

स्वयं ईश्वर ही अपने असीमित एवं शाश्वत स्वरूप को जानता है और हमें उसका ज्ञान अप्रत्यक्ष रूप से कुछ महान संतों अथवा धर्मगुरुओं के आप्तवचनों के माध्यम से ही प्राप्त होता है।[8] हिक के अतिरिक्त एच0डी0 लेविस भी श्रुति को धार्मिक ज्ञान के स्रोत के रूप में बहुत महत्त्व देते हैं। उनका कथन है कि ''श्रुति के माध्यम से ईश्वर हमें बताता है कि उसका स्वरूप क्या है और वह हमसे क्या आशा करता है। ईश्वर हमें उन अनुभवों द्वारा अपने विषय में संकेत देता है जिनसे हम परिचित हैं और जिनके माध्यम से हम उसे समझ सकते हैं।.....इस प्रकार ईश्वर संसार अथवा मनुष्यों के जीवन के माध्यम से हमें अपने विषय में ज्ञान प्रदान करता है।[9]

वास्तविकता तो यह है कि धार्मिक लोग अपने धर्म की बुनियादी मान्यताओं को सत्य मानते हैं, और उनका व्यवहार इसी विश्वास के इर्द–गिर्द केन्द्रित रहता है। उदाहरण के तौर पर, अगर कोई व्यक्ति ईश्वर के अस्तित्त्व और उसके दयालु होने में विश्वास न रखता हो, तो फिर उसके लिए इस वाक्य का भी क्या अर्थ होगा कि 'हे परमेश्वर! मुझे क्षमा करना!' इसी तरह, जो व्यक्ति जीवन–मरण के चक्र और मुक्ति की सत्यता में विश्वास न रखता हो, उसके लिए ''मुक्ति'' या ''निर्वाण'' के लिए प्रयत्न करने का क्या मतलब रह जाएगा?'' उल्लेखनीय है कि केवल अनुभववादी दार्शनिक ही नहीं, अपितु ईश्वरवादी दार्शनिक भी यह स्वीकार करते हैं कि ईश्वर संबंधी धार्मिक कथनों की सार्थकता की उपर्युक्त समस्या बहुत जटिल है।

सारांशतः यह कहा जा सकता है कि एक औसत धार्मिक व्यक्ति के अनुसार धर्म की बुनियादी मान्यताएँ वास्तविक होती है तथा वह अपने सुख–दुःख तथा जीवन के उतार–चढ़ाव इसी मान्यताओं के सहारे काटता है। यदि वह धार्मिक कथनों को सत्य तथा तथ्यपरक नहीं मानेगा तो उसकी स्वयं की जिंदगी ही प्रश्न बन कर रह जाएगी, क्योंकि ये धार्मिक कथन तथा धार्मिक विश्वास ही उसके जीवन के प्रेरणास्रोत के रूप में कार्य करते हैं। धार्मिक व्यक्ति के अनुसार यही आंतरिक तथा अतीन्द्रिय शक्ति ही उसे जीवन की सभी चुनौतियों तथा कठिनाइयों से लड़ने के लिए हिम्मत तथा साहस प्रदान करती है। इस प्रकार धार्मिक व्यक्ति के अनुसार धार्मिक कथन भावनाओं की अभिव्यक्ति नहीं है बल्कि वास्तविक है तथा उसे किसी तार्किक आधार की आवश्यकता नहीं।

संदर्भ :

1. विलियम पी0 अल्सटन, ''प्रोब्लम ऑफ फिलॉसफी ऑफ रिलीजन'', इन द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलॉसफी वॉ0 6, पृ0 287.
2. या0 मसीह, सामान्य धर्मदर्शन, पृ0 65
3. जॉन हिक, फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ0 52.
4. डफ–फोर्ब्स, ''थियोलॉजी एण्ड फॉलसीफिकेशन अगेन'', द ऑस्ट्रेलियन जरनल वॉ0 39, पृ0 149–150.
5. विलियम पी0 अल्टसन, ''रिलीजियस लैंग्वेज'', इन द इनसाइक्लोपीडिया ऑफ फिलासफी, वॉ0 7, पृ 168–69.
6. या मसीह, सामान्य धर्मदर्शन, पृ0 64.
7. थॉमस ऐक्विनास, 'सुम्मा थियोलॉजिका', खंड–1, प्र0 2, उ0 1.
8. जॉन हिक का लेख, 'थियोलॉजी एंड वेरिफिकेशन', 'द फिलॉसफी ऑफ रिलीजन', संपादक, बेसिल मिचल, पृ0 68–69.
9. एच0डी0 लेविस, 'फिलॉसफी ऑफ रिलीजन', पृ0 227

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

मध्यकालीन युग में नारी शिक्षा के विषय

श्रीमती अंजना सिंह
(नेट इन बीएड)
म0नं0 30/40 बी 19ए,
तुलसी विहार कॉलोनी,
शिवपुर, वाराणसी

स्त्री और शिक्षा को अनिवार्य रूप से जोड़ने वाली अवधारणा है। इसका एक रूप शिक्षा में स्त्रों को पुरुषों की ही तरह शामिल करने से संबंधित है। दूसरे रूप में यह स्त्रियों के लिए बनाई गई विशेष पद्धति को संदर्भित करता है। भारत में मध्य और पुनर्जागरण काल के दौरान स्त्रियों को पुरुषों से अलग तरह की शिक्षा देने की धारणा विकसित हुई थी। वर्तमान दौर में यह बात सर्वमान्य है कि स्त्री को भी उतना शिक्षित होना चाहिये जितना कि पुरुष हो। यह सिद्ध सत्य है कि यदि माता शिक्षित न होगी तो देश की सन्तानों का कदापि कल्याण नहीं हो सकता।

व्यावहारिक शिक्षा :

इस शिक्षा के अन्तर्गत गृहविज्ञान की शिक्षा का विशेष महत्व था और प्रत्येक स्त्री से गृहकार्य के सम्पूर्ण ज्ञान की अपेक्षा की जाती थी। पुष्पों की मालाएँ बनाना, प्रसाधन तैयार करना, केश रचना तथा सज्जा आदि का कार्य धनिक परिवार में दासियाँ किया करती थीं, लेकिनपरिवार के बड़ों के लिये किये जाने वाले कार्य स्वयं परिवार की स्त्रियाँ करती थीं। पुष्प चयन करती हुई एक स्त्री की बड़ी आकर्षक मूर्ति भुवनेश्वर मन्दिर में उत्कीर्ण है।

पति के लिए प्रसाधन की व्यवस्था करना पत्नी का कर्तव्य होता था। पुत्री अपने पति गृह में ही ये समस्त शिक्षाएँ ग्रहण कर लेती थीं, जिससे पतिगृह में जाकर वे श्रेष्ठ पत्नी सिद्ध हो सके। नारायणपुर के भागलपुर पत्र से ज्ञात होता है कि हैहयवंशी विग्रहपाल की पत्नी लज्जा जब अपने पिता जहनु के परिवार में थी तब उसके कृत्य अत्यन्त पवित्र थे तथा पतिगृह में भी उसकी चारित्रिक शक्ति अत्यन्त श्रेष्ठ थी तथा वह हैहयवंश की अलंकार सिद्ध हुई। वात्स्यायन ने कन्याओं की चौंसठ अंग विद्याओं की शिक्षा का ब्यौरा देते हुए कुशल गृहिणी की विशेषता बतायी हैं। पत्नी को वार्षिक आर्थिक ब्यौरा (चिट्ठा) की शिक्षा लेनी आवश्यक होती थी।[1] बालिकाओं की यह शिक्षा निश्चित रूप से अल्पायु में ही दी जाती थी। गृहविज्ञान के अन्तर्गत सिलाई–कढ़ाई की शिक्षा भी दी जाती थी। हर्षचरित में पुत्र तथा कढ़े हुए वस्त्रों का विवरण है, जो निश्चित रूप से स्त्रियों द्वारा ही बनाये जाते थे।[2] सिलाई के अतिरिक्त पाकशास्त्र की शिक्षा दी जाती थी। पाककार्य में लड्डू बनाती हुई स्त्री की आकर्षक मूर्ति खजुराहो पार्श्वनाथ मन्दिर के गर्भगृह के भीतरी दाहिनी दीवाल पर उत्कीर्ण है। गृहस्वच्छता की ओर भी स्त्रियों का पर्याप्त ध्यान रहता था, क्योंकि दीवाल साफ करती हुई एक स्त्री की मूर्ति लक्ष्मण मूर्ति के बायीं बाह्य दीवाल पर बनी है तथा बड़ी आकर्षक है। इस स्त्री के साथ इसमें सेवक भी खड़ा है। ललित कला की शिक्षा में भी स्त्रियाँ बहुत आगे थीं। इस वक्त में नृत्य, संगीत, वाद्य, काव्य, चित्रकला तथा माल्यग्रन्थन का विशेष स्थान था। उच्चकुलों में इस शिक्षा पर अधिक ध्यान दिया जाता था।

वात्स्यायन ने संगीत नृत्य एवं चित्रकलाओं का ज्ञान नारी के लिए वांछनीय माना है। राजकुलों के राजकुमारियों को नृत्य–संगीत, वाद्य आदि की शिक्षा के लिए अपने से अलग भी रखना पड़ता है।[3] राजकुमारियों के विवाह की योग्यता की परख उनके नृत्य की परीक्षा द्वारा भी होती थी।[4] पुराणों में भी स्त्रियों की शिक्षा में नृत्य एवं संगीत का विशेष स्थान है। मत्स्यपुराण में विशेक द्वादशी नामक व्रत का वर्णन है, जिसके अवसर पर नारियों को नृत्य संगीत करना पड़ता था।[5] त्रिपुर की स्त्रियाँ हावभाव द्वारा वहाँ के निवासियों को आह्लादित करती थीं।[6] नाट्य शिक्षा में स्त्रियाँ प्रवीणता प्राप्त करती थीं तथा उनकी परीक्षा होती थी। मालविका के नाट्य शिक्षा की परीक्षा की मध्यस्थता सम्राट अग्निमित्र के आग्रह से विदर्भ के राजा माधवसेन के मंत्री सुमति की बहन ने की थी और अग्निमित्र के यहाँ परिव्राजिका के वेश में छिपकर रहती थी।[7] हर्ष की बहन राजश्री सभी कलाओं में निपुण थी। दक्षिण भरत में तो राजघरानों में नृत्य–संगीत कला स्त्रियों के जीवन का अभिन्न अंग प्रतीत होता है क्योंकि दक्षिण भारतीय अभिलेख रानी की कलाओं की निपुणता की प्रशंसा में भरे पड़े हैं। अभिलेख में रानियों एवं कुलीन स्त्रियों के गुणों का अलंकारिक वर्णन पूर्णतः सत्य तो नहीं हो सकता, किन्तु पर्याप्त प्रमाणों से सिद्ध होता है कि ललित कलाओं की शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध था। निम्न परिवारों की कन्याओं को भी ललित कलाओं की शिक्षा प्रधान रूप से दी जाती थी। गीत, वाद्य आदि से राज परिवार का मनोरंजन करने, सुलाने–जगाने के लिए नियुक्त दासियों एवं गणिकाओं के लिए इन कलाओं की शिक्षा अनिवार्य थी। उच्च वर्ग की महिलाओं के अतिरिक्त गणिकाएँ भी संगीत–नृत्य का अभ्यास कर नगरों का जीवन सरस बनाती थीं। चित्रकला में स्त्रियों की बहुत अभिरुचि थी। विष्णुपुराण में बाणासुर के मंत्री कुष्माण्ड की कन्या का वर्णन है, जिसकी सखी चित्रलेखा एक उच्चकोटि की चित्रकार थी और उसने अभिज्ञानार्थ चित्रपट पर देव, दानव, गंधर्व और मनुष्यों के चित्र बनाये थे।8 चित्रकला सम्बन्धी पटुता का परिचय पुरातत्व में भी प्राप्त होता है। खजुराहो में विश्वनाथ मन्दिर के बायें बाहरी भाग में एक स्त्री को चित्र तख्ती तथा कूची पकड़े हुए दिखाया है। हर्षचरित में भी स्त्रियों द्वारा मंगल घट पर की गई चित्रकारी का वर्णन है।

व्यावसायिक शिक्षा :

कुलीन परिवारों की स्त्रियों पर धनार्जन का उत्तरदायित्व तो नहीं था, लेकिन निम्न श्रेणी के परिवारों में कन्याओं पर यह दायित्व था, इसीलिए स्त्रियाँ पिता या पति के सहायतार्थ जीविकायापन किया करती थीं। राजपरिवारों एवं कुलीन घरानों की दासियों, धात्रियों, गणिकाओं, वेश्याओं, देवदासियों जैसी स्त्रियों के साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक निर्देशों के व्यवसायों की कल्पना सहज ही की जा सकती है और इन व्यवसायों के लिए उन्हें शिक्षा भी अनिवार्य रूप से ग्रहण करनी पड़ती होगी, क्योंकि दासियों को सभी प्रकार की राजनीति एवं व्यावहारिक नीतियों का ज्ञान होता था।[9] चिकित्सा विज्ञान की शिक्षा भी स्त्रियाँ ग्रहण करती थीं। रूसा नामक एक स्त्री चिकित्सक ने प्रसवविज्ञान पर प्रामाणिक एवं पाण्डित्यपूर्ण ग्रंथ लिखा था और खलीफ हारू (आठवीं शती) ने अरबी भाषा में अनुवाद करवाया था। स्त्री चिकित्सक अथवा धात्री (दायी) द्वारा एक स्त्री का प्रसूति दृश्य तमिलनाडु के मदुरै के मीनाखी मन्दिर के मण्डप में अंकित है। यह एक दुर्लभ पुरातात्त्विक प्रमाण है। प्रसूतिविज्ञान में पारंगत स्त्रियाँ बड़े वैज्ञानिक ढंग से प्रसूति कराती थीं, इसकी पुष्टि भुवनेश्वर के एक द्वार पर उकेरी एक स्त्री है, जिसे प्रसूति कुर्सी पर बैठे हुए दर्शाया गया है। अनुमानतः व्यावसायिक दृष्टिकोण लेकर स्त्रियाँ चिकित्सक का कार्य भी करती थीं। गणित जैसे शुष्क एवं गूढ़ विषय के ज्ञान में भी स्त्रियाँ पीछे नहीं थीं और बड़ी लगन से कुछ स्त्रियों ने गणित की शिक्षा ग्रहण की थी।

स्त्रियों में उपाध्याय तथा आचार्य भी होती थीं, जिन्हें शास्त्र रहस्य वेदों के अध्यापकों एवं माणवकों को उपनयन देने का अधिकार था। यह बात असंदिग्ध है। पाणिनि और पतंजलि के समय

स्त्रियाँ वैदिक चरणों में अध्ययन ही नहीं अध्यापन भी करती थीं।[10] हर्ष के पश्चात् सातवीं आठवीं शती में भी स्त्रियों के अध्यापन कार्य की जानकारी मिलती है। शंकराचार्य और मण्डनमिश्र का शास्त्रार्थ होने तथा परिणामस्वरूप संन्यास ले लेने पर उनकी पत्नी उभय भारती श्रृंगगिरि में अध्यापन का कार्य करने लगी थीं।

आध्यात्मिक एवं धार्मिक शिक्षा :

स्त्रियाँ प्रायः धर्मपरायण होती हैं अतः उनके लिए धार्मिक शिक्षा अनिवार्य थी। ईश्वर का पूजन सामान्य बात थी। हर्षचरित[11] में कन्याओं द्वारा बिना जोत के पके निवारों की बलि से ईश्वर पूजा का वर्णन मिलता है। वांछित फल की प्राप्ति के लिए कन्यायें कठिन धार्मिक नियमों का पालन तथा व्रत करती थीं।[12] अध्यात्म के प्रति भी इनका रूझान था। पुराणों में अध्यात्म में रुचि रखने वाली कन्याओं के विवरणों की बहुलता है। बृहस्पति की भगिनि को ब्रह्माण्ड पुराण में ब्रह्मवादिनी कहा है, इसने योग में सिद्धि प्राप्त कर, आसक्ति रहित हो समस्त पृथ्वी का पर्यटन किया था।[13] दक्ष कन्यायें भी ब्रह्मवादिनी शब्द से समिहित हैं।[14] अपर्णा एक पर्णा तथा एक पाटला इन तीन ब्रह्मवादिनी एवं ब्रह्मचारिणी कन्याओं के सम्बन्ध में वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराण मं निरूपित है कि जब तक पृथ्वी रहेगी, उनकी तपस्या का प्रसंग भी प्रतिष्ठित रहेगा। विष्णुपुराण की मेना और धारिणी भी ब्रह्मवादिनी, योगिनी एवं श्रेष्ठ जनों से परिपूर्ण थी।[15] संनति और शतरूपा अन्य ब्रह्मवादिनी थी। ब्रह्मवादिनियों का केवल ब्रह्मचारिणी ही रहने का विधान नहीं था। वे विवाह भी करती थीं। धर्मव्रता नामक कन्या ने अपने पिता के आदेश के अनुसार वर प्राप्त करने के लिए दुष्कर तपस्या की थी।[16] बाल्यकाल के अन्यर्वती अवधि में ब्रह्मचर्य व्रत अर्थात् ब्रह्मविद्या के विकास का अनुपालन कर वे अपने जीवन की पूर्व पीठिका को सुयोग्य बनाती थीं।[17] घर में रहकर वेदाध्ययन भी करती थीं।

राजनीतिक शिक्षा :

राज्य शासन में परामर्श एवं सहयोग के लिए नीतिशास्त्र का अनुशीलन आवश्यक होता है, इसीलिए राजनीतिक शिक्षा राजकुमारियों एवं सामंत कुमारियों की शिक्षा का प्रमुख अंग थी।[18] और उसमें वे रुचि भी लेती थीं। प्राचीनकाल से ही रानियाँ राजनीति में अपने पतियों को सक्रिय सहयोग देते आ रही थीं, विवेच्ययुग में भी अनेक विधवा रानियों ने शासन कार्यभार स्वयं संभाला था। काश्मीर के शासक क्षेमगुप्त (950 ई0 से 958 ई0 शती) की पत्नी दिद्दा ने अपने पति को शासन चलाने में मदद की थी और अपने सिक्कों में अपने नाम के पूर्व अपनी पत्नी के नाम का पहला वर्ण उत्कीर्ण करवाया था। उसके सिक्के में दि–क्षेम उत्कीर्ण है, इसमें दि वर्ण दिद्दा के लिए है। सिर्फ क्षेम उत्कीर्ण सिक्के बहुत कम मात्रा में मिले हैं।[19] पति की मृत्यु के बाद जब सारा शासन भार दिद्दा के कन्धों पर आ गया तो उसने बड़े साहस से संचालन किया यद्यपि कश्मीर के जमींदार तथा ब्राह्मण दोनों ही उसके विरूद्ध थे, किन्तु उसने सबको कुचल डाला था। सुगन्धा एवं दिद्दा के सिक्के इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने कश्मीर का शासन प्रबंध अभिभावकों रूप में किया था।[20] राजपूताना के सांभर के चौहान मुखिया की पत्नी सोमलादेवी के सिक्के प्राप्त हुए हैं।[21] लेकिन दुर्भाग्यवश सोमलादेवी के सम्बन्ध में पूर्ण तथ्य प्राप्त नहीं हो पाते हैं। इसने संभवतः दिद्दा के एक शताब्दी पश्चात् शासन किया था। प्रो0 रैप्सन ने अप्रकाशित नोट में लिखा था कि सोमलादेवी ने पति की मृत्यु के पश्चात् अभिभावक के रूप में शासन किया था एवं सिक्के ढलवाये थे। दक्षिण भारत का सूडि का अभिलेख जिसकी तिथि 1048 ई0 शती है, में कल्याण के चालुक्य शासक विक्रमादित्य षष्ठ की रानी लक्ष्मीदेवी का उल्लेख है, जिसने सम्राट के समान ही कल्याणी में शासन किया था।

शस्त्र शिक्षा :

शास्त्र के साथ शस्त्र की शिक्षा राजकुमारियों को अनिवार्य रूप से दी जाती थी। युद्ध विषयक ज्ञान गरिमा के प्रमाणों से साहित्य तथा प्रशस्तियाँ भरे पड़े हैं। श्रीकृष्ण ने स्वजन सुरक्षार्थ द्वारका में जो दुर्ग बनवाया था, उसमें पुरुष सैनिकों के अतिरिक्त स्त्री योद्धा भी नियुक्त थीं।[22] युद्ध क्षेत्र में रानियाँ पति के साथ जाया करती थीं, विजयमल्ल की रानी पति के साथ युद्ध क्षेत्र में गई थी।[23] कल्याणी के चालुक्य वंश की रानी अक्का देवी युद्ध में भाग लेती थी, साथ ही युद्ध का संचालन भी करती थी। राजकुमारियों के अतिरिक्त अन्य स्त्रियाँ भी शस्त्र शिक्षा ग्रहण करती थीं। मौर्यकाल से ही सुसज्जित अंगरक्षक स्त्रियों के विवरण मिलते हैं।[24] पूर्वमध्यकालीन अभिलेख तथा मूर्तिकला भी स्त्रियों की युद्ध कला की शिक्षा सम्बन्धी जानकारी देते हैं। मिहिरभोज अभिलेख तथा मूर्तिकाल भी स्त्रियों की युद्ध कला की शिक्षा सम्बन्धी जानकारी देते हैं। मिहिरभोज भी ग्वालियर प्रशस्ति में स्त्रियों के सैन्य समुदाय का वर्णन है, जो सैनिक व्यवसाय में प्रसिद्ध था। शास्त्रार्थ की शिक्षा ग्रहण कर स्त्रियाँ आत्मनिर्भर हो जाती थीं और पुरुषों पर पूर्ण रूप से निर्भर नहीं रहती थीं। आत्मनिर्भरता की द्योतक खजुराहो की मूर्ति कला में उत्कीर्ण एक स्त्री माला, फरसा तथा धनुष बाण लिए है। एक अन्य स्त्री छुरा लिये हुए प्रहार करने की मुद्रा में खड़ी है। अपनी सुरक्षा के लिए स्त्रियाँ पुरुषों से युद्ध करती थीं। कोणार्क मंदिर में हाथी पर सवार एक स्त्री पुरुष से युद्ध कर रही है। इसी के साथ अन्य दृश्य में अश्व पर सवार स्त्री हाथ में लगाम पकड़े है। खजुराहो के लक्ष्मण मन्दिर के दाहिने बाह्य भाग में युद्ध तथा शिकार में पुरुषों का साथ देने वाली स्त्रियों का आलेखन बड़ी सजीवता से किया गया है। भुवनेश्वर के मंदिर में विचित्र जानवर शार्दूल पर सवार स्त्रियाँ तलवार ढाल लिए युद्ध मुद्रा में दर्शायी गयी हैं। एक अन्य मंदिर मं एक विचित्र पशु जिसका सामने का भाग हाथी के जैसा, मध्य भाग अश्व जेसा तथा पिछला भाग सिंह जेसा है, उस पर सवार स्त्री तलवार लिये पुरुष से युद्ध कर रही है और इस प्रकार की आकृतियाँ गर्भगृह के चारों ओर बाह्य दीवाल पर उत्कीर्ण है। ये सभी दृश्य स्त्रियों को दी जाने वाली युद्ध शस्त्र सम्बन्धी शिक्षा पर प्रकाश डालते हैं।

नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं में शिक्षा :

हर्षचरित में हम देख रहे हैं कि राजकुमारी राज्यश्री नृत्य, गीत आदि कलाओं में निपुण हो गयी थी और राज्यश्री प्रतिदिन अपनी सखियों के बीच समस्त कलाओं में अपनी प्रतिभा को पढ़ाती थी।[25] प्रियदर्शिका नाटिका में राजा उदयन प्रियदर्शिका को रानी वासवदत्ता के पास अन्तःपुर में भेज दिया और प्रतिहारी यशोधरा से कहा– ''रानी वासवदत्ता को यह कहना है कि उस कन्या को गीत, नृत्य, वाद्य आदि में विशिष्ट कन्या के समान पूरी शिक्षा दें।''[26]

अतः हम देख रहे हैं कि स्त्रियों को नृत्य, गीत आदि ललित कलाओं में विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। प्रियदर्शिका में वीणा बजाने के संदर्भ में हम देखते हैं कि केचुकी प्रियदर्शिका से कह रही है– ''राजपुत्रि महाराज उदयन ने यह कहलवाया है कि तुम्हें वीणा बजाते अवश्य सुनेंगे अतः तुम घोषवती वीणा को नये तारों से सुसज्जित कर लेना। यह सुनकर आरण्यका (प्रियदर्शिका) ने कहा, यदि ऐसा है तो वीणाचार्य को शीघ्र भेजो। इससे यह स्पष्ट है कि अन्तःपुर की स्त्रियों को शिक्षा देने के लिए आचार्य नियुक्त हैं।[27]

नागानन्द में मलयवती वीणा के साथ मंदिर में गा रही है। वह भगवती की स्तुति कर रही है।[28] जिसमें वीणावादन के लिए आवश्यक समस्त योग्यता दृष्टिगत हो रही है। वीणा के साथ गाते हुए इस गीत को भौरों की गुंजार के साथ तुलना की गयी है।[29] इससे यह स्पष्ट होता है कि संगीतशास्त्र में स्त्रियाँ प्राचीन एवं पूर्वमध्यकाल दोनों में कुशल थीं।

राज्यश्री नृत्य में निपुणता प्राप्त की थी, जैसा कि हर्षचरित में बताया गया है। रत्नावली में हम देखते हैं कि राजप्रसाद की दो चेरियाँ मदनिका एवं च्यूतलिका वसन्तोत्सव पर नाच रही हैं।[30]

पूर्वमध्यकाल में कन्याओं के बाल्यकाल में विवाह की प्रथा के चरम विकास तथा नारी के ऊपर अधिकाधिक सामाजिक नियन्त्रण से नारी शिक्षा अतीत का विषय मात्र बन चुकी थी। मनु और याज्ञवल्क्य के समय से ही उन्हें उपनयन के अधिकार से वंचित किया जा चुका था। इन स्मृतियों के भाष्यकारों ने उपनयन स्त्रियों के लिए निषिद्ध बताया।[31] इसके साथ ही उन्हें शूद्रों की भाँति वेदोच्चारण और यज्ञादि कर्मों के लिए अयोग्य घोषित किया।[32] देवन्नभट्ट ने मनु का कथन उद्धृत किया है कि ''पुराकल्प में कन्याओं के लिए यज्ञोपवीत धारण करने तथा वेदाध्ययन और सावित्री का अधिकार था। देवन्नभट्ट द्वारा उद्धृत तथाकथित मनु के कथन में यह भी कहा गया है कि, पिता, पिता का भाई अथवा भाई कन्या को पढ़ावे, परन्तु कोई आगन्तुक कभी न पढ़ाये। इसी प्रकार का कथन संस्कारप्रकाश में यम के नाम से उद्धृत किया गया है। निर्णयसिन्धु मं शातातप उद्धृत है कि स्त्रियों का पति ही गुरु है। हरीत ने कन्याओं के दो प्रकारों का उल्लेख किया है, ब्रह्मवादिनी जो अध्ययनरत हो और सद्योवधू जो विवाह के लिए प्रस्तुत हो। उसने ब्रह्मवादिनी के लिए उपनयन, वेदाध्ययन तथा घर में भिक्षाटन का विधान तथा सद्योवधू के लिए विवाह के ठीक पूर्व उपनयन निर्दिष्ट किया है, परन्तु देवन्नभट्ट ने इसे दूसरे कल्प का विधान बताया है। नीतिवाक्यामृत में सोमदेव का कथन है कि स्त्रियों को उसी प्रकार विनष्ट कर देता है, जिस प्रकार तलवार पर पड़ी जल की बूँदें भी उस पर जंग लगाकर उसे नष्ट कर देती है। नारद के इस कथन पर कि स्वतंत्रता से नारियाँ विनष्ट हो जाती हैं। असहाय ने टीका की कि वे नहीं जानतीं कि उन लोगों के लिए क्या वैधानिक है, जो धर्मशास्त्रों के विधानों के अनुकूल रहते हैं और चूँकि उन्हें इसकी शिक्षा नहीं दी जा सकती, इसलिए वे अपने कर्तव्यों की अवहेलना कर सकती हैं।

मेधातिथि ने संस्कृत भाषा के प्रति नारियों की अनभिज्ञता का उल्लेख किया है। यद्यपि सामान्यतः नारी के शैक्षणिक अधिकार समाप्त हो चुके थे, फिर भी साहित्यिक ग्रंथों से विदित होता है कि राजपरिवारों और उच्च वर्ग में नारियों को शिक्षा दी जाती थी। नलचम्पू में दमयन्ती की शिक्षा के अन्तर्गत–वीणावादन, द्यूतविधान, काव्य और उसकी आलोचना, नृत्य, चित्रकला, वाद्यकला, शैल्यचिकित्सा, गीत और कामकथा का उल्लेख है। मालतीमाधवम् में एक उदाहरण सह शिक्षा का भी है और पंचशिका में कवि द्वारा राजकुमारी को साहित्यविद्या, अलंकार, नवरत, ज्योतिष, काव्य, नाटक, कामशास्त्र, छन्दशास्त्र तथा प्राकृत और संस्कृत भाषा के शास्त्रों की शिक्षा दिये जाने का उल्लेख है। यद्यपि राजकुमारी को शिक्षा प्रदान करते समय उसके और कवि के मध्य पर्दे की व्यवस्था की जाती थी। नलचम्पू में उल्लिखित है कि दमयन्ती गुरुओं और साधुओं की संगति में विद्या प्राप्त करती थीं। इसके साथ ही अन्तःपुरों में शिक्षा देने के लिए ब्राह्मणी या अध्यापिकाएँ भी हुआ करती थीं।

संदर्भ :

1. कामसूत्र 1.31.16
2. हर्षचरित, 4 उच्छ्वास, पृ0 233
3. प्रियदर्शिका, 1.11
4. कथासरित्सागर, 95.92
5. मत्स्यपुराण, 82.29
6. मत्स्यपुराण, 131.9
7. हर्षचरित, 4 उच्छ्वास, पृ0 233
8. विष्णुपुराण, 5.32.22
9. नवसाहसांकचरित, 4.59

10. वासुदेवशरण अग्रवाल : पाणिनिकालीन भारत, पृ0 281
11. हर्षचरित, 2 उच्छ्वास, पृ0 72
12. नागानन्द, 1.16
13. ब्रह्माण्ड पुराण, 3.2.28
14. वायुपुराण, 72.13.15, ब्राह्मणपुराण, 3.10.15–16
15. विष्णुपुराण, 3.10.19
16. वायुपुराण, 107.5–6
17. अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शिक्षण पद्धति, पृ0 11
18. नवसाहसांकचरित, 4.59, पृ0 63
19. कनिंघम : क्वाइंस ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ0 45
20. वी0 स्मिथ : कैटलॉग ऑफ द क्वाइन्स इन इण्डिया म्यूजियम, कलकत्ता, भाग 1/3, पृ0 270
21. कनिंघम : क्वाइन्स ऑफ मेडिवल इण्डिया, पृ0 49, प्लेट 6–10
22. विष्णुपुराण, 5.23.11
23. राजतरंगिणी, 7.905–909
24. हेमचन्द्र राय चौधरी : पोलिटिकल हिस्ट्री ऑफ एंशेन्ट इण्डिया, पृ0 276
25. हर्षचरित, पृ0 269
26. प्रियदर्शिका 1, पृ0 23
27. प्रियदर्शिका 3, पृ0 77
28. नागानन्द 1, पृ0 33
29. नागानन्द 1, पृ0 29–31
30. रत्नावली 1, पृ0 21
31. मेधातिथि, कुल्लूक, 2.67, मिताक्षरा 1.45
32. अल्तेकर : प्राचीन भारतीय शासन पद्धति, पृ0 161

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

समाज में छूटा–छेड़ा (तलाक) एक गंभीर समस्या

सुभद्रा पाण्डेय
शोध छात्रा,
हिन्दी विभाग,
कूबा स्नातकोत्तर महाविद्यालय
दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

आधुनिक युग व्यक्ति स्वतंबता का युग है। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. झाल्टे क अनुसार – "दास्य और गुलामी की जंजीरे तोड़कर मानव एक नयी स्वतंत्र जीवन चेतना लेकर प्रगति के अनछुए शिखरों को छू रहा है। आधुनिक युग में हर व्यक्ति को अपनी क्षमतानुसार जीवन के हर क्षेत्र में समान मौका मिल रहा है।" आधुनिक युग में स्त्री पुरूष से एक भी कदम पीछे नहीं रहना चाहती। फिर भी नारी कही न कही सामाजिक बंधनों की बेड़ियों में जकड़ी जाती है। मिश्र जी ने तलाक की समस्या को समाज के सामने उपन्यासों के माध्यम से चित्रित करने का प्रयास किया है।

यह बड़ा जटिल प्रश्न है कि तलाक को सामाजिक समस्या के समाधान या विवाह की समस्या को विवाह का भूषण कहा जाये या दूषण प्राचीन समय में कुछ बिरादरियों में लड़के–लड़की की इच्छा अनिच्छा को समझे बिना रिश्ता जोड़ दिया जाता था। ऐसे में ब्राहम्ण, क्षत्रिय, वैश्य जैसे उच्चवर्ण मे ंतो तलाक का प्रचलन ही नहीं था। ऐसी परिस्थिति में विवाह के बाद पति–पत्नी में मानसिक संतुलन नहीं हुआ तो उन दोनो का जीवन दुरवद हो जाता था। समकाल में भी हमारे देश के राजपूत घराने में तलाक शब्द नहीं है। कुछ बिरादरियाँ स्त्री–पुरूष की समस्या को समझे बिना विवाह के कुछ ही समय में तलाक ले लेते है। परिणामस्वरूप निर्दोष नारी की स्थिति शोकक्रान्त हो जाती है। मिश्र जी ने 'उतरती धूप' उपन्यास में ऐसे समाज का चित्रण किया है जहाँ तलाक का प्रचलन नहीं था। लेखक के अनुसार पति–पत्नी विवाह के रिश्ते का अंत कर एक–दूसरे से पृथक हो जाते हैं, उन्हें ही केवल तलाक नहीं कहा जा सकता, बल्कि साथ में रहते हुए भी पति–पत्नी के बीच मानसिक संवेदनाएँ असंतुलित होने पर इस समस्या का निर्माण होता है। पति–पत्नी के मानसिक संघर्ष तलाक को जन्म देता है। प्रस्तुत उपन्यास की नायिका अपने वैवाहिक जीवन के बारे में बताती है तो अरविंद असहमत विवाहित जीवन को तलाक देने के लिए कहता है तो वह बताती है कि "तलाक को नहीं, क्योंकि इस इलाके में तलाक सोचने का विचार न इसके पति में था, न इसमें था। किसी में नहीं था, पर दिमागी स्तर पर भी तो अलग–अलग होना भी तो संबंध विच्छेद है।"

परंतु सहरीय जीवन में लोग तलाक को स्वीकार करने लगे है। पति – पत्नी के बीच का आपसी संबंध जब नहीं बन पाता है तो तलाक किया जाता है। गोविंद मिश्र जी 'धूल पौधों पर' उपन्यास में प्रेम प्रकाश द्वारा इसको प्रमाणित करत हुए बताते हैं कि " अगर तुम्हें अपने मन का घर नहीं मिला तो अब बसा सकती हो, कौन रोकता है। तलाक ले लो।"

वह तलाक के बारे में सोचने लगी तो प्रेम प्रकाश आगे कहता है कि " तुम्हारी पीढ़ी में तलाक कोई असंभव सी बात नहीं है। तुम अभी जवान हो, सुंदर हो।"

सम्प्रति समय में नारी परंपरागत बंधनों से मुक्त होकर स्वतंत्रता चाहती है। वह अब पशु की तरह पति के अत्याचार को सेहने वाली नहीं रही। वह पति से मुक्त होना चाहती है। ' कोहरे में कैद रंगे' उपन्यास में रेवा अपने पिताजी से अपने पति के अत्याचार के बारे में साफ–साफ बता देती है। रेवा कहती है, "जानवर के साथ कोई रह सकता है क्या? मैं अब वहाँ गई तो आत्महत्या करने के अलावा मेरे पास दूसरा कोई रास्ता नहीं होगा। मैंने सख्ती से कह दिया। पापा के मुँह लटक गया, उन्होने दूसरा शब्द नहीं निकाला और तलाक की अर्जी लगाने का मन बना लिया।"

इस प्रसंग में एक दृश्य 'फूल इमारतें और बंदर' उपन्यास में भी देख सकते हैं। मौजूद अध्यक्ष कर्मकांडी धार्मिक है। वह अपने पत्नी को पूजा–पाठ करके अपने रास्ते नहीं ला सका। "जब उसने इसे बदलने की कोशिश की तो इसने लड़ना, यहाँ तक कि हाथ चलाना प्रारम्भ कर दिया। वह इसे लात मारकर निकल भागी और तलाक की दरखास्त लगा दी।"

अर्थात् प्रवर्तमान समय में तलाक जैसी समस्या भी समाज के लिए विकराल रूप बनती जा रही है। विवाह विच्छेद की स्थिति वर्तमान समय में एक गंभीर समस्या है, उसका हल मात्र प्रेम भावना से ही संभव हो सकता है।

गोविंद मिश्र जी की वैचारिक सृष्टि का एक अनोखा अंदाज है। मिश्र जी ने अपने उपन्यासों में व्यक्ति समाज और नारी इन तीनों समाज के आधार स्तंभ को संतुलित रूप में बनाए रखा है। मात्र समाज की, मात्र व्यक्ति की बुराईयों पर प्रकाश डालकर नहीं रह गए, पर उसी के समाधान की भी संतुष्टि देने का प्रयत्न किया है। मिश्र जी की वैचारिकता व्यष्टि से ऊपर जाकर समाष्टि रूप में आकारित हो जाती है। समाज के सुख, दुःख, दर्द, पीड़ा, संघर्ष, ग्लानि, जैसे भावों को बहुत ही सोच–समझकर न्याय देने का प्रयास किया है।

गोविंद मिश्र के उपन्यासों में चित्रित भारतीय समाज के प्रमुख नियामक तत्व पारिवारिक विवाह व्यवस्था एवं नारी की परंपरागत एवं परिवर्तित स्थिति के अध्ययन करने के उपरांत हमें यह प्रतीत होता है जो सराहनीय है। भारतीय समाज में व्याप्त तलाक जैसी व्यापक समस्या का समाधान करना अति आवश्यक है।

गोविंद मिश्र के उपन्यासों में भारतीय समाज में उत्पन्न परिवर्तन मानव कल्याण के लक्ष्य की ओर अग्रसर है। इससे स्पष्ट है कि गोविंद मिश्र जी ने उपन्यासों में तलाक जैसी समस्या भी समाज के लिए विकराल रूप बनती जा रही हैं। विवाह विच्छेद की स्थिति वर्तमान समय में एक गंभीर समस्या है, उसका समाधान मात्र स्नेह भाव से ही संभव हो सकता है।

संदर्भ सूची

1. भारतीय सामाजिक संस्थाएँ : डॉ. गोपीकृष्ण प्रसाद
2. उतरती हुई धूप : गोविन्द मिश्र
3. वही : गोविन्द मिश्र
4. फूल इमारतें और बंदर : गोविन्द मिश्र
5. वही : गोविन्द मिश्र
6. वही : गोविन्द मिश्र
7. कोहरे में कैद रंग : गोविन्द मिश्र
8. धूल पौधों पर : गोविन्द मिश्र

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

साईं बाबा के जीवन दर्शन का आध्यात्मिक एवं समाजशास्त्रीय विश्लेषण

महेन्द्र सिंह त्यागी
एम.ए. अंग्रेजी, समाजशास्त्र, बी.एड.
वरिष्ठ अंग्रेजी प्रवक्ता, हिन्दू इंटर कॉलेज, चांदपुर
जनपद, बिजनौर उ0प्र0

भारतवर्ष सदियों से विश्व गुरु रहा है। यहां की शस्यश्यामला पवित्र धरती पर अनेक महान संतों एवं ईश्वरीय अवतारों का अवतरण हुआ है। इन महान संतों में अनन्त कोटि, ब्रहमाण्ड नायक, राजाधिराज, योगीराज शिरडी के साईं बाबा का नाम हार्दिक श्रद्धा एवं सम्मान के साथ लिया जाता है। साईं बाबा न केवल एक महान संत थे बल्कि यहां के जनमानस में प्रेम, सौहार्द एवं मानवता के अमिट संदेश के प्रबल वाहक रहे हैं। शिरडी के इस अन्तरयामी एवं सर्वव्यापी महान आत्मा ने ब्रिटिश राज में महाराष्ट्र के छोटे से गांव शिरडी में रहते हुए राष्ट्रीय एकता एवं हिन्दू–मुस्लिम भाईचारे की जो मिसाल पैदा की, वह विश्व शान्ति हेतु आज भी अजर और अमर है। साईंनाथ महाराज के नाम से शिरडी में एक विश्व प्रसिद्ध भव्य मंदिर बना है जिसमें साईं बाबा समाधि एवं मूर्ति के रूप में अपने करोड़ों भक्तों एवं अनुयायियों को श्रद्धा और सबूरी, सबका मालिक एक जैसे महान सन्देशों के साथ अपने आशीर्वाद से अभिसिंचित करते नजर आते हैं। दुनिया में साईं एवं उनके अमूल्य वचनों का अध्ययन करने के उपरान्त यदि हम कहें कि साईबाबा 'मानव एकता धर्म' के प्रतिपादक थे, तो इसमें कोई अतिश्योक्ति नहीं होगी। आज बाबा भौतिक रूप में हमारे मध्य उपस्थित नहीं है किन्तु आध्यात्मिक रूप से वह इस सृष्टि के कण–कण में व्याप्त हैं।

जन्म तिथि एवं स्थान :– साईं बाबा के जन्म एवं स्थान के सम्बन्ध में स्पष्ट हो चुका है कि उनका जन्म महाराष्ट्र राज्य के परभणी जिले के पाथरी नामक गांव में हुआ था। जन्म स्थान के सम्बन्ध में विवाद उत्पन्न होने के कारण एक शोधकर्ता को उनके जन्म स्थान के सम्बन्ध में विभिन्न प्रमाणों का सहारा लेना अति आवश्यक हो जाता है। शिरडी साईं बाबा के अवतार माने जाने वाले श्री सत्य साईं बाबा ने अपने पूर्व रूप का परिचय देते हुए साईं बाबा के प्रारम्भिक जीवन सम्बन्धी घटनाओं पर प्रकाश डाला है जिनसे ज्ञात होता है कि उनका जन्म 28 सितम्बर 1835 में तत्कालीन हैदराबाद राज्य के पाथरी नामक गांव में एक ब्राहमण परिवार में हुआ था। **बी.व्ही सत्यनारायण राव** ने अपनी पुस्तक **'सदगुरु साईं दर्शन'** में भी साईं बाबा का जन्म स्थान पाथरी गांव ही बताया है। **श्री विश्वासबाला साहेब खेर** की पुस्तक **ए यूनिक सेंट साईं बाबा ऑफ शिरडी** में बाबा के जन्म की तारीख 27 सितम्बर 1830 बताई गई है एवं जन्म स्थान पाथरी गांव ही बताया गया है। पाथरी गांव में साईं बाबा के जन्म का दावा हमें सनातन धर्म प्रेमी एवं विद्वान लेखक **श्री कांशीराम जी की पुस्तक 'कलयुग में साईं अवतार'** में भी मिलता है। श्री साईं बाबा के अंतरंग भक्त म्हालसापति जो कि बाबा के साथ शिरडी में मस्जिद तथा चावड़ी में शयन किया करते थे, उन्हें बाबा ने स्वंय बतलाया था कि ***"मेरा जन्म पाथर्डी के एक ब्राहमण परिवार में हुआ था। मेरे माता–पिता ने मुझे बाल्य अवस्था में एक फ़कीर को सौंप दिया था।"***[1] साईं बाबा के जन्म स्थान पाथरी में एक मन्दिर बना हुआ है। मन्दिर के अन्दर साईं की आकर्षक मूर्ति रखी

हुई है। यह बाबा का निवास स्थान है जहां उनकी पुरानी वस्तुएं जैसे बर्तन, घड़ी और देवी–देवताओं की मूर्तियां रखी हुई हैं। इस मकान को साईं बाबा के वंशज श्री रघुनाथ भुसारी से 3000 रुपये में श्री साईं स्मारक ट्रस्ट ने खरीद लिया था। 'साईं बाबा जन्म स्थल मन्दिर ट्रस्ट' के सम्मानित ट्रस्टी श्री अतुल चौधरी का दावा है कि साईं बाबा का जन्म 1838 में पाथरी गांव में हुआ था।

साईं बाबा के माता–पिता एवं वंशजः– विभिन्न पुस्तकों एवं तथ्यों का अवलोकन करने के उपरान्त ज्ञात हुआ है कि साईं बाबा के पिताश्री का नाम श्री परशुराम भुसारी और माता का नाम अनुसुया था। इस सुयोग्य युग्ल ने पांच सुयोग्य पुत्रों को जन्म दिया, जिनके नाम इस प्रकार है– 1. रघुपति 2. दादा 3. हरिभऊ (साईं बाबा) 4. अंबादास 5. बलवंत। साईं बाबा अपने माता–पिता की तीसरी संतान थे जिन्हें गांववासी हरिभऊ कहकर पुकारते थे। विभिन्न विद्वानों ने अपनी भिन्न–भिन्न पुस्तकों में साईं बाबा के वंशजों का वर्णन किया है। विद्वानों का मानना है कि साईं बाबा के वंशज आज भी भारतवर्ष के औरंगाबाद, निजामाबाद और हैदराबाद नामक शहरों में रहते हैं। साईं बाबा के बड़े भाई रघुपति जी के दो पुत्र थे– महारूद्र और परशुराम बापू। महारूद्र जी के बेटे का नाम रघुनाथ जी था जिनके पास पाथरी का पुश्तैनी मकान था। रघुनाथ भुसारी जी के दो बेटे और एक बेटी हैं–दिवाकर, शशिकांत और एक बेटी जो नागपुर में रहती है। दिवाकर औरंगाबाद में और शशिकांत निजामाबाद में रहते हैं। परशुराम जी के बेटे का नाम भाऊ जी था। भाऊ जी के दो पुत्र थे जिनके नाम प्रभाकर राव और माणिक राव थे। प्रभाकरराव के प्रशांत, मुकुंद और संजय नाम के तीन पुत्र और एक बेटी लता पाठक है। जो औरंगाबाद में रहते हैं। मणिकराव भुसारी के चार बेटियां हैं– जिनके नाम अनिता, सुनीता, सीमा और दया हैं। इस प्रकार साईं बाबा के ब्राहमण वंशज आज भी भारतवर्ष में सकुशल निवास करते हैं। साईं के वंशजों को निम्न प्रकार भी समझा जा सकता हैः–

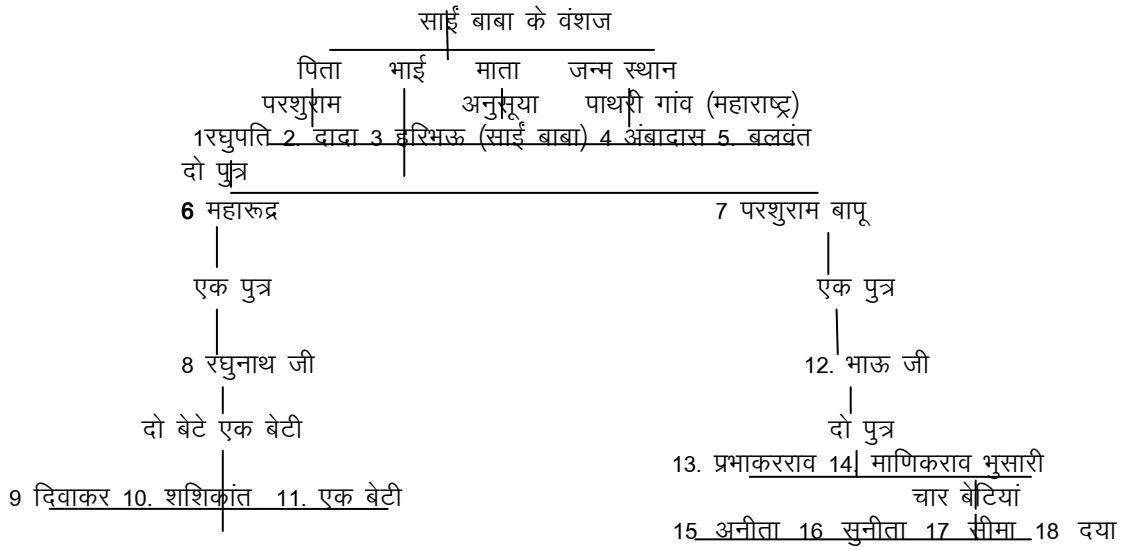

बाबा का शिरडी में पुनः आगमनः– साईं बाबा अपने गुरु वैंकुशा महाराज के निर्देश पर पहली बार शिरडी में एक बाड़े में स्थित नीम वृक्ष के नीचे पधारे थे एवं कुछ दिनों वहां रहकर लगभग तीन महीने बाद बाबा शिरडी के किसी भी निवासी को सूचना दिए बिना शिरडी छोड़कर चले गए। भारत के विभिन्न स्थानों का भ्रमण करने के तीन साल बाद साईं बाबा **चांद पाशा पाटिल** (धूपखेड़ा के एक मुस्लिम जागीरदार) के रिश्तेदार की बारात में बाराती बनकर शिरडी पहुंचे थे। बारात खंडोबा मंदिर के सामने रुकी थी। इस खंडोबा मन्दिर के पुजारी म्हालसापति थे। इस बार तरुण फकीर के वेश में बाबा

को देखकर म्हालसपति ने कहा *"आओ साईं"*[2] / बस तभी से युवा हरिभऊ भुसारी का नाम साईं पड़ गया। साईं का अर्थ है सा+ई अर्थात् साक्षात ईश्वर।

शिरडी में बाबा की लीलाएं एवं लोकव्यवहारः– साईं बाबा की लीलाएं अपरम्पार हैं। हम उनकी लीलाओं का यहां विस्तृत वर्णन करने में असमर्थ हैं। उन्होंने तो इस भवसागर पर विजय प्राप्त कर ली थी। शांति उनका आभूषण था तथा वे ज्ञान की साक्षात्कार प्रतिमा थे। वैष्णव भक्त सदैव वहां आश्रय पाते थे। दानवीरों में वे राजा कर्ण के समान दानी थे। अमीर और गरीब उनके लिए दोनों एक समान थे। *जब दुनिया जागती तो वे साते और जब दुनिया सोती तो वे जागते थे।*[3] वे विनम्र, दयालु, अभिमान रहित थे। शिरडी के फूल, पत्ते, कंकड़ और पत्थर भी धन्य हैं जिन्हें श्री साईं चरणाम्बुजों का चुम्बन किया तथा उनकी चरणरज मस्तक पर धारण करने का सौभाग्य प्राप्तु हुआ। साईं बाबा जिस मस्जिद में निवास करते थे उसको उन्होंने द्वारका माई नाम दिया था। द्वारका का अर्थ है, वह स्थान जो चारों वर्णों के लोगों को धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के लिए सुलभ है। कैप्टन नारायण अय्यर द्वारा लिखित **"भारत वर्ष का स्थायी इतिहास"** में **स्कन्द पुराण (भाग 2 पृष्ठ 90)** में द्वारका की व्याख्या निम्न प्रकार की गई है– *"चतुर्वर्णामपि वर्गाणां यत्र द्वाराणि सर्वतः। अतो द्वारावती त्युक्ता विद्वदि भस्तत्व वादिभि"।।"*[4] साईं बाबा अक्सर कहते थे कि *"साधु और संत भगवान के प्रतिनिधि स्वरूप हैं। वे समय पर प्रकट होकर अपना अवतार–कार्य पूर्ण करते हैं।"*[5] *"बाबा देवीदास नाम के एक सन्त के साथ कभी शिरडी के हनुमान मन्दिर में और कभी चावड़ी में रहते थे।"*[6] बाबा को प्रकृति से बड़ा लगाव था। वे गेंदा, जाई और जूही के पौधे उत्तम भूमि पर लगाते और उन्हें सींचते थे। बाबा पशु–पक्षियों के प्रति दया भाव से ओत–प्रोत थे। उपासनी महाराज जो खंडोबा मन्दिर में रहते थे, उन्होंने नीम वृक्ष के महात्म्य व साईं बाबा की योग शक्ति के बारे में निम्न प्रकार वर्णन किया हैः–

सदा निंबवृक्षस्य मूलाधिवासात्

सुधा स्त्राविणं तिक्तमत्यप्रियं तम्।

तरूं कल्पवृक्षाधिकं साधयन्तं

नमामीश्वरं सदगुरुं साईनाथम्।।[7]

बाबा की वेशभूषाः– वे कफनी पहनते, लंगोट बांधते और एक सफेद कपड़े के टुकड़े से सिर ढकते थे। वे आसन तथा शयन के लिए एक टाट का टुकड़ा काम में लाते थे। वे अपने पास चिलम, तम्बाकू, एक टमरेल और एक सटका रखते थे। वे नंगे पांव रहते थे। वे एक कौपीन धारण करते और सर्दी से बचने हेतु दक्षिण मुख होकर धूनी से तपते थे तथा अपना अहं, इच्छाओं और समस्त विषय आसक्तियों की उसमें आहूति दिया करते थे। वे **'सबका मालिक एक'** का सदा उच्चारण किया करते थे। वह भिक्षावृत्ति किया करते थे। वे पैरों में घुंघरू बांधकर प्रेम विह्वल होकर सुन्दर नृत्य व गायन भी करते थे। वे मस्जिद को द्वारिकामाई कहते थे। जब नीम वृक्ष के नीचे एक भक्त द्वारा चरण पादुकाएं स्थापित की गई तो साईं बाबा ने उनका स्पर्श करते हुए कहा कि *"ये भगवान के श्री चरण हैं। इनकी नीम वृक्ष के नीचे स्थापना कर दो"*[8] / बाबा ने जौहर अली नाम के बाबा को विवाद में पराजित किया और वह मुस्लिम फकीर शिरडी छोड़कर वैजापुर को भाग गया। म्हालसापति के शब्दों में **"जब मैं धार्मिक ग्रन्थों का पठन करता हूं तो बाबा राम या कृष्ण का रूप धारण का मेरे सामने खड़े हो जाते हैं।"**

रामनवमी व गोपाल काला उत्सवों का आयोजनः– *साईं बाबा शिरडीवासियों के साथ प्रतिवर्ष रामनवमी व उर्स का त्योहार प्रेम व सौहार्दपूर्वक मनाया करते थे।*[9] इन त्यौहारों के शुभ अवसर पर दो ध्वजों का प्रयोग हुआ करता था, जिन्हें बाद में बाबा के आदेशानुसार द्वारकामाई के दोनों कोनों पर फहरा दिया

जाता था। बाबा के कुशल निर्देशन में प्रतिवर्ष रामनवमी का त्योहार हर्षोल्लास के साथ मनाया जाता था, जिसमें कीर्तन हुआ करता था, भक्त **'राजा राम की जय'** के जयकारे लगाते थे। रामनवमी के अगले दिन बाबा गोपाल काला उत्सव मनाया करते थे जो भगवान श्रीकृष्ण के जन्म से जुड़ा था।

योगी एवं वेदाचार्यः– साईंनाथ महाराजा उच्च कोटि के योग पुरुष थे। वे छः प्रकार की यौगिक क्रियाओं के महान ज्ञाता थे। बाबा खण्ड योग व समाधि योग का प्रदर्शन भी किया करते थे। ***बाबा भिक्षावृत्ति के समय गृहस्थ लोगों को सदैव वेदान्त की शिक्षा दिया करते थे।***[11] बाबा हिन्दू धर्म के अनुसार गृहस्थ आश्रमियों से सदैव ब्रहमयज्ञ, पितृयज्ञ, देवयज्ञ, भूतयज्ञ, अतिथि यज्ञ करने का आहवान भी किया करते थे। साईं बाबा के कान छिदे हुए थे और वे अपने मस्तक पर चन्दन भी धारण करते थे। ***नाना साहब चांदोरकर जिन्होंने उन्हें बहुत समीप से देखा था, उन्होंने बतलाया कि बाबा की सुन्नत नहीं हुई थी।***[10] बाबा द्वारकामाई (मस्जिद) में निवास करते थे किन्तु अनेक ऐसे कर्म जो इस्लाम के विरुद्ध थे जैसे चक्की पीसना, शंख और घंटानाद, होम आदि कर्म करना, अन्नदान और अर्ध्य द्वारा पूजन आदि सदैव वहां चलता रहता था। बाबा मस्जिद में सदैव धूनी प्रज्जवलित रखते थे जिससे बाबा पवित्र उदी का निर्माण करते थे। वे जातियों एवं प्राणियों में किंचित मात्र भी भेदभाव नहीं रखते थे। बाबा मस्जिद में बैठकर भजन भी किया करते थे। एक दिन बाबा ने अप्पा शिंदे और कांशीराम से अचानक कहा चलो यारों मिलकर भजन करें, ***"पंढरपुरला जामाचें, जायाचें, जायाचें तिथेंच मजला राहायाचें.....।"***[12] बाबा संस्कृत भाषा का भी गूढ़ ज्ञान रखते थे। बाबा ने नाना साहेब चांदोरकर को गीता के चौथे अध्याय का 34वां श्लोक विस्तारपूर्वक समझाया था,.....

"तदिद्वि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्व दर्शिनः।।"[13]

बाबा का ध्येय और उपदेशः– सत्रहवीं शताब्दी (1608–1681) में सन्त रामदास प्रकट हुए और यवनों से गायों और ब्राहमणों की रक्षा करने का कार्य सफलतापूर्वक कराया, परन्तु दो शताब्दियों के व्यतीत हो जाने के बाद हिन्दू और मुसलमानों में वैमनस्य बढ़ गया और इसे दूर करने के लिए ही श्री साईं बाबा प्रकट हुए। उनका सभी के लिए यह उपदेश था कि **"राम और रहीम एक ही है और उनमें किंचित मात्र भी भेद नहीं है। फिर तुम उनके अनुयायी क्यों पृथक–पृथक रहकर परस्पर झगड़ते हो?.....शांत चित्त से रहो और इस प्रकार राष्ट्रीय एकता का ध्येय प्रप्त करो।** कलह और विवाद व्यर्थ है। इसलिए न झगड़ो और न परस्तर प्राणघातक ही बनो। सदैव अपने हित तथा कल्याण का विचार करो। श्रीहरि तुम्हारी रक्षा करेंगे। .....सदैव दूसरों की भलाई करो। साईं बाबा में ईश्वर तुल्य सभी गुण विद्यमान थे। वे शुद्ध चैतन्य स्वरूप थे। हम लोगों के लिए साईं बाबा ईश्वरावतार है। साईं बाबा की मुख्य शिक्षा है कि **"समस्त प्राणियों में ईश्वरदर्शन करो"।** उपनिषद, गीता और भागवत का भी यही **'ईशावास्यमिदं सर्वम'** उपदेश है। साईं बाबा ने निरन्तर 60 वर्षों तक शिरडी में वास किया और सन् 1918 में विजयदशमी के महासमाधि ग्रहण की।

साईं बाबा हिन्दू सन्त या मुस्लिम फकीरः– वर्तमान समय में साईं बाबा के सम्बन्ध में विद्वानों द्वारा एक ज्वलन्त प्रश्न किया जा रहा है कि क्या साईं बाबा हिन्दू संत थे या मुस्लिम फकीर? यदि मुस्लिम फकीर थे तो फिर हिन्दुओं द्वारा उनकी पूजा अर्चना क्यों की जा रही है? क्या साईं बाबा को किसी षड़यन्त्र के तहत हिन्दू बनाया गया है या बाबा मुस्लिम होते हुए हिन्दू होने का नाटक करते रहे। गत वर्ष दूरदर्शन एवं समाचार पत्रों में भी साईं बाबा का हिन्दू–मुस्लिम का मुद्दा छाया रहा। कई हिन्दू एवं जैन मुनि विद्वानों ने साईं बाबा को मुस्लिम बताकर मंदिरों से बाबा की मूर्तियां हटाने का आहवान कर डाला। एक विद्वान ने तो हद ही हर दी जब उन्होंने एक सभा में प्रवचन देते हुए कहा कि साईं बाबा अफगानिस्तान

से आया हुआ मुस्लिम था। उसका नाम चांद मियां था। उन्होंने ब्रिटिश सरकार से मिलकर झांसी की रानी को मरवाने का षड़यन्त्र रचा था। कुछ विद्वानों का मत है कि साईं बाबा मांसाहारी थे और लोगों को मांसाहार के लिए प्रेरित करते थे। ऐसे अल्प ज्ञानी एवं भ्रमित लोग समाज में बाबा के प्रति द्वेष, नफरत और हिन्दू–मुस्लिम के बीच मतभेदों की कंकरीट युक्त दीवार खड़ी कर रहे हैं।

अतः उक्त भ्रमित प्रश्नों का उत्तर देना आवश्यक है ताकि अल्पज्ञानियों को संकुचित विचारधारा से निकाला जा सके। शोधकर्ता द्वारा साईं बाबा के जन्म स्थान, वंशज, रहन–सहन, भाषा, उपदेश एवं जीवन दर्शन पर आधारित विभन्न पुस्तकों का अध्ययन करने व साईं भक्तों के साक्षात्कार के आधार पर यह सिद्ध किया गया है कि साईं बाबा हिन्दू संत थे। साईं बाबा ब्राहमण परिवार से थे। साईं बाबा मांसाहारी नहीं थे। उनका लोक व्यवहार हिन्दू धर्म पर आधारित था। वह हिन्दू–मुस्लिम एकता के प्रबल समर्थक थे। साईं बाबा के पक्ष में हिन्दुत्ववादी तथ्य निम्नलिखित हैंः–

1– साईं बाबा का जन्म महाराष्ट्र राज्य के पाथरी गांव के एक ब्राहमण परिवार में हुआ था। उनके वंशज आज भी ब्राहमण हैं और भारतवर्ष के विभिन्न शहरों में निवास करते हैं।

2–साईं बाबा के गुरु वैंकुशा महाराज हिन्दू थे, जो उन्हें वेद–वेदान्त एवं सनातन धर्म पर आधारित जीवन मूल्यों की शिक्षा दिया करते थे।

3–साईं बाबा रामनवमी उत्सव, कृष्ण जन्मोत्सव, चन्दन उत्सव, उर्स एवं मुहर्रम त्योहार मनाया करते थे जो श्री राम व श्री कृष्ण भगवान के प्रति विशेष आस्था एवं श्रद्धा के प्रतीक हैं। उर्स व मुहर्रम में प्रतिभाग करना हिन्दू मुस्लिम एकता व पारस्परिक प्रेम व सौहार्द का प्रतीक है।

4–बाबा शिरडीवासियों को वेदान्तों की शिक्षा दिया करते थे। वह हिन्दू धर्म में निहित पांच यज्ञों का ज्ञान गृहस्थों में प्रसारित किया करते थे।

5–साईं बाबा हिन्दू देवी–देवताओं का अपमान कभी भी बर्दाश्त नहीं करते थे। उन्होंने शिरडी स्थित अनेक मंदिरों का जीर्णोद्धार कराया जो हिन्दू धर्म के प्रति उनकी अटूट आस्था एवं श्रद्धा का प्रतीक है।

6–बाबा ने पूना की एक प्रसिद्ध विदुषी महिला श्रीमति काशीबाई कानेटकर से स्वंय की ओर संकेत करते हुए कहा था **''यह ब्राहण है, शुद्र ब्राहमण..... यह ब्राहमण लाखों मनुष्यों का पथ प्रदर्शन कर सकता है। यह ब्राहमण की मस्जिद है।''**

7–बाबा ने अपने भक्त दासगणु को द्वारकामाई में बैठे बैठे ही अपने चरणों से गंगा और यमुना की धारा स्फूटित कर उनकी इच्छा अनुसार संगम स्नान कराया था।

8–बाबा ने अपनी एक महिला भक्त को सीतानाथ अर्थात श्रीराम के रूप में दर्शन दिए थे। बाबा अन्तरयामी थे। वह भक्तों की मनोकामना को पहले ही समझ लेते थे।

9–बाबा द्वारकामाई में सदैव भजन किया करते थे। वह योग विद्या के महान ज्ञाता थे। वह भजन करते हुए नृत्य भी किया करते थे।

10–साईं बाबा का वास्तविक नाम हरिभऊ भुसारी था न कि चांद मियां। बाबा अपने पिता की तीसरी संतान थे। चांद मियां तो उनके केवल एक पड़ोसी थे, जिनके घर बाबा का बचपन में आना–जाना था।

11–बाबा शिरडी की मस्जिद में निवास अवश्य करते थे किन्तु वह खाली पड़ी मस्जिद थी, जिसमें दो कमरे बने थे। बाबा ने इस मस्जिद का नाम द्वारकामाई रखा था जो कृष्ण भगवान की द्वारका से मेल खाता है। मस्जिद में नियमित नमाज पढ़ने का कोई प्रमाण नहीं मिलता है।

12– बाबा इस द्वारकामाई में तुलसी का पौधा, शंख, घंटा एवं संगीत वाद्य यन्त्र रखते थे, जो मुस्लिम धर्म में निषेध है।

13– **साईं बाबा की कभी सुन्नत नहीं हुई थी।** मुस्लिम होने हेतु सुन्नत होना आवश्यक है। बाबा कभी नमाज नहीं पढ़ते थे और न ही कभी रोजे रखते थे और न ही कभी मुस्लिम टोपी पहनते थे। अतः बाबा मुस्लिम कैसे हो सकते है?

14– द्वारकामाई में निरन्तर धूनी जलाने का उद्देश्य उदी बनाना व जाड़ों में सर्दी से राहत पाना था। अनेक हिन्दू सन्त धूनी रमाया करते थे। धूनी रमाना मुस्लिम होने का प्रमाण नहीं है।

15–बाबा शिरडी स्थित हनुमान मन्दिर में भी अपने भक्तों के साथ शयन किया करते थे। अतः बाबा की बजरंग बली में प्रबल आस्था थी।

16– जहां तक बाबा की वेशभूषा का प्रश्न है तो सभी हिन्दू राजा एवं सन्त दाढ़ी रखते थे। राजा जनक, राजा दशरथ, राजा शान्तनु, महात्मा विदुर, गुरु वशिष्ठ, गुरु विश्वामित्र एवं भगवान परशुराम भी दाढ़ी रखते थे।

17–बाबा के द्वारा सिर से कपड़ा बांधना, उनके त्याग और सामाजिक शांति का प्रतीक है। हुक्का एवं चिलम पीना हिन्दू धर्म में प्राचीन काल से ही प्रचलित रहा है। बाबा अपने माथे पर त्रिपुण्डाकार चन्दन भी भक्तों से लगवाया करते थे। बाबा के दोनों कर्ण छिदे हुए थे।

18–बाबा मांसाहारी नहीं थे। उनके द्वारा मांसाहार का कोई प्रमाण नहीं मिलता। उन्होंने कभी शिरडीवासियों को मांस खाने हेतु प्रेरित नहीं किया। बाबा का पशु, पक्षियों एवं पशुओं से अटूट प्रेम था, अतः बाबा पशुओं का मांस कैसे खा सकते हैं।

19–'श्रद्धा और सबूरी', 'सबका मालिक एक', 'अल्लाह मालिक' जैसे संदेश देना मानव एकता का प्रतीक है। साईं बाबा का लालन–पालन उनके पड़ोसी मुस्लिम चांद मियां एवं चांद बी द्वारा किया गया था। अतः उनके व्यवहार में 'अल्लाह मालिक', जैसे शब्दों का समावेश होना स्वाभाविक था।

20–बाबा को संस्कृत भाषा का विशेष ज्ञान था। बाबा के उपदेशों की भाषा भागवत् गीता से मिलती–जुलती है। उनमें उर्दू, अरबी या फारसी जैसी भाषाओं का लेशमात्र भी अंश नहीं है जबकि दुनिया के सभी मुस्लिम विद्वान इन्हीं भाषाओं में प्रवचन करते हैं। बाबा चक्की चलाते थे। सूर्य देव को जल अर्पित करते थे। जो केवल सनातन धर्म में प्रचलित है, मुस्लिम धर्म में नहीं।

21–साईं बाबा के कुछ विद्वान भक्त ब्रिटिश सरकार के महत्वपूर्ण सरकारी उच्च पदों पर आसीन थे। तात्या साहेब नूलकर पंढरपुर में उपन्यायधीश, काका साहेब दीक्षित सरकारी सॉलिसीटर, बालाराम धुरन्धर राजकीय विधि कॉलेज के प्राचार्य एवं मुम्बई हाईकोर्ट के प्रसिद्ध वकील, गोपाल गुंड जी इंस्पेक्टर, श्री बी.व्ही देव डहाणू के मामलेदार तथा हेमाडपन्त जी स्वंय कैप्टन थे। क्या इतने बुद्धिमान एवं विद्वान अनुयायी किसी मुस्लिम ढोंगी के अनुयायी हो सकते थे? कदापि नहीं।

निष्कर्षः– साईं बाबा सनातन धर्म के ध्वजवाहक हैं। समाधि एवं मूर्ति के रूप में विश्व प्रसिद्ध शिरडी साईं मंदिर में बाबा का विराजमान होना हिन्दु–मुस्लिम एकता का प्रतीक है। सुधि पाठकगणों को उपरोक्त तथ्यों एवं प्रमाणों का अध्ययन करने के उपरान्त पूर्ण विश्वास हो गया होगा कि **शिरडी साईं नाथ महाराज हिन्दू थे, हिन्दू हैं और सदैव हिन्दू रहेंगे।** वह मुस्लिम बन्धुओं को साथ लेकर चलने वाले तथा सभी धर्मों को आदर एवं सम्मान प्रदान करने वाले दत्तात्रेय के अवतार स्वरूप हैं। पाठकगण भ्रमवश उन्हें मुस्लिम समझने की भूल न करें। शिरडी साईं मंदिर में करोड़ों भक्त प्रतिवर्ष साईं बाबा का

आशीर्वाद ग्रहण कर अपनी मनोकामना पूर्ण करते हैं। साईं बाबा अलौकिक शक्तियों से युक्त दैवीय रूप में आज भी जनमानस के मध्य उपस्थित हैं, जो समय–समय पर चन्द्रमा, सूर्य एवं मेघों के बीच अपनी छवि के रूप में अपने भक्तों को दर्शन दिया करते हैं।

प्रस्तुत शोधपत्र में यदि शोधकर्ता द्वारा श्री साईंनाथ महाराज के जीवन दर्शन के सम्बन्ध में कोई त्रुटि हुई हो तो शोधकर्ता ब्रहमाण्डनायक, राजाधिराज, योगीराज श्री साईंनाथ महाराज से क्षमायाचना की प्रार्थना करता है।

सन्दर्भ ग्रन्थः–

1. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 44
2. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 30
3. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 22
4. स्कन्द पुराण, भाग 2, पृष्ठ 90
5. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 20
6. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 32
7. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 34
8. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 35
9. साईं लीला पत्रिका 1925 के पृष्ठ 197 पर अंकित
10. साईं लीला पत्रिका के श्री बी. व्ही देव पृष्ठ 562
11. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 52
12. श्री साई सत्चरित्र पृष्ठ 57
13. साईं बाबा चार्टर्स एण्ड सेयिंग्स पुस्तक के 61वें पृष्ठ पर।
14. श्री बी. व्ही सत्यनारायण राव की पुस्तक 'सदगुरु साईं दर्शन' में निहित तथ्य।
15. श्री विश्वास बाला साहेब द्वारा लिखित पुस्तक, 'ए यूनिक संत साईं बाबा ऑफ शिरडी' से साभार प्राप्त।
16. श्री कांशीराम जी द्वारा लिखित पुस्तक 'कलयुग में साईं अवतार' के अध्ययन से प्राप्त विचार।
17. साईं बाबा जन्म स्थल मंदिर ट्रस्ट पाथरी के ट्रस्टी श्री अतुल चौधरी का इण्डिया टीवी न्यूज हेतु साक्षात्कार।
18. श्री साई सत्चरित्र–लेखक–कै0 श्री गोविंदराज रघुनाथ दाभोलकर (हेमाडपन्त)
19. श्री साई कृपा धाम मंदिर ट्रस्ट, चांदपुर जनपद बिजनौर के ट्रस्टी श्री संजीव कुमार भटनागर के साक्षात्कार दिनांक 01.06.2021 पर आधारित।
20. गाजियाबाद से प्रकाशित साईं लीला टाइम्स, अंतरराष्ट्रीय समाचार पत्र, के तथ्यों पर आधारित।
21. शोधकर्ता द्वारा स्वयं शिरडी साईं मंदिर एवं शिरडी गांव के अध्ययन से प्राप्त तथ्यों का समावेश।

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

राहुल कथा साहित्य का वैचारिक दर्शन

सत्य प्रकाश पाण्डेय

वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ.प्र.

"लेकिन, उस समय तनिक भी अनुमान नहीं था कि इसी आदमी का विकास राहुल सांकृत्यायन के रूप में होगा जिसे मैं आज जानता हूँ ---एक ऐसा मनुष्य, जो बुद्ध से मिलता-जुलता है, जो जीव मात्र के प्रति दुर्भावना से मुक्त है, जिसका दृष्टिकोण विश्वव्यापी है, जो पूर्णरूप से सुस्थिर और शांत है, जिसके पास बच्चे, आप से आप दौड़ पड़ते हैं, जो अगर यह कहें कि 'मेरे पीछे आओ', तो मनुष्य उसके पीछे, उसी प्रकार चल पड़ेगा, जैसे वह गौतम या ईसामसीह के पीछे-पीछे चलता था।"[1]

काशी प्रसाद जायसवाल

एक धर्म-प्रचारक जिसमें उत्तरीय के सिवा धार्मिक परंपरा का कोई आडम्बर नहीं; ऐसा विद्वान जिसने सारी विधाओं में डूबकर केवल नास्तिकता को ग्रहण किया हो; एक साधु, जिसे राह चलते अनावश्यक अवसरों पर भी ईश्वरों पर व्यंग्य, शास्त्रों की भर्त्सना और अंडों के प्रचार में आनंद आता हो; साहित्य में रहते हुए जिसे राजनीति का मोह हो, और राजनीति की ओर अग्रसर होते हुए जिसे कुछ घृणा, कुछ झिझक-सी लगे; युग-विधायक अनुसंधान करते हुए भी जिसे अपना श्रम व्यर्थ मालूम होता हो; इतिहास को मुर्दों का क्षेत्र कहकर जो ज़िंदों के बीच जीने की लालसा से रूस दौड़े, और ज़िंदों के जीवन से मर्म पर व्याघात लेकर फिर मुर्दों के देश लौट आए; प्रकांड विद्वान; बहुत बड़ा स्वतंत्र विचारक; सांस्कृतिक क्रांति का उग्रनेता, क्रांतिदर्शी और विक्रांत परिश्रमी; लेकिन अपनी पूरी शक्ति के उपयोग के योग्य निश्चित क्षेत्र के अभाव में अमूल्य विचारों का बहुत बड़ा बोझ ढोता-सा ; संसार जिसे असाधारण एवं अज्ञेय रहस्य मानकर विस्मय करे, उसे साधारण अतिसाधरण मानकर उसकी खिल्ली उड़ाता-सा, देवताओं के सामने मनुष्य और स्वर्ग के सामने पृथ्वी को पूजने वाला; जो पाने तर्क के तीखे बाणों से परंपरा, रूढ़ि और प्राचीन संस्कारों पर कुटिल व्यंग्य कसने का आदि हो; धुन का पक्का, लगन का कड़ा, साँप के फन पर जान-बूझकर पैर रखनेवाला; ऐसी विचित्रताओं का आगार है वह मनुष्य, जिसे हम राहुल सांकृत्यायन के नाम से अभिहित करते हैं।

राहुल जी की विशेषता थी कि वे अपनी रचना-संसार का आधार उन्हीं विषयों को बनाये जो उन्हें जनता के ज्यादा निकट, वैज्ञानिक और प्रगतिशील लगा। सबसे बढ़कर उनकी जो विशेषता थी वह यह थी कि उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त को जनसमान्य की दृष्टि से निकष पर तौला। उनके बारे में किसी ने ठीक ही कहा है कि---" **राहुल जी ने किसी भी मत को मत के लिए स्वीकार नहीं किया है। वे प्रत्येक मत की उपयोगिता को जीवन की कसौटी पर परखते थे। जो धर्म जीवन की समस्याओं को हल करने में असमर्थ लगता उसे छोड़ देते।वे मत-परिवर्तन के पक्ष में थे, अंधाधुंध अनुकरण को हेय**

समझते थे। राहुल जी का धर्म मानवतावादी भौतिकवाद था। वे मानव मात्र से प्रेम करना, उनकी समस्याओं को सुलझाना ही सबसे बड़ा धर्म समझते थे।"[2]

राहुल सांकृत्यायन का जीवन दर्शन बहुरंगी विचारधाराओं का सम्मिश्रण रहा है। उन्होंने सदा किसी एक विचारधारा के तंग दायरे में खुद को संकुचित नहीं होने दिया बल्कि उन्हें जैसे ही लगा कि यह विचारधारा उनके जीवनधारा को रोकने लगी है, उसे पुरातन बना रही है, उसी क्षण उस विचारधारा का उन्होंने त्याग कर दिया तथा उसके स्थान पर एक नयी तथा उन्नत विचारधारा को अपना लिया। बचपन से लेकर मृत्यु पर्यंत तक उनका यही रवैया रहा। उन्होंने अपनी जीवन-यात्रा का आरंभ सनातन धर्म तथा वैष्णव सिद्धान्त से की तथा आर्य समाज, बौद्ध दर्शन से होते हुए मार्क्सवाद में प्रवेश किया। भाषा के सवाल पर उनका कम्युनिस्ट पार्टी से मतांतर हो गया और वे इस पार्टी से अलग हो गए। जाहिर है कि एक ऐसे रचनाकार का रचनाकर्म विविध, बहुरंगी और बहुआयामी अवश्य ही होगा। अतः यह कहना ही होगा कि राहुल ने अपनी रचनाओं के माध्यम से हिन्दी साहित्य जगत को न केवल समृद्ध ही किया बल्कि उसे एक नयी दृष्टिकोण भी प्रदान किया जिसके कारण लोगों का साहित्यिक रूझान भी बढ़ा।

राहुल ने अपने उपन्यासों, कहानियों, यात्रा-वृत्तान्तों और जीवनियों द्वारा अपनी विचारधारात्मक यात्रा को साकार किया। राहुल का पूरा रचना-संसार बहुत सारी विविधताओं से भरा हुआ एवं विशाल है। राहुल के जीवन-दर्शन का मुख्य उद्देश्य था 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो।' दुनियाँ को बदलना ही उनके दार्शनिक चिंतन का मुख्य ध्येय है। इस संदर्भ में कार्ल मार्क्स का यह लोकप्रिय कथन राहुल के दर्शन में साफ मिलता है ---**"दार्शनिकों ने दुनिया की व्याख्या की है, परंतु सवाल इसे बदलने का है।"** राहुल की विचारधारात्मक यात्रा भी दुनिया को बदलने में विश्वास करती है। राहुल समाज के इस संघर्ष को अपने रचनाकर्म में अभिव्यक्त करते हैं आधुनिक भारत में भारतीय साहित्य पर सबसे ज्यादा असर दो विचारधाराओं का रहा है, एक है गांधीवादी विचारधारा तो दूसरा है समाजवादी विचारधारा। इन दोनों ने समाज को बहुत ज्यादा ही प्रभावित किया है।राहुल के साहित्य पर इन दोनों विचारधाराओं का व्यापक असर पड़ा। गांधीवादी आंदोलन में उन्होंने शंका प्रकट की और चौरी-चौरा कांड में फांसी पाये वीरों के समर्थन में भाषण देने के कारण उन्हें जेल तक जाना पड़ा। राहुल ने अपने उपन्यास 'जीने के लिए' में उपरोक्त बातों का उल्लेख करने के साथ-साथ कांग्रेसी कार्यकर्ताओं के त्याग, संयम और संघर्ष को बहुत ही सुंदर ढंग से दिखलाया है। वे एक कथाकार ही नहीं , आज़ादी के सक्रिय कार्यकर्ता और जन-शिक्षक भी थे और वे आनेवाले समय को साफ-साफ देख सकते थे। उन्हें मालूम था कि आनेवाले दिनों में कांग्रेस किस तरह पतित हो सकती है। इसलिए उन्होंने वोट की राजनीति के खिलाफ जन-चेतना विकसित करने के लिए 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो', में साफ-साफ लिखा---

"जनता को वोट का अधिकार दे देने से काम नहीं चलेगा, उसे अपनी भलाई-बुराई भी मालूम होनी चाहिए और यह भी मालूम होना चाहिए कि राजनीति के अखाड़े में कैसे-कैसे दाँव-पेंच खेले जाते हैं।"[3]

राहुल की विशेषता है कि उन्होंने अपने लेखन में मार्क्सवादी विचारधारा और दर्शन को आधार बनाकर चलते हैं। उन्होंने बौद्ध दर्शन के बाद ही मार्क्सवाद को भी अपनाया। मार्क्सवाद को उन्होंने मात्र

'फ़ैशन' के तौर पर नहीं अपनाया है बल्कि वे इसे सामाजिक बदलाव का हथियार मानते हैं। इस बात को स्वीकार करते हुए स्वयं लिखा है:- **"द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद अपने को प्रचलित तर्कशास्त्र की कोटि में रखने के लिए तैयार नहीं हैं, क्योंकि वह दिमागी कसरत को नहीं बल्कि प्रयोग को परम प्रमाण मानता है यही उसके लिए सत्य की सर्वश्रेष्ठ कसौटी है।"**[4]

ऐतिहासिक उपन्यास लेखन का उद्देश्य ऐतिहासिक उपन्यासों के माध्यम से इतिहास में घटी घटनाओं के साथ वर्तमान को तादात्म्य स्थापित करना। इस संदर्भ में आलोचक **राम चन्द्र शुक्ल** का यह कथन समीचीन लगता है कि –**"जब तक भारतीय इतिहास के भिन्न-भिन्न कालों की सामाजिक स्थिति और संस्कृति का अलग-अलग विशेष रूप से अध्ययन करनेवाले और उस सामाजिक स्थिति के सूक्ष्म ब्यौरों की अपनी ऐतिहासिक कल्पना द्वारा उद्भावना करनेवाले लेखक तैयार नहीं हो तब तक ऐतिहासिक उपन्यासों में हाथ लगाना सही नहीं।"**[5]

ऐतिहासिक उपन्यासों का अभाव देखकर ही शायद आचार्य राम चन्द्र शुक्ल ने यह लिखा था। साथ ही सावधान भी किया था कि इस क्षेत्र में लेखन चुनौतीपूर्ण कार्य है। लेकिन राहुल ने इस चुनौती को स्वीकार किया और ऐतिहासिक तथ्यों को उठाते हुए अपनी सूझ-बुझ वाला व्यक्तित्व का पारिचय देते हुए कई प्रभावशाली उपन्यास लिखे जिनमें प्रमुख हैं—'जय-यौधेय','सिंह सेनापति','मधुर स्वप्न','विस्मृत यात्री' आदि। इनमें चित्रांकन तो लेखक के हैं पर विषय-वस्तु इतिहास से लिये गए हैं।

राहुल के इस दृस्टिकोण से इन उपन्यासों में तत्कालीन प्रचलित प्रगतिशील विचारों को स्थापित करने का प्रयास मिलता है। 'सिंह सेनापति' उपन्यास की कथा लिच्छवी कुमार सिंह की वीरता के वर्णनों से सम्बन्धित है। लिच्छवी कुमार सिंह मागधों और पार्श्वों के खिलाफ युद्ध संचालन करते हैं और विजयी होते हैं। वे लिच्छवी गणराज्य की तन-मन से सेवा करते हैं।

लिच्छवी कुमार सिंह तक्षशिला जाता है और वहाँ आचार्य बहुलाश्व से शस्त्र-शास्त्र की शिक्षा पाकर निपुण हो जाता है तथा वहाँ आचार्य की बेटी से शादी भी कर लेता है। इसके बाद जब वह वैशाली लौटते हैं तो उनका न केवल स्वागत होता है बल्कि उन्हें उस साम्राज्य का सेनानायक भी बना दिया जाता है। बाद में वह जैन मत स्वीकार करता है, उससे संतुन्ष्ट नहीं होने पर पुनः बौद्ध धर्म अपना लेता है। बौद्ध दर्शन का अनुयायी सिंह इस दास प्रथा के खिलाफ अपना विशेष विरोध प्रकट करता है। राहुल का रचना-कर्म शोषण के खिलाफ जनजागरण से प्रभावित और प्रेरित था। राहुल का रचना-कर्म इस रूप में सामाजिक उपादेयता को प्रतिपादित करता है। उनका जीवन-दर्शन और साहित्य-दर्शन उनके साहित्यिक रचनाओं से मेल खाता है। इस उपन्यास में इतिहास को आधार बनाकर राहुल ने वर्तमान को सामने लाने का प्रयास किया है। भारतीय वीरों की वीरता का चित्रण कर उन्होंने उनके वर्तमान वंशजों को अंग्रेजों के खिलाफ लड़ने की प्रेरणा दी है।

राहुल जी के लिए 'प्रेम' पर रचना कर्म एक महत्वपूर्ण विषय है। राहुल जी के लिए मानव प्रेम एक उच्चादर्श है, एक विशिष्ट चिंतन है और जीवन का एक सात्विक धर्म भी है। प्रेम की परिभाषा देते हुए आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है—**"विशिष्ट वस्तु या व्यक्ति के प्रति होने पर लोभ वह सात्विक रूप प्राप्त करता है जिसे प्रीति या प्रेम कहते हैं।"**[6]

प्रेम का यह सात्विक रूप ही उसे आदर्श रूप प्रदान करता है। राहुल प्रेम को जीवन का स्वभाविक रूप मानते हैं। राहुल के रचना-संसार में प्रेम का दार्शनिक रूप सामने आता है। वे प्रेम को मनुष्यता, कर्तव्य और आदर्श से काटकर नहीं देखते। राहुल के विचार में प्रेम का महत्व कर्तव्य करने में है। राहुल जी ने अपने उपन्यास 'जीने के लिए' में नायक देवराज और नायिका जेनी ब्राउन के बीच पनपते प्यार को दिखाया है। जबकि ये दोनों प्रेमी युगल अलग-अलग देशों में रहते हुए भी एक-दूसरे के प्रति आकर्षित थे। देवराज भारत में रहता है और जेनी इंग्लैंड में। दोनों पति-पत्नी हैं। देवराज भारत की आज़ादी के लिए संघर्ष करता है और जेनी अंतर्राष्ट्रीय सेना की मदद करती है। राहुल के इन दोनों पत्रों की कहानी बड़ी विचित्र है। इतना तो तय है कि वे एक सच्चे प्रेमी हैं। राहुल यही नहीं रुकते बल्कि प्रेम के सच्चे स्वरूप का निर्धारण करते हुए वे जय-यौधेय, में लिखते हैं –**"प्रेम मनुष्य की स्वार्थपरता को समाप्त करता है। यह संकीर्ण अपनत्व की सीमा को तोड़कर बाहर निकलने की शक्ति देता है। जाति-प्रेम, विश्व-प्रेम इसी उत्कृष्ट प्रेम के रूप हैं। ऐसी स्थिति में पहुँचकर मानव सारे संसार की रक्षा चाहता है। वह समस्त भेदभाव को भूल जाता है।"**[7]

राहुल जी निरंतर अधिक से अधिक क्रांतिकारी विचारधाराओं के प्रभाव में आए। यही कारण है कि उनके वैचारिक आधार के अंतर्विरोध जितने ऊपरी है, उतने आंतरिक और मौलिक नहीं है। राहुल जी जिंदगीभर बौद्ध धर्म के अनुयायी बने रहे।

राहुल ने अपनी रचनाओं में जातिवाद, छुआछूत, बाल-विवाह, अनमेल-विवाह आदि का विरोध करते हुए एक समाज-सुधारक के रूप में अपना व्यक्तित्व निखारा है। राहुल को जातिवाद सामाजिक विकास के पथ का सबसे बड़ा रोड़ा लगता था। उनके अनुसार जातिवाद को भारतीय समाज से हटा देना चाहिए। वे जातिवाद को समाज का कलंक मानते थे। इतना ही नहीं वे आधुनिक समाज के लिए वर्ण-व्यवस्था का नामोनिशान मिटा देना चाहते थे। उनके अनुसार हिन्दू-समाज में जातिगत वैमनष्यता के कारण आपस में सामाजिक सौहार्द का ताना-बाना कमजोर होता है। ऐसी स्थिति को वे सामाजिक, राजनैतिक और जन आंदोलन रूपी चेतना के लिए खतरनाक मानते थे राहुल ने इसीलिए जय-यौधेय में लिखा है—**"भारत को शक्तिशाली राष्ट्र बनाने के लिए यहाँ से जाति-पाँति का भेदभाव मिटाना आवश्यक है। जबतक जाति-पाँति की व्यवस्था समाप्त नहीं होगी, भारत के विकास के लिए किए गए सभी प्रयत्न अपूर्ण होंगे।"**[8]

हमारे देश में बाल-विवाह और अनमेल-विवाह काफी होते थे पर राहुल ने इन सभी का पुरजोर विरोध किया है। स्वयं राहुल जी भी तो बाल-विवाह के शिकार हो गए थे। विधवाओं पर हो रहे अत्याचार के खिलाफ भी राहुल अपनी पुरजोर आवाज़ उठाते हैं क्योंकि वे आधुनिक समाज के निर्माण के लिए इन सारी व्यवस्थाओं का पालन चाहते थे। उनके अनुसार विवाह के मामले में स्त्री-पुरुष दोनों की सहमति परम आवश्यक है।

राहुल ने तंत्र-मंत्र, भूत-पिशाच, टोना-टोटका आदि को अपने साहित्य में जमकर लताड़ा है। राहुल ने सदा ही रूढ़ियों और अवैज्ञानिक बातों के खिलाफ अपनी आवाज़ को सर्वदा बुलंद किया है। वे सदा यही सोचते थे कि आज के इस वैज्ञानिक युग में भी लोग अवैज्ञानिक या अनैतिकता के बारे में सोच भी कैसे सकते हैं। अतः हम कह सकते हैं ऐसे लोगों के लिए राहुल साहित्य काफी मददगार साबित हो सकता है। राहुल जी समाजवाद में आस्था रखते थे। उन्हें शोषकों, दलितों से पूरी सहानुभूति थी। वे

शोषकों द्वारा मजदूरों के शोषण के खिलाफ थे। वे इस बात को भली-भाँति जानते थे कि शोषकवर्ग मजदूरों की मेहनत का फल हजम कर जाते हैं। इसीलिए वे शोषकों को जोंक कहा करते थे। राहुल जी का विचार था कि शोषण की समाप्ति पूंजीवादी और सामंतवादी के अंत के साथ ही संभव है। राहुल ने मानवीय स्वतन्त्रता, समानता, विश्वबंधुत्व और जनवाद के लिए सतत संघर्ष किया।

राहुल ने सामाजिक बदलाव के परिप्रेक्ष्य में साहित्य की महत्वपूर्ण भूमिका को सबसे पहले महसूस किया और जनता के जीवन, उसकी आशाओं, आकांक्षाओं और संघर्षों को अपनी रचनाओं का आधार बनाया है। राहुल ने प्रगतिशील रचनाओं में अपनी एक अलग पहचान द्वारा अपने नैतिक मूल्यों और सामाजिक दायित्वों का निर्वाह किया है। उन्होंने हमेशा भारतीय समाज की जातिय संरचना, वर्ण-व्यवस्था, और शोषण के खिलाफ अपनी आवाज़ बुलंद की है।

राहुल सांकृत्यायन परम्पराओं का वैज्ञानिक मूल्यांकन करते हैं। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में इतिहास प्रमुख विषय है। उनके इतिहास ग्रन्थों, ऐतिहासिक उपन्यासों एवं कहानियों में सांस्कृतिक विकास की प्रक्रिया स्पष्टतः सामने आती है। उनके उपन्यासों में यथार्थवादी चित्रण ही प्रमुखता से हुआ है। **"इतिहास एक तरफ विज्ञान है अर्थात हृदय को नहीं, मस्तिष्क को तृप्त करना उसका काम है। दूसरी तरफ वह कला का स्रष्टा है। काल्पनिक नाम तथा देश और व्यक्ति को लेकर चित्रित कथानक अपनी ऐतिहासिकता को छिपाये रहते हैं। .....इतिहास-पुरुष चाहे कलपनिक नाम हो, पर इतिहास का कलेवर हमेशा वस्तुवादी होता है।"**[9]

उन्होंने अपने ऐतिहासिक रचनाओं के माध्यम से समाज में होने वाले सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिवर्तनों को स्पष्ट करने का प्रयास किया है।

राहुल सांकृत्यायन ने अपभ्रंश के महान कवियों के साहित्य और उनकी सामाजिक भूमिका को उद्घाटित करनेवाले हिन्दी के प्रथम साहित्येतिहासकार थे। 'हिन्दी काव्यधारा' के प्रारम्भ में उनकी टिप्पणी से इस संदर्भ में उनके विचारों से हम अवगत होते हैं:- **"हमारे मध्यकालीन कवियों ने अपना नाता सिर्फ संस्कृत के कवियों से जोड़े रखा जिससे हिन्दी साहित्य के इतिहास विकास की यह महत्वपूर्ण कड़ी काव्य परम्परा से टूट कर अलग जा पड़ी। बीच की पाँच सदियों का थोड़ा अनुशीलन हमें लाभ पहुंचाएगा यह न केवल हिन्दी के बल्कि बंगला, गुजराती,मराठी, उड़िया, सिन्धी, पंजाबी, राजस्थानी, मगही, मैथिली, भोजपुरी आदि भाषाओं की संकलित निधि है।"**[10]

राहुल के रचना संसार को सैद्धांतिक आधार प्रदान करने का काम पुरातत्व सम्बन्धी उनकी खोजों से है। नयी बातों को समाज के सामने प्रस्तुत करने के लिए वे हमेशा उत्साहित रहा करते थे। इस संदर्भ में उनका चिंतन इस कथन से साफ झलकता है- **"इतिहास की सबसे ठोस सामाग्री पुरातत्व सामग्री है और इस सामाग्री से भारत की कोई जगह शून्य नहीं है। गाँवों के पुराने डीहों पर फेंके मिट्टी के बर्तनों पर चित्र-विचित्र टुकड़े भी हमें इतिहास की महत्वपूर्ण बातें बताते हैं।"**[11]

राहुल जी का सबसे बड़ा गुण था स्वावलंबन और आत्मविश्वास। कैसी भी विषम परिस्थितियाँ हों, वे निरंतर संघर्ष करते रहते थे। सबसे बड़ी बात है कि धन के लिए या सम्मान के लिए उन्होंने छोटे-छोटे समझौते कभी नहीं लिए। उनके लिए संभव था कि बड़े से बड़े भारतीय और विदेशी महापुरुषों के

संपर्क से वे लाभ उठाते और कोई पद या पदवी प्राप्त करके बैठ जाते। उन्होंने जीवन में ऐसा स्थिर गतिहीन, सुख-सुविधावादी जीवन पसंद नहीं किया।

एक साहित्यकार के रूप में राहुल जी शोषित जनता के जीवन, भविष्य ,न्याय और संघर्ष से प्रतिबद्ध थे। उनके कथा साहित्य के विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि उनकी प्रगतिशीलता सिर्फ जनवादी मुहावरों पर, जनजीवन के आर्थिक यथार्थ तथा समस्याओं तक ही सीमित नहीं थी, बल्कि वे अपने युग के जीवन और सभ्यता के सम्पूर्ण समीक्षक रचनाकार थे। वे भारत की शोषित-पीड़ित जनता की आर्थिक मुक्ति ही नहीं बल्कि सांस्कृतिक-समाजिक, राजनैतिक और जातीय मुक्ति भी चाहते थे। उनके सम्पूर्ण कथा-साहित्य में समाज के हर वर्ग का समुचित प्रतिनिधित्व दिखाता है। कथाकार राहुल की सहानुभूति उनके साहित्य में आए चरित्रों से लेकर कथा-वस्तु तक शोषित-उत्पीड़ित, अपमानित आदि सभी से है। एक तरफ इनके यहाँ तिरस्कृत,उपेक्षित तथा पददलित लोगों की व्यथा की बात की जाती है तो दूसरी तरफ राहुल का कथा-साहित्य निर्धन,अछूत, पराश्रित तथा उपेक्षित नारियों की मुक्ति के लिए निरंतर प्रयासरत एवं प्रतिबद्ध है। वे जितने समाजवादी हैं, उतने ही बौद्ध और नारी मुक्ति आंदोलन के समर्थक भी हैं। राहुल जी की बहुज्ञता के कारण ही उनका कथा-साहित्य, विचार, कथानक, वर्णन प्रस्तुति और शैली-शिल्प के स्तर पर ज्ञान की विविध शाखाओं से अंतरसंदर्भित होते चलता है।

<u>संदर्भ संकेत</u>

1. जायसवालकाशी प्रसाद : प्रमाणवार्तिकभाष्यम
2. मिश्र डॉ. प्रभा शंकर : राहुल सांकृत्यायन का कथा-साहित्य, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, पृ. – 35
3. सांकृत्यायन राहुल : 'भागो नहीं, दुनिया को बदलो', पहली छाप की भूमिका
4. सांकृत्यायन राहुल : वैज्ञानिक भौतिकवाद, पृ. – 9
5. शुक्ल आचार्य राम चन्द्र : हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ.- 366
6. शुक्ल आचार्य राम चन्द्र : चिंतामणि, प्रथम भाग,'लोभ और प्रीति' से।
7. सांकृत्यायन राहुल : जय यौधेय, पृ.- 116
8. सांकृत्यायन राहुल : जय यौधेय, पृ.- 206
9. सांकृत्यायन राहुल : इतिहास पुरुष, ज्ञानोदय, पृ.- 5
10. सांकृत्यायन राहुल : हिन्दी काव्यधारा, प्राक्कथन से।
11. सांकृत्यायन राहुल : पुरातत्व निबंधावली, पृ.- 11

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

आदिवासी हिंदी साहित्य की चुनौतियां: एक विश्लेषण

आनन्द कुमार
वीर बहादुर सिंह पूर्वांचल
विश्वविद्यालय, जौनपुर, उ.प्र.

साहित्य का दायित्व है , देश काल में बदलते मनुष्य के ठीक -ठीक पहचान कराना , उसे परिभाषित करने का प्रयास करना तथा युग की संवेदना से साक्षात्कार कराना । आज का युग भौतिक विकास का युग है । आम मनुष्य का जीवन सुंदर और सरल हो यह मनुष्यता का दायित्व है । दो दशक पूर्व आर्थिक उदारीकरण ने बाजारवाद का रास्ता खोला जिसके परिणाम स्वरूप मुनाफे और लूट का खेल आदिवासियों के जल , जंगल, जमीन से भी आगे जाकर उनके जीवन को दांव पर लगाकर खेला जाने लगा। बाजार और सत्ता के गठजोड़ में आदिवासियों के सामने अस्तित्व का संकट खड़ा कर दिया। संजीव के 'पांव तले की दू ब' का नायक यह जानता है कि -"उन्हें जमीन से भी बेदखल किया जा रहा है , मुआवजा अफसरों के पेट में जा रहा है ।"[1] आदिवासी अस्मिता और अस्तित्व का इतना गहरा संकट इससे पहले कभी नहीं पैदा हुआ। अपने जल- जंगल- जमीन से बेदखल आदिवासी समाज महानगरों में दर-दर भटक रहा है। विकास के नाम पर अपने पैतृक क्षेत्रों से बेदखल किए गए यह लोग जाए तो कहां जाए ? आजादी के बाद भारतीय सरकार द्वारा अपनाए गए विकास के गलत मॉडल इसके लिए बहुत हद तक जिम्मेदार हैं । जब सवाल अस्तित्व का हो तो उसका प्रतिरोध होना भी स्वाभाविक प्रक्रिया है। महादेव टोपो की 'त्रासदी' कविता में यह स्वर अधिक गहराई से व्यक्त हुआ है-

" इस देश में पैदा होने का/ मतलब क्या है
जानते हो मेरे भाई/ नहीं!
इस देश में पैदा होने का/ मतलब है-
आदमी का जातियों में बँट जाना
और गलती से अगर तुम हो गए पैदा/ जंगल में
तो तुम कहलाओगे/ आदिवासी-वनवासी-गिरिजन
वगैरह-वगैरह/ आदमी तो कम से कम
कहलाओगे नहीं ही|"[2]

कला और साहित्य द्वारा अभिव्यक्त प्रतिरोध के परिणाम स्वरूप आदिवासी हिंदी साहित्य ने आकार लिया| कलम की धार तेजी से अपने प्रभाव क्षेत्र का विस्तार कर रही है |आजादी के बाद सभी प्रमुख विधाओं में आदिवासी और गैर आदिवासी रचनाकारों द्वारा आदिवासी जीवन समाज की प्रस्तुति हो रही है| एक तरफ जगमगाती संपन्नता , औद्योगिक विकास, नगरीकरण, वैज्ञानिक सफलता है तो वहीं दूसरी ओर अभावग्रस्त जीवन , शोषण, विस्थापन, बीमारियां अन्याय, अत्याचार, विषमता और इन समस्याओं से उबर कर निकलने के लिए संघर्षरत आदिवासियों की जद्दोजहद की अभिव्यक्ति है विचारों की जुगाली नहीं| आदिवासी साहित्य के महत्व को रेखांकित करते हुए रमणिका गुप्ता कहती हैं आदिवासी साहित्य का महत्व इसलिए भी है कि यह निरा कल्पना का साहित्य ना होकर जीवन का साहित्य है। वह प्रकृत का सहयोगी सहअस्तित्व का अभ्यस्त, ऊंच-नीच, भेद-भाव व छल- कपट से दूर है| वह जमाखोरी या संपत्ति जुटाने की भावना से मुक्त है |वह अन्याय का विरोधी है ,और सामाजिक न्याय का पक्षधर है| इस साहित्य में इन्हीं सब की अभिव्यक्ति है |जीवन की समस्याएं और प्रकृति से लगाव उसके साहित्य का आधार है|"[3]

आदिवासी समाज अपनी संपदा से वंचित व विस्थापित होकर विलुप्त होने के कगार पर है| न तो वे अपनी संस्कृत बचा पा रहे हैं और न ही आधुनिकता से लैस होकर राष्ट्र की मुख्यधारा में शामिल हो पा रहे हैं | यह सब कुछ उनके जीवन में बाहरी हस्तक्षेप के कारण ही हो रहा है । जनजातियों की संस्कृत पर कारपोरेट जगत और सरकार की मिलीभगत से निरंतर हमले हो रहे हैं । जंगलों को काट कर और जलाकर प्रायोजित तरीके से उद्योग समूह को सौंपा जा रहा है , जिसका प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई दे रहा है| आज जब औद्योगिक विकास के लिए खनिज संपदा और जंगल पहाड़ के इलाके राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था के लिए अनिवार्यतः उपयोगी माने जा रहे हैं और ये सारी सहूलियतें इन्हीं आदिवासी अंचलों में सुलभ है तो क्या क्षेत्रीय या राष्ट्रीय हितों के लिए आदिवासियों को विस्थापित कर उनकी जीवनशैली समाज संरचना और सांस्कृतिक मूल्यों में बलात् परिवर्तन गैर वाजिब नहीं है| आदिवासी कवयित्री ग्रेस कुजूर प्रश्न करती हैं -

"कहां है वह फुटकल का गांछ/ जहां चढ़ती थी मैं/साग तोड़ने/ और गाती थी तुम्हारे लिए/ फगुआ के गीत/जाने किधर है/कोमल पत्तियों वाला/कोयनार का गांछ/जिसके नीचे तुम /बजाया करते थे/मांदर और बांसुर !"[4]

यह एक सच है कि हम 21वीं सदी में जी रहे हैं, जो सूचना ज्ञान विज्ञान और प्रौद्योगिकी का युग है जहां समूची दुनिया सिमट सी गई है जहाँ भारत देश की पहचान एक उभरती हुई शक्ति के रूप में बताई जा रही है किंतु ऐसे ही समय में जहां सब कुछ उजला- उजला बताया जा रहा है उसका दूसरा पक्ष भी है | जिसके अनुसार भारत राष्ट्र का एक बड़ा भू-भाग , जहां रोशनी की जगह अंधेरा है | जहां सभ्य और अस्तित्वहीन समझी जाने वाली जिंदगी घृणा और अपमान के साए में सांस ले रही है| समाजशास्त्री इसे मुख्यधारा से अलग आदिवासी जीवन समाज कहते हैं | आज जिस 21वीं सदी के

भारत की चर्चा है उसका एक बड़ा भू-भाग यही आदिवासी लोगों की अविकसित दुनिया है | जो समूचे भारत के विभिन्न हिस्सों में पसरा हुआ है |आजादी के 70 वर्षों बाद भी आदिवासियों की स्थिति बद से बदतर होती है| सभ्य समाज ने अपने रचित षड्यंत्र के तहत उनको अपने अधिकारों से वंचित रखा था। उसी एहसास के साथ उनकी कलम से लेखन का प्रस्फुटन हो रहा है |मानवीयता और समानता के तत्वों की तरफ ध्यान दें तो आज की तारीख में आदिवासी साहित्य कई अर्थों में महत्वपूर्ण है | आदिवासी हिंदी साहित्य विविधताओं से भरा हुआ है | मौखिक साहित्य की समृद्ध परंपरा का लाभ भी आदिवासी हिंदी रचनाकारों को मिला है | तुलनात्मक रूप से दलित साहित्य पर आदिवासी साहित्य से ज्यादा काम हुआ है| कहें तो आदिवासी साहित्य पर हिंदी लेखकों ने उस तरह ध्यान नहीं दिया, जिस तरह से दिया जाना चाहिए था | वर्ष 2002 में साहित्य अकादमी के सहयोग से रमणिका फाउंडेशन ने भारत का पहला आदिवासी साहित्य सम्मेलन दिल्ली में आयोजित किया था | इस सम्मेलन में भारत के 9 राज्यों से आए आदिवासी लेखकों ने मंथन कर कई मुद्दे उठाए थे |पुनः 2005 में रांची में एक आदिवासी साहित्यकारों का तीन दिवसीय सम्मेलन आयोजित किया जिसमें 27 भाषाओं के आदिवासी साहित्यकार जूटे और आदिवासी संस्कृति और लोक साहित्य व आदिवासी साहित्य के भविष्य पर वार्ता व विमर्श द्वारा सकारात्मक निर्णय भी लिए गए | आज आदिवासी समाज दलितों की अपेक्षा अधिक पिछड़ा हुआ है| दलित तो सामाजिक राजनीतिक रूप से संगठित हैं तथा शिक्षित होकर अपने अधिकारों की लड़ाई लड़ रहे हैं लेकिन आदिवासी लोग अभी उस तरह से न तो शिक्षित हुए हैं और ना संगठित होकर आगे बढ़े हैं |बावजूद इसके कुछ आदिवासी लेखकों ने कलम की ताकत को पहचाना है| कलम ही एक ऐसी ताकत है जिसका प्रयोग कर हम अपनी अभिव्यक्ति को साहित्य की दिशा देते हैं और समाज को एहसास दिलाते हैं | "अभिव्यक्ति की ताकत अगर मनुष्य को पशु से भिन्न बनाती है तो साहित्य उसे दिशा देता है और एहसास दिलाता है कि वह मनुष्य अकेला नहीं बल्कि समाज का एक अंग है और प्रतिबद्ध साहित्य समाज को गतिशील बनाता है- जड़ नहीं |" आदिवासी साहित्यकार अपने अलग अंदाज से और एक पक्का इरादा लेकर इस क्षेत्र में आ डटे हैं |आदिवासी संस्कृति,अस्तित्व, अस्मिता, आत्मसम्मान,स्वावलंबन एवं विकास के मुद्दों को ध्यान में रखते हुए डॉ गोविंद गारे, भुजंग मेश्राम, पंडलीक केदार, चामू लाल राठवा, डॉ विनायक तुमराम, उषाकिरण आत्राम, कुसुम आलाम, बाहस सोनवणे इत्यादि साहित्य सृजन कर रहे हैं |कुछ गैर आदिवासियों ने भी आदिवासियों पर साहित्य लिखा है जो प्रकाशित हुआ है |दुर्गा भागवत, नाग गोंडा, सुदामा जाधव, जगदीश गोडबोले, डॉ गेल ओमबेट आदि गैर आदिवासी साहित्यकारों ने भी आदिवासी साहित्य में अपना योगदान दिया है |इन्होंने आदिवासी समाज को सामने रखकर लिखा जरूर है लेकिन आदिवासी समाज को जोरदार प्रोत्साहन देने की बजाय उनका अपना अलग-अलग उद्देश्य भी रहा है | कुछ लेखकों ने आदिवासी आंदोलन को आगे बढ़ाने की कोशिश में शोध किया है ,तो कुछ का उद्देश्य महज डिग्री हासिल करना रहा है | कुछ साहित्यकारों ने केवल धन हथियाने के लोभ में साहित्य लिखा , तो कुछ साहित्यकारों ने अपने समाधान के लिए लेखन को अपनाया | गैर आदिवासी होने के नाते इनके

साहित्य में आदिवासी समाज का अपने जीवन में होने वाला तान- तनाव ,भाव -भावनाएं, मानसिक संघर्ष आनंद मोह को समुचित न्याय मिलना संभव नहीं है|

आदिवासी कवि, कहानीकार, आलोचक लिख रहे हैं और अपने समाज के सुख-दुख अंतर्विरोध और दूसरे समुदायों द्वारा अपने ऊपर किए जा रहे अत्याचार और भेदभाव को रेखांकित कर रहे हैं तथा उनके विरुद्ध आवाज भी उठा रहे हैं| आदिवासी कवयित्री निर्मला पुतुल अपने समाज की स्त्रियों के सुख-दुख और अधिकार के प्रति काफी सचेत है | उनकी कविताओं में आदिवासी समाज के जीवन की बारीकियां अत्यंत ही सहज और सधे ढंग से प्रस्तुत होती है| आदिवासी साहित्य के रूप में नया विद्रोह दिन प्रतिदिन आकार ले रहा है | सच पूछा जाए तो आदिवासी साहित्य जीवनदायी साहित्य है | उनके सर्वांगीण उत्थान का सवाल लेकर यह साहित्य समाज व्यवस्था से दो-दो हाथ करने को उद्यत है | साथ ही यह आदमियों की सामाजिक रचना और एकात्म जीवन का विचार भी रखने लगा है|

आदिवासी साहित्य की प्रमुख स्रोत प्रकृति ,संस्कृति और इतिहास है |वे प्रकृति ,नदी ,वृक्ष और पशु- पक्षियों से निकटता पसंद करते हैं जिसकी झलक उनकी कविताओं में नजर आती है | आदिवासी समाज में पैदा हो रही अभिव्यक्ति उनकी जागृति का प्रतीक है।

<u>संदर्भ संकेत</u>

1. संकल्प- स.प्रो.टी.मोहन सिंह, अक्टूबर 2010 -मार्च 2021 (संयुक्तांक पृष्ठ संख्या 245- 246)
2. महादेव टोपो की 'त्रासदी' कविता से, आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपादक- रमणिका गुप्ता पृष्ठ 49
3. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी, संपादक- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ- 117
4. ग्रेस कुजूर- एक और जनी शिकार शिर्षक कविता से , संपादक- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ संख्या- 101
5. आदिवासी स्वर और नई शताब्दी- रमणिका गुप्ता, पृष्ठ- 6

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

भोजपुरी लोकगीतों में रस

डॉ0 सुरेन्द्र पाण्डेय
असिस्टेंट प्रोफेसर, हिन्दी विभाग,
कूबा पी0जी0 कॉलेज, दरियापुर, नेवादा, आजमगढ़

रस शब्द का प्रथम प्रयोग वेद में आता है। छान्दोग्य उपनिषद[1] में कहा गया है –

ऋृचामेव तद्रसेन _____

यज्ञषमेव तद्रसेन_____

साम्नाामेव तद्रसेन_____

आचार्य भामह ने 'काव्यालंकार' में कहा है कि रस के परिपाक के बिना कविता नीरस और निस्पंद होगी।

ए ते रसारमवतों रमयन्ति पुंसः
सम्यग्विभज्य रचिताश्चतुरेण चारूः
यस्मादिमाननधिगम्य सः सर्वरम्यं
काण्यं विधातुमलमल तदाद्वियेतफ।।[2]

लोकगीतों का रस–परिपाक की दिशा में सफल होने का कारण यह है कि ये गीत जन–जीवन से उपजे हुए गीत है। स्वरों का उतार–चढ़ाव और इसकी लय के कारण इसमें रस भरा पड़ा होता है। यों तो भोजपुरी लोकगीतों में सभी रसों का सुन्दर परिपाक हुआ है पर श्रृङ्गार, करूण, हास्य वीर, शान्त तथा भक्ति रस की प्रधानता है।

भोजपुरी लोकगीतों में श्रृङ्गार, रस के दोनों पक्षों संयोग एंव वियोग का बड़ा ही सुन्दर दृश्य देखा जा सकता है। श्रृङ्गार रस का जो वर्णन भोजपुरी लोकगीतों में आता है, उसमे पवित्र, संयत, द्रव्य और शुद्ध होने के साथ ही साथ अश्लील और अमर्यादित भी मिलता है। श्रृङ्गार रस के गीत अवसर के अनुसार संयत और अश्लील होते रहते हैं, किन्तु दोनों ही तरह के गीत अपने स्थान के अनुसार आकर्षक लगते है। श्रृङ्गार रस का सुन्दर दृश्य होली गीतों में मिलता है। एक होली गीत में कृष्ण और राधा के मिलन तथा हास–परिहास का बड़ा ही सुन्दर दृश्य उपस्थित होता है। ब्रज की गली में राधा–कृष्ण की भेंट होती है और प्रारम्भ हो जाता है हास–परिहास –

सखि! राधे के नयन रतनारे कजर सोहे कारे
एक मंगन हम मांगीले सखिया उपजे अंग तिहारे
हम तमांगी लें अधर रस माते
दिन चारी के देहु न उधारे कजर सोहे कारे।[3]

इस प्रकार पिंड़िया गीत, कजरी गीत और जातिगत गीतों में भी संयोग श्रृङ्गार का बड़ा ही सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है। एक अन्य होली गीत में कृष्ण–राधा के मिलन का दृश्य देखा जा सकता है।

मानहु एक अरज हमारी, छयल बनवारी।
आधी रात निखंड होत जब सोइ जात नर नारी।
तब तुम आव कुंजन बन भीतर।
मुरली धुनि करहु सम्हारी छयल बनवारी।। [4]

भोजपुरी लोकगीतों में श्रृङ्गार रस के वियोग पक्ष का वर्णन अधिक मार्मिक ढंग से प्रस्तुत हुआ है। वियोग के तीनों पक्षों पूर्वानुराग, मान और प्रवास का स्वाभाविक वर्णन मिलता है, जो किसी भी तरह से शिष्ट साहित्य से कम मूल्यवान नहीं है। एक होली गीत में भोगांकुरित मान का जैसा वर्णन मिलता है, वह तो शिष्ट साहित्य में भी दुर्लभ है –

पिया नयन अरूणता पागे, कहाँ निसि जागे
अंजन अधर पीक पकलन पर जावक माल बिराजे।
मुकुर जाहुगे मुकुर बिलोकहु
यह दंत कपोल लागे, कहाँ निसि जागे।[5]

यह होली गीत अत्यन्त ही गम्भीर मान को प्रस्तुत करता है।

भोजपुरी लोकगीतों में परकिया का प्रेम अर्थात् अवैध सम्बन्धों को भी महत्व दिया गया है। एक ग्रामीण नायिका और उसके देवर के प्रेम प्रसंग का चित्रण एक पिंड़िया गीत में देखा जा सकता है। –

मेंहदी सुरूके में गइलो फुलवरिया हो
हरि–हरि देवरा संघवा लागल मोरा जाला ए हरी।[6]

यह सच है कि जिन्दगी की पहचान प्रेम से होती है, तो प्रेम की पहचान निश्चित रूप से वियोग से होती है। प्रिय का परदेश जाना किसी भी प्रेमिका के लिए दारूण दुःख देने वाला होता है। वह चाहती है कि कम–से–कम फागुन के महीने में उसका प्रियतम उसके साथ रहे–

फागुन भरि ए दिलदार धरे रहो प्यारे
ढोल छवाई देबो हम तोहे के देवि मंगाय नगारे।
दण्ड ताल, करताल झाँझ ठप
जलसा रचि देहु ना दुआरे, धरे रहो प्यारे।[7]

भोजपुरी लोकगीतों में हास्य रस का वर्णन भी भोजपुरी मिलता है। श्रृङ्गार रस की प्रधानता होने के कारण उसका सहयोगी हास्य रस का होना स्वाभाविक भी है। विवाह गीत में द्वार पूजा पर गाये जाने वाला एक गीत देखा जा सकता है –

चलनी के चालल दुल्हा सूप के फटकारल रे
दीयना के लागल दुल्हा दुआरे बाजा बाजल रे।[8]

भोजपुरी लोकगीतों में युद्ध या दानवीर का वर्णन कम देखने को मिलता है, क्योंकि प्रायः लोकगीत वीर रस प्रधान नहीं होते है, फिर भी वीर रस का नितान्त अभाव इन गीतों में नहीं है। एक होली गीत में वीर कुँवर सिंह की वीरता का वर्णन गाँव–गाँव में गाया जात है –

बाबू कंवर सिंह तेगवा बहादुर
बंगला पर उड़े ला अबीर।

भोजपुरी लोकगीतों में शान्त रस का वर्णन भी बहुत मिलता है। शान्त रस के वर्णन का एक बड़ा कारण यह है कि यहाँ की भूमि पर गौतम बुद्ध, नाथपंथी योगियों एंव कबीर पंथी निरगुनियों का व्यापक प्रभाव पड़ा है। एक जतसार गीत में शान्त रस का प्रभाव देखा जा सकता है।

पिसि देहु–पिसि भउजी जीरहुल सुतइया हो राम
ए राम हम जाइबि भइया के देशवा जोहत हो राम।[9]

भोजपुरी लोकगीतों में वात्सल्य रस के उभय पक्षों का वर्णन मिलता है। सोहरगीतों में जहाँ संयोग वात्सल्य का सुन्दर वर्णन देखने को मिलता है वहीं विवाहगीतों में वियोग वात्सल्य की मार्मिकता सबको पीड़ा देने लगती है। पुत्र को जन्म की सूचना मिलती है, उत्साह और उंमग से वातावरण झूम उठता है –

घरी रात बीतली पहर राति अवरी पहर राति हो
ए ललना आधी राति होरिला जनमलें महल उठे सोहर हो।[10]

भक्ति तो भारतीय संस्कृति का प्राण है। इसके बिना हम जीवन की यात्रा पूरी नहीं कर पाते है। भोजपुरी लोकगीत भक्ति–भाव से परिपूर्ण है। गीत चाहे जिस तरह के हो, उसमें भक्ति भावना को प्रधानता होती है। एक होली गीत में देवी की पूजा करते हुए, जनक की पुत्री सीता का वर्णन किया गया है, जिसमें पूरी भक्ति भावना झलकती है –

चली पूजन शैल कुमारी हो जनक दुलारी
सखियन संग गात सजि भूषण पहिरि पीताम्बर सारी।
अक्षत चन्दन बेल के पत्ता हो।
सब पूजति विधि–अधिकारी हो जनक दुलारी।[11]

भोजपुरी लोकगीतों में भयानक रस का वर्णन बहुत कम मिलता है, फिर भी कहीं–कहीं भयानक रस प्रभावपूर्ण ढ़ंग से प्रस्तुत हो जाता है। यह वर्णन शिव–विवाह गीत में देखा जा सकता है।

कथियन के शिव जी हंसुली बनाईलें कथियन के चनरहार
कथियन के शिव जी साजी बरियतिया हो कथी चढ़ी भइनी असवार।
गेंहुअन के शिवजी हँसुली बनाईले, करइत के चरनहार
भूत–वयतलवा शिव जी साजी वरियतिया हो बँसहा बैल असवार।[12]

भोजपुरी लोकगीतों में करूण रस प्रभावकारी नहीं है, पर कही–कहीं इस रस की सृष्टि भी होती हैं।

भोजपुरी लोगगीतों में करूण रस को स्थान बहुत कम मिला है, पर एकालाप के क्षणों में यह रस खुलकर सामने आते है। एक भोली–भाली बाल–विधवा अपने पति के मृत्यु के बाद पिता से रो–रोकर व्यथा कथा कहती है –

बाबा सिर मोरा रोवेला सेनुरा बिनु
नयनवा कजरवा बिनु ए राम।
बाबा गोद मोरा रोवेला बालक बिनु सेजिया कन्हइया बिनु ए राम।।[13]

भोजपुरी लोकगीतों में कहीं–कहीं वीभत्स रस भी देखने को मिलता है, फूहर स्त्री का वर्णन ही वह स्थान है, जहाँ लोकगीतों में बीभत्स रस आ गया है।

निहुरल–निरहुल फूहरो झेवना परोसेली
लारवा टपकि–टपकि जाय
दलिया में घीउवा डालेली फूहरो हो
दूधवा टपकि–टपकि जाय।[14]

यह सच है कि भोजपुरी लोकगीतों की कला अर्थात् काव्य–भेद रस, अंलकार, गुण–दोष या फिर छंद या लय को ध्यान में रखकर रचना नहीं की और नहीं इन वस्तुओं की यहाँ आवश्यकता ही है पर यह भी सच है कि इन स्वाभाविक लोकगीतों में कला कहीं–न–कहीं देखी जा सकती है। इन लोकगीतों की आत्मा उसकी सरलता स्वाभाविकता और निश्छलता में है।

संदर्भ :

1. छान्दोग्योउपनिषद 4/17/4/6
2. काष्यालांकार 15/2
3. पारम्परिक होली गीत
4. पारम्परिक होली गीत
5. पारम्परिक होली गीत
6. पारम्परिक पिंडिया गीत
7. पारम्परिक होली गीत
8. पारम्परिक होली गीत
9. पारम्परिक क्षँतसार गीत
10. पारम्परिक सोहर गीत
11. पारम्परिक होली गीत
12. पारम्परिक विवाह गीत
13. भोजपुरी लोकसाहित्य, पृ. 303
14. पारम्परिक गारी गीत

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

बाल विज्ञान – शेखर एक जीवनी के विशेष सन्दर्भ में

डॉ0 जयकुमारी के
असोसिएट प्रोफेसर
एम0जी0 कॉलेज, तिरुवनन्तपुरम्

भारतीय समाज एक जमाने में परिवार पर अधिष्ठित था। लेकिन आज के अणु परिवार में बच्चे भी एक मुख्य अंग हैं लेकिन उन्हें केवल शिक्षा के क्षेत्र में ही प्रवेश कराकर पालते हैं। उनके मन में कोई नहीं देखते हैं। उनके शंकाओं का समाधान देने के लिए समय किसी के पास नहीं है।

बच्चों के मन में कई शंकाएँ हैं। जैसे शेखर के बचपन में उनकी शिशु मानस की ग्रन्थियों में किस प्रकार आन्तरिक संघर्ष परिचालित होता था और यदि फ्रायड को मान्य कर जाये तो उनके चेतन मन से होने वाली कार्य किस प्रकार उनके अपने अन्तर चेतन और दमित चेतन से कठपुतली की तरह नियंत्रित होकर प्रकट होते थे साथ ही किस प्रकार उनके व्यक्तित्व में सामाजिक संदर्भ की दिशा आंकी जाती है– ये सारी बातें हरेक बच्चे के जीवन में परखकर देखनी चाहिए। शेखर के जीवन की कुछ घटनाएँ जो उसके शिशुमन को उद्घाटित करती है मूलतः आज के बच्चे के मन का दर्पण बिंब है।

आज की शिक्षा पद्धति तथा शिक्षकों से भी शेखर आश्वस्त नहीं दिखाई देता है। पिता यह कहने पर कि पढ़ना है कि नहीं तो वह ऐसा कहता है कि पढ़ूँ पढ़ाने वाला कोई है। शेखर के पिता क्रुद्ध हो उठते हैं। शेखर को ऐसा लगता है कि न्याय कहीं नहीं है। वह अन्याय के आगे झुकने को भी तैयार नहीं होता। वह हर बात तो अपनी तर्क की... पर कसकर देखना चाहता है और देखता है। शेखर स्कूल तो जाने लगता है, लेकिन खुद के प्रति उसमें अनास्था का भाव बना ही रहता है।वह स्कूल जाना बन्द कर देता है। न जाने से उसमें एक शक्ति पायी, जो वहाँ नहीं मिलता है। उसने अकेले होना की...। स्कूलों में टाइप बनते हैं। वह बना– व्यक्ति।

शेखर विद्रोही था। लेकिन वह स्वयं विद्रोही नहीं बना था। परिस्थितियों ने उन्हें विद्रोही बना दिया था। क्योंकि विद्रोही बनते नहीं उत्पन्न होते हैं। शेखर के विद्रोहों के पीछे परिस्थितियों के अतिरिक्त शेखर का अहंभाव भी सक्रिय दिखाई पड़ता है। डॉ0 नगेन्द्र के मत इस प्रकार प्रकट किया कि ''पिता की कठोरता को भी उसने जो एक भव्य रूप दिया, उसका एकमात्र कारण यही है कि उसने अपनी गौरव भावना और कठोरता के नीचे ऐसा कुछ अवश्य मिलता है जो बड़े अभिमान से उसके अहं को दुलराता है। माँ को उसके प्रति स्नेह नहीं था, यह नहीं कहा जा सकता। परन्तु वह बेचारी उसकी यह माँग पूरी करने में असमर्थ रही। उसने जीवनभर उन्हें खमा नहीं किया।''[1]

शेखर को सदा डांट–फटकार ही तो मिली, उसे वर्जनाओं का शिखर ही तो होना पड़ा। प्यार तो संभवतः उसे जैसे मिला नहीं। शेखर वय सन्धि की उम्र में आया या तो वह सरस्वती के अतिरिक्त उसके जीवन में कुछ नारियाँ आईं और कुछ अनुकूल प्रभाव डालकर दूर हो गई। मित्र प्रतिभा तितली पकड़ी आई और तितली सी ही फुरी हो गई। शारदा, तपोदिल से आक्रांत शांति, मणिक और शशि से शेखर को नारी जीवन की विभिन्नता और करुणता मिली। वय सन्धि प्राप्त युवक युवती को समाज समझ

नहीं पाता और उनके प्रति सामाजिक व्यवहार में परिवर्तन की आवश्यकता है। ऐसे समय उनकी बोलने चालने उठने बैठने आदि अनेक बातों में त्रुटियाँ देखकर क्षोभ होता है। यही आज की अवस्था है।

बच्चों को पाला–पोसा करना मानवीय कर्म है लेकिन जब हम कहते हैं कि बच्चों को मनुष्य बनाना माता–पिता की जिम्मेदारी है, तो इसमें यह भाव आता है कि बच्चे मनुष्य बनाये हैं। मनुष्य बनाते समय उसके बाल्य जीवन के हरेक पहलू पर इतना ध्यान देना चाहिए कहीं गलती न आये। बाल्यकाल तो शंकाओं का समय है। हर शंका का समाधान खुले नहीं पर देना है। जन्म, मरण, माता–पिता के सम्बन्ध हर तरह के शंका होता है।[2] उसका ठीक ठीक उत्तर देना ही है। अधिकांश माँ–बाप इसके लिए असमर्थ है। कभी यह असमर्थता बच्चों को बुरे रास्ते पर न चलने लायक बनाते हैं। शंकाओं का दबाना न चाहिए।

मध्यवर्गीय माता–पिता बच्चों के प्रति अपनी जिम्मेदारी के बारे में तीन तरह से सोचते हैं। एक सोच यह है कि हमारे माता–पिता ने जिस तरीके से हमको पालन–पोषण में वही तरीका अपनाया है चाहे वह तरीका बच्चों को अपनी हर उचित माँग को पूरा करने वाला आज्ञाकारी बच्चा बनाने के लिए दंड और पुरस्कार देने वाला तानाशाही तरीका ही न हो। दूसरी सोच यह है कि हमारे साथ जो बचपन में हुआ, वह बिल्कुल अन्यायपूर्ण है, और उसके कारण जो हम पर बीती– चाहे वह तरीका बच्चों की हर उचित अनुचित माँग करके बच्चों के बिगड़ने के साथ–साथ खुद को बिगड़ने, मसलन भ्रष्टाचार से पैसा लेने वाला बन जाने वाला तरीका ही क्यों न हो या तीसरी सोच यह है कि हम अब तक जो क्रुद्ध होता आया है, उससे अलग हटकर अपने बच्चों को इस तरह पालें कि वे आज की दुनिया में दूसरों को पीछे छोड़कर आगे निकल सकें सफल हो सकें और हम कुछ बनना चाहते थे और नहीं बन पाये, वह हमारे बच्चे बन सकें। वास्तव में ये तीनों के माता–पिता बहुत ही कन्फ्यूज्ड है और न तो बच्चों के बारे में कुछ जानते हैं, न माता–पिता की जिम्मेदारी के बारे में कुछ जानते हैं कि आज क्या हो रहा है और क्या किया जाना चाहिए।

पहली बात यह है कि मध्यवर्ग के बहुत से लोग गरीब माता–पिताओं को गैर मानते हैं जो उनके विचार से बच्चों की जिम्मेदारी उठाने में असमर्थ होते हुए भी करते चले जाते हैं। उनके विचार से गरीब लोग ऐसी अमानुषिक परिस्थितियों में स्वयं एकदम अमानुषिक हो जाते हैं और अपने बच्चों को कभी मनुष्य नहीं बना उनका यह विचार गलत और खतरनाक है। वे खुद को आदर्श माता–पिता समझते हैं, मगर खुद अपने बच्चों के साथ अव्यवहार ही करते हैं। बच्चों को आया, नौकर या ऐसे स्कूल के हवाले कर देते हैं, जो बच्चे की देखभाल कर सके। इस प्रकार का एक उदाहरण है– एक छोटे से परिवार में माता–पिता और दो बच्चे हैं। बड़ा लड़का छह साल का और छोटा दो–ढाई वर्ष का। माता–पिता दोनों डॉक्टर हैं। सुबह नौ बजे जाते हैं और रात को आठ–नौ बजे लौटते हैं। बच्चों के देखभाल के लिए उन्होंने आया रखी हुई थी। एक दिन वह दोनों बच्चों को घर में बंद करके चली गयी और लौटी नहीं। बड़े बच्चे ने अपने माता–पिता को फोन पर सब बताया तो उन्होंने उसे छोटे भाई का ख्याल रखने तथा रसोई में से खाने की चीज लेने के आदेश देकर कहा कि हम शाम तक आ जायेंगे। बच्चों को बंद घर में सुरक्षित मानकर उन्होंने ऐसा कहा होगा। अब जो आया रखी है, वह बच्चों के साथ तो रहती है, पर बच्चे अधूरे कपड़े पहने, बाल बिखरे और नंगे पैर बाहर खेलते हैं। आस–पास के दादियों, नानियों की पीढ़ी उनकी माँ को कोसती है कि उसे काम छोड़कर अपने बच्चों के साथ रहना चाहिए। लेकिन मम्मी–पप्पा की पीढ़ी के ज्यादातर लोगों का मानना है कि यही तो उनकी काम करने और पैसा कमाने की उम्र है। आखिर वे तो इन बच्चों के लिए तो कमाते रहे हैं। छोटे बच्चे कहते हैं कि इन दोनों के बड़े मजे हैं। कोई रोक–टोक नहीं जो मर्जी करो। मध्यवर्गीय परिवार की आज की अवस्था

यही है। आगे चलने पर बच्चे यही स्वातंत्र्य चाहते हैं। उन पर नियंत्रण रखना न चाहते हैं। माँ–बाप के आँखें तभी खोलते हैं जब ये बच्चे बुरी तरह से बिगड़ते हैं।

आज इंटरनेट बड़े काम की चीज है। लेकिन उसका इस्तेमाल कैसे–कैसे बेहुदा तरीकों से होता है। दो अजनबी ई–मेल पर मिल रहे हैं और कैमरे के जरिए एक–दूसरे को अपनी तस्वीरें भेज रहे हैं। एक अजनबी इन्टरनेट पर एक लड़की से कह रहा है कि अपने कपड़े उतारो और वह उतार रही है। फिर खबरें जाती है कि किसी लड़की की नंगी तस्वीरें दूसरों को भेजा जा रहा है। और यह काम बच्चे कर रहे हैं। यही आज की अवस्था है। हमारी संस्कृति इस प्रकार गिर गयी है। वैदिक संस्कार पर गर्व करने वाले हम इस प्रकार बन गये हैं हर बच्चे को ठीक तरह से पालन–पोषण करना माता–पिता की जिम्मेदारी है। यही इसका निष्कर्ष है। ज्यादातर माता पिता अपनी इस जिम्मेदारी को समझते भी हैं वे चाहते हैं कि उनके बच्चे स्वस्थ रहें, दीर्घायु हों, अच्छी शिक्षा पायें, बड़े होकर अच्छा कमायें–खायें और सुखी रहें। इसके लिए वे यथासंभव सब कुछ करते हैं।

आजकल के बच्चे अपने–आप में ही स्वतंत्र और संपूर्ण मनुष्य है और शिक्षा उसे सचेत, सामाजिक, सुसंस्कृत मनुष्य बनाने वाली चीज है। अमर्त्यसेन ने विकास को स्वतंत्रता के रूप में परिभाषित किया है और उसकी व्याख्या समता, क्षमता और जीवन की गुणवत्ता के रूप में की है। इसी दृष्टि से देखा जाये, तो बच्चों की जिम्मेदारी केवल माता–पिता पर भी निर्भर है।

मध्यवर्गीय परिवार के माँ–बाप अपने बच्चों की शिकायत करते हैं कि बच्चे बिगड़ जाते हैं, वे हाथ से निकल जाते हैं, बड़ों की कोई बात नहीं मानते हैं, अमीरों के बच्चों की नकल करते हैं। उन्हीं का सा खाना–पहनना चाहते हैं। स्कूल में पढ़ने तक जो बच्चे बड़े अनुशासन में रहते हैं, वे कॉलेज में प्रवेश करते ही उच्छृंखल हो जाते हैं। उन्हें कार चाहिए या मोटर बाइक, लारी जेब खर्च चाहिए। अपने जीवन में माता–पिता के भी कुछ जिम्मेदारियाँ होती हैं। बच्चों के देखभाल में, उनके व्यक्तित्व विकास में, उसे समझने में, किशोरावस्था के बच्चों के शंका दूर करने में भारी दायित्व है। यौन सम्बन्धी अनेक शंकाएँ होती हैं जिनका पूर्ण समाधान उन्हें मिलना चाहिए नहीं तो अनर्थ बन जाएगा। घर से उत्तर न मिले तो वह बाहर खोजने जायेंगे। वही अनर्थ होता है।

संदर्भ :

1. विचार और अनुभूति– डॉ0 नगेन्द्र, 148
2. शेखर एक जीवनी– अजेय, प्रथम भाग, 123

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

विनोबा भावे के भूदान आन्दोलन : एक अध्ययन

डॉ० कुमारी अनुपम प्रिया
सहायक शिक्षिका
मध्य विद्यालय, अरैया
मानसी, खगड़िया (बिहार)

जब तक धरती पर भूमि हीन है तब तक जमीन की प्रासंगिकता खत्म होने वाली नहीं है। जमीन मनुष्य की पहचान है। भारत में भूमिदृवितरण का मसला बड़ा पेचीदा है। इस संबंध में सुसंगत अथवा आधारित व्यवस्था का सर्वथा अभाव है। मनुष्य भूमि अनुपात की यह असमान स्थिति भयावह और कई रूपों में तो अत्यन्त बिद्रुप है। भूमि अधिग्रहण संबंधी विवाद या भूमि खरीद (विशेषतः आर्थिक क्षेत्र) का हाल का अनुभव काफी बुरा रहा है। यह सरकारी तंत्र की नाकामियत और शासकीय अतिवादिता का ऑरिजनल डिसक्लॉजर है। मामला चाहे उत्तर प्रदेश के भट्टा परसौल का हो या फिर उड़ीसा के नियमागिरी का, जन प्रतिनिधियों की पहुँच बाद मे संभव होती है, जबकि कॉरपोरेट घराने एवं बहुराष्ट्रीय कंपनियों को प्रदान किया गया राज्यादेश वहाँ पहले सेंधमारी कर जाता है। इस समय पूरा देश राजनीतिक अवसरवाद का शिकार है। जमीनी मुद्दे गायब हैं और जो चर्चे मे हैं उसका लोक मन और लोक–जीवन से लेना–देना कुछ भी नही है।

इस कठिन घड़ी में विनोबा भावे को याद किया जाना स्वाभाविक है। संत विनोबा भावे इस समस्या से सन्दर्भित जमीनी पहलकदमी शुरू की थी। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद भूमिहीनता की समस्या को उन्होंने अपने तरीके से हल करना चाहा। विनोबा ने जो तरीका अपनाया वह यह कि बड़े जोत वाले किसानों को स्वेच्छापूर्वक कुछ जमीनें छोड़ देने के लिए मनाया जाए। सन् 1951 में विनोबा ने उस वक्त के कम्युनिष्टों के प्रभाव वाले तेलांगना इलाके में पैदल यात्रा की। पोथमल्ली गाँव में उन्होंने वहाँ के जमींदार रामचंद्र रेड्डी को सौ एकड़ जमीन देने के लिए राजी कर लिया। इस घटना ने इसे देश व्यापी अभियान में बदलने को प्रेरित किया जिसे 'भूदान' आंदोलन कहा गया। स्वयंसिद्ध संकल्प की तरह शुरु किये गये इस आंदोलन को विनोबा अपने अथक प्रयास से सफल बनाने में जुटे रहे। उन्होंने तेलंगाना क्षेत्र के करीब 200 गाँवों की यात्रा कर लगभग 1200 एकड़ भूमि प्राप्त की। उत्तर भारत बिशेषतया बिहार और उत्तर प्रदेश में भूदान के प्रभाव अत्यंत असरकारी साबित हुए। अपने इस भूदान यज्ञ के मार्फत विनोबा ने 40 लाख एकड़ से अधिक की जमीनें प्राप्त की।

गाँधी के नैतिक एवं आध्यात्मिक उत्तराधिकारी एवं सत्याग्रही के रुप में प्रसिद्धि पाये विनोबा के लिए यह सब कुछ कर पाना इतना आसान नहीं था। वे इस बात से अवगत थे कि साधारण नागरिक में जन–सेवा की भावना ढंकी–छिपी है। लोकहित की प्रेरणा उनके लिए हमेशा प्रधान नही हुआ करती है। उन्हें इस बात का पूरा मान था कि दुर्बल हृदय द्रव्य के लोभ को पूरी तरह छोड़ नही सकता, इसलिए उसकी मन की उड़ान अधिक से अधिक दान तक ही हो सकती है। त्याग की बात वह शायद ही सोच

सके । अतः यह आवश्यक है कि जनमानस को स्वेच्छिक दान के लिए प्रेरित किया जाये। उन्हें यह बतलाया जाय कि जीवन भी बाँटो, मृत्यु भी बाँटो, गरीबी भी बाँटो, अमीरी भी बाँटो, काम भी बाँटो, आराम भी बाँटो, मालकियत भी बाँटो, मिल्कीयत भी बाँटो। विनोबा का भूदान आंदोलन स्व–प्रेरणा के ऐसे ही प्रतिबद्ध आश्वासन और बैचारिक योग से निर्मित हुआ था। इस आंदोलन में सामाजिक–आर्थिक विकेन्द्रीकरण की सार्वभौम चेतना एवं जन–राग व्याप्त थी। गाँधी ने जिन सिद्धांतों को राजनीतिक क्षेत्र में लागू करने की चेष्टा की, जिनके लिए स्वदेशी और ग्रामोद्योगों का प्रतिपादन किया और अस्पृश्यता निवारण जैसे मूल्यों के लिए हमें झाड़ू जैसे प्रतीक दिए, उन सारे मूल्यों को एक बुनियाद देने के लिए और उन्हें आर्थिक क्रांति के साथ जोड़ने के लिए विनोबा ने एक नए आंदोलन का उपक्रम इस देश में किया, जिसे हम भूदान यज्ञ आंदोलन कहते हैं।

विनोबा ने 'सर्वोदय' की स्थापना को अपना प्रथम कर्तव्य माना और इसीलिए उन्होंने 'भूदान यज्ञ आंदोलन' को सर्वोदय का प्रथम चरण की संज्ञा दी है। भूदान यज्ञ आरंभ करते हुए विनोबा ने बताया था कि यह ब्यक्तियों द्वारा स्वीकारकर लेना चाहिए कि समस्त भूमि ईश्वर की है। यह सोचकर ब्यक्तियों को प्रारम्भ मे अपनी भूमि का कुछ भाग दान दे चाहिए।[3] विनोबा के अनुसार पुराने जमाने मे हमारे बुजुर्ग शांति की स्थापना के लिए यज्ञ करते थे। गाँवों मे फैली अशांति को दूर करने के लिए मैंने भी वह 'भूदान यज्ञ' शुरु किया है। इसलिए सर्वसाधारण के कल्याण के लिए हर व्यक्ति को इसमे भाग लेना चाहिए।[4] भूदान यज्ञ मे विनोबा का अमीरों और गरीबों के प्रति एक ही नारा है–भूखी जनता अब न सहेगी, धन और धरती बँटकर रहेगी।[5] इसी में पूँजीवादी अर्थ व्यवस्था की मौत है, इसलिए विनोबा का भूदान यज्ञ एक वैज्ञानिक तरीका है।

विनोबा का भूदान यज्ञ आंदोलन जिसमे आगे चलकर ग्राम दान, श्रम दान, सम्पत्ति दान आदि बात भी सम्मिलित हुई के संबंध मे 'एबरीमेंस विकली' की टिपण्णी बड़ा महत्वपूर्ण है। इस टिपण्णी में कहा गया है कि भूदान ग्रामदान आंदोलन जो तेलंगाना के विद्रोही किसानों के हिंसात्मक उदर से पैदा हुआ था, विश्व का सबसे पहला बहुचर्चित आंदोलन है, जिसमे कृषकों के समस्या का समाधान स्वेच्छिक पद्धति से करने का प्रयास है अर्थात धनी–भूपतियों द्वारा अपनी जमीन को भूमिहीनों के बीच बाँटने का प्रयास । विनोबा ने समाज मे भूमिदान के आधार पर जिस क्रांतिकारी आंदोलन की शुरुआत की है, उसके द्वारा यज्ञ के तीन उद्देश्यों की पूर्ति होगी। इसे हम निम्न प्रकार से कह सकते हैं –

1. इसके द्वारा समाज में समतापूर्ण वितरण और ग्रामीकरण किया जा सकेगा और तब बुनियादी शिक्षा द्वारा लोगों को सामाजिकरण एवं आर्थिक क्रांति के लिए प्रशिक्षित किया जा सकेगा।
2. इसके द्वारा व्यक्तिगत स्वामित्व की भावना समाप्त होकर लोकमानस शुद्ध होगा।
3. इसके द्वारा सम्य योगी समाज की रचना का महान कार्य सम्पन्न होगा।

इस प्रकार 'भूदान यज्ञ का आंदोलन शांति और प्रेम मार्ग पर चलकर समाज में परिवर्तन लाना चाहता है, वह अहिंसात्मक क्रांति में विश्वास रखता है। भूदान आंदोलन एक सहमति से क्रांति का आंदोलन है।[7]

विनोबा भावे भूदान और ग्रामदान के माध्यम से जो सामाजिक–आर्थिक मैत्री और क्रांतिकारिता शुरु की थी वह आज पूरी तरह निष्फल हो चुकी है। कहना न होगा कि भीमकाय नई गैर–बराबरी पहले से मौजूद असमानता को और बढ़ाने का काम कर रही है। एक शोध अन्वेशक की हैसियत से

यदि हम औपनिवेशिक काल के दस्तावेजों को खुरचें तो यह साफ हो जायेगा कि ब्रिटिश शासनकाल में पूँजी का इस्तेमाल जमीन की स्वामित्व की खरीद के लिए किया जाता था । धनी लोग ऊँची ब्याज दर पर छोटे और मंझौले किसानों को कर्ज देते थे और कर्ज की राशि चुकता न कर पाने की हालत में वे उन्हें अपनी ही जमीन से बेदखल कर देते थे। परिणामतः नया धनिक वर्ग जमीन का स्वामी बनता गया और दूसरी तरफ छोटा और मंझौला किसान भूमिहीन होता गया। इसके अलावा सामंती जमींदारों द्वारा भूमि के स्वामित्व से संबंधित जातीय प्रभुत्व जो सामंती प्रभुत्व के मुकावले कहीं ज्यादा गहरे जड़ जमाया हुआ था, ने गाँव में रहनेवाली जनता के जीवन को और भी दारुण बना दिया।

आजादी के पश्चात जमींदारी प्रथा का उन्मूलन कर दिया गया जो कि अंग्रेजी शासन के दरम्यान सामंती ताकत के रुप मे फले–फूले थे। इसके बाद लोगों में यह आस जगना स्वाभाविक ही था कि जमीन के बड़े हिस्से को जमींदारों के चंगुल से मुक्त होने के बाद उनका पुर्नवितरण किया जाएगा। आसार तो यह भी थे कि इस प्रथा के उन्मूलन होने से रैयतों पर कोई अतिरिक्त भार नही पड़नेवाला है जो उपकरों या किरायों के रुप में जमींदार पहले वसूला करते थे। लेकिन भूमि वितरण का सही तरीका नही अपनाए जाने से फायदा सिर्फ उन रैयतों को हुआ जो मध्य वर्ग से आते थे। इससे निचले वर्ग बटाईदारों और मजदूरों के विशाल भूमिहीन वर्ग को कोई फायदा नही हुआ। नतीजतन भूमि सुधारों को कार्यान्वित करने का एक महत्वपूर्ण उद्देश्य जो ग्रामीण समाज में आर्थिक और सामाजिक न्याय की स्थापना करना भी था पूरा नही किया जा सका।

रामचन्द्र गुहा ने अपनी पुस्तक श्भारत गाँधी के बाद में इस बारे में गहरी छान–बीन की है। वे जिक्र करते हुए कहते हैं कि उनकी भलाई भूमि सुधार के दूसरे चरण से ही संभव हो सकती थी जहाँ एक तय सीमा से ज्यादा जमीन रखने पर सीलिंग लगा दी जाती और और अतिरिक्त जमीन भूमिहीनों में बाँट दी जाती। यह एक ऐसा काम था जिसे सरकार करने में अक्षम थी या फिर अनिच्छुक थी।" जबकि गाँधी इस अनिवार्य जरुरत पर जोर देते हुए अपनी पुस्तक 'ग्राम स्वराज्य' मे इसका विस्तार पूर्वक उल्लेख करते हैं "प्रत्येक प्राणी को भोजन पाने का अधिकार है। भारत के प्रत्येक व्यक्ति को पूराहम मिलना चाहिए ताकि वह अपना जीवन निर्वाह भलीभाँति कर सके और यह ध्येय सर्वत्र तभी सिद्ध किया जा सकता है जब जीवन की प्राथमिक आवश्यकताओं के उत्पादन के साधन जन साधारण के हाथों में हो। ये साधन सब मनुष्यों के लिए उसी तरह बिना मुल्य सुलभ होना चाहिए, जिस तरह ईश्वर की उत्पन्न की हुई हवा और पानी सबके लिए शुलभ है या होने चाहिए। दूसरों का शोषण करने के लिए इन साधनों को व्यापार की बस्तु नही बनाना चाहिए। उन पर किसी देश, राष्ट्र अथवा समह का एकाधिकार अन्याय पूर्ण माना जाना चाहिए इस सादे सिद्धांत की उपेक्षा करने से ही वह गरीबी और कंगाली पैदा हुई है, जो आज हम न केवल अपने इस अभागे देश मे परन्तु संसार के अन्य भागों में भी देख रहे हैं। विनोबा का भूदान इसी समस्या के अहिंसक समाधान का एक प्रयास था।

यह सही है कि विनोबा भावे का यह मिशनरी निर्माण कार्य बाद के कुछ बर्षों में शिथिल पड़ता हुआ दिखाई दिया। वजह यह है कि विनोबा के इस यांत्रिक आंदोलन के अंदरुनी खामियों और बिसंगतियों में सदा सर्वदा के लिए लील लिया। शुरु में उनके इस कार्य को राष्ट्रव्यापी लाकप्रियता एवं प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। कई लोगों ने इसे हिंसक क्रांति का गाँधीवादी विकल्प तक कहा। लेकिन बाद का आकलन और परिणाम उतना उत्साह जनक नही था। भूदान प्रारुप के आलोचकों का कहना था कि

दान में मिली जमीनों का वितरण ठीक ढंग से नही किया जा सका। जिससे अधिकतर जमीन भूमिहीनों तक कभी पहुँच ही नही पाई और कई सालों बाद धीरे–धीरे उसे उसके मूल मालिकों को ही लोहा दिया गया। इसके अलावा भूदान में जो ज्यादातर जमीनें प्राप्त हुई थी वह रेतेली और पथरीली थी जो खेती करने लायक नही थी। कई जमीनें ऐसी भी थी जो विवादों और मकदमे बाजी के घेरे में फंसी थी। लाखों एकड भदान में प्राप्त जमीन बाँटने को रह गयी. बहत सारे दान–पत्र ऐसी है, जिनकी संपुष्टि नही हुई, बदलते संदर्भ में कई जगहों पर भूदान की जमीन शहरीकरण की चपेट में आ गयी है। इस तरह, भूदान आंदोलन की जमीन पर शुरु हई सामाजिक–आर्थिक क्रांतिधर्मिता एक भव्य नाकामयाबी के रुप में समाप्त होती दिखाई देती है। इस पराभव में सरकार की पंचवर्षीय योजना भी काफी हद तक जिम्मेवार थी। आर्थिक पैमाइसकार भूमि समस्या की स्थिति से निपटने के लिए शासन व्यवस्था को नये–नये तरीके सुझा रहे थे, जिनमें से एक था–उत्पादन, वितरण और विनमय के साधनों का राष्ट्रीयकरण किया जाना।

साठ के दशक में कठिनाईयाँ और संघर्ष के जिस मार्ग पर विनोबा ने कदम बढ़ाया था, वह निश्चय ही दुरगामी और प्रभावी परिणाम देनेवाला था, लेकिन उसकी संभावनाएँ परिसीमित थी। दूर द्रष्टा भावे भूदान आंदोलन की सीमायों को पहचान चुके थे। अतः उन्होंने ग्राम दान के नये संकल्प को ठान लिया। अब उनका सारा जोर लोगों को स्वावलम्बी बनाने पर केन्द्रित हो चुका था। उन दिनों जयप्रकाश नारायण जो कि विनोबा के भूदान आंदोलन को जमीनी नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। बाद के दिनों में भूदान के नये विकल्प के बारे में सोच रहे थे। इसका स्पष्ट मानना था कि देश में मनुष्य भूमि का जो अनुपात है और जिस गति से जनसंख्या बढ़ रही है, उसे देखते हुए ग्रामीण आवादी यदि केवल भूमि पर निर्भर रहेगी तो कृषि के विकास के वावजूद वह उत्तरोत्तर निर्धन बनती जायेगी। इसलिए औद्योगिकरण का घनिष्ट संबंध कृषि से जुड़ना चाहिए।बहरहाल विनोबा ने भूदान एवं ग्राम दान का जो आंदोलन चलाया भूमि सुधार के संदर्भ में आज भी उसकी प्रासंगिकता है। जमीन की समस्या वास्तव में हिन्दुस्तान की समस्या है जिसका दूसरा नाम कृषि है। 1947 में आजादी से लेकर अवतक किसी सरकार या राजनीतिक दल ने नही कहा कि देश कृषि प्रधान नही है। कृषि को यहाँ जीवन–शैली माना गया और सरकारों की यह जिम्मेवारी तय की गयी कि वह इसे सुरक्षित रखे। विनोबा के भूदान आंदोलन ने भी इसी मुद्दे को उठाया। आगे चलकर यह योजना ग्राम दान में तब्दील हुई। गाँव को एक इकाई के रुप में देखा गया और कहा गया कि कृषि से संबंधित जो भी समस्या हो या इसके विकास की बात हो, पूरे गाँव के संदर्भ में हो। आज की कृषि समस्या के संदर्भ में यह पूरी तरह प्रासंगिक है। इस सिद्धांत या रणनीति के तहत गाँवों की रचना से देश की कई समस्याओं का समाधान हो सकता है। गाँवों को इकाई मानकर सामाजिक सुधार की दृष्टि से भी यह फार्मूला प्रासंगिक है। यह कहना गलत होगा कि सर्वोदय के सिद्धांतों की आज उपयोगिता या प्रासंगिकता नही रह गयी है। यह आज भी उतना ही प्रासंगिक है, जितना 1950–60 के दशक में था। जरुरत है तो उसे सही तरीके से अमल में लाने की। इसके लिए बेहतर वातावरण पंचायती व्यवस्था में हो सकता है, लेकिन मौजूदा पंचायती व्यवस्था में नहीं। बल्कि उस पंचायती व्यवस्था में जहाँ शक्तियाँ नीचे से उपर तक जाती हों न कि उपर से नीचे आती हो। मौजूदा व्यवस्था में पंचायतों को जो भी शक्तियाँ मिली हुई है, उनका स्त्रोत केन्द्र है।

विनोबा के विचारों की प्रासंगिकता आज भी बनी हुई है। देश में हिंसा का वातावरण है। अहिंसक तथा न्याः । समाज की हमें जरुरत है। ऐसे में गाँधी के साथ भावे के विचार आदर्श विकल्प

की तरह है। भावे की विचारधारा पर कभी समय की धूल नही जम सकती। जब तेलंगाना मे नक्सली समस्या थी तब विनोबा ने वहाँ के जमींदारों से बात कर उन्हें भूदान के लिए प्रेरित किया और इस तरह स्वतंत्र भारत का अवतक का सबसे बड़ा अहिंसक आंदोलन खड़ा हुआ। विनोबा ने कहा था क्रांति, क्रांति के लिए नही अपितु समस्याओं के समाधान के लिए होनी चाहिए और 'भूदान यज्ञ समस्याओं के समाधान का एक सरल रास्ता है। नक्सली आंदोलन अब हिंसक हो गया है। ऐसे में देश में विनोबा जैसे विचारक की जरुरत महसूस होती है जो अहिंसा के संदेश और समाज में अपने आह्वान के साथ आम सहमति विकसित कर समस्याओं का समाधान निकाल सके।

संदर्भ :

1. Tondon, Vishwanath; The Social and Political Philosophy of Sarvodaya After Gandhi (Varanasi; Sarva Seva Sang, 1965) P-&4.
2. Narayan, Sriman; Vinoba : His Life and Work (Bombay Popular Prakashan, 1970) P- & 51.
3. भावे विनोबा : भूदान यज्ञ, अखिल भारत सर्व सेवा संघ प्रकाशन, वर्धा 1954, पृ. 190.
4. नारायण श्रीमन्न : ऋषि विनोबा भावे, सर्वसेवा संघ प्रकाशन, वर्धा 1954, पृ. 190.
5. ठाकरा विमल : भूदान दीपिका : भूदान यज्ञ तथा संपत्ति दान यज्ञ का हृदयग्राही विवेचन, वर्धा, सर्व सेवा संघ, 1954 पृ. 18.
6. एबरीमेंस वीक्ली रू जून 15, 1975. पृ.
7. डॉ. आर. सी. गुप्त : कतिपय राजनीतिक विचारक, कमल प्रकाशन इन्दौर, पृ. 412.
8. भावे, विनोबा : ग्राम पंचायत, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, 1967, पृ.7.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

डॉ० अंबेडकर का सामाजिक न्याय

अजित कुमार भारती
शोधार्थी
राजनीति विज्ञान विभाग
सि०का०मुर्मू वि०, दुमका
(झारखण्ड)

सामान्यतः निष्पक्ष या पक्षपात रहित व्यवहार या निर्णय न्याय कहलाता है और जब एक समाज अपने सभी व्यक्तियों के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करता है तो उसे 'सामाजिक न्याय' कहते हैं।

डॉ. भीमराव अंबेडकर के अनुसार सामाजिक न्याय स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व का ही दूसरा नाम है। इस तरह स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व रूपी 'त्रयी–सिद्धांत' डॉ. अंबेडकर के सामाजिक न्याय का अनिवार्य तत्त्व है। इस संबंध में डॉ. डी. आर. जाटव लिखते हैं, "डॉ. अंबेडकर ने उक्त त्रयी सिद्धांत का अनुसरण इसलिए किया, क्योंकि उसमें निहित आदर्श न केवल दलितों या फिर सभी भारतीयों अपितु संपूर्ण मानव प्राणियों के लिए हितकारी है। इन तीनों आदर्शों में इतना घनिष्ट संबंध है कि उन्हें एक दूसरे से पृथक करना संभव नहीं होगा। यदि कोई व्यक्ति स्वतंत्र है, तो वह समान रूप से अन्य लोगों को भी स्वतंत्र समझेगा। इससे समता की भावना जागृत होगी और यही भावना बंधुत्व को अभिव्यक्ति देगी। एक की मान्यता और व्यवहार दूसरे पर आश्रित हैं।"[1]

सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए डॉ अंबेडकर ने दो स्तरों पर कार्य किया। एक तो उन्होंने अन्यायपूर्ण हिंदू समाज–व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष तेज किया और दूसरा स्वतंत्रता, समानता एवं भ्रातृत्व पर आधारित नए समाज के निर्माण के प्रयास किए।

उन्होंने सामाजिक न्याय की स्थापना के लिए कई रचनात्मक कार्य किए। उन्होंने कमजोर तबके में आत्मविश्वास जगाया और उन्हें 'शिक्षित बनो, संगठित हो एवं संघर्ष करो' का 'मंत्र' दिया। उनमें प्रयासों से स्वतंत्र भारत के संविधान में सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक न्याय की स्थापना का संकल्प व्यक्त किया गया और पीड़ित एवं वंचित लोगों के लिए 'सुरक्षात्मक–उपाय' तथा 'सुविधालब्ध–उपचार' का प्रावधान किया गया। इससे दलितों, पिछड़ों, अल्पसंख्यकों, आदिवासियों एवं महिलाओं की स्थिति में सुधार हुआ।

वर्तमान और भविष्य : आज 'सामाजिक न्याय' के संघर्ष को रोकने के लिए ब्राह्मणवाद ने साम्राज्यवाद के साथ गठजोड़ कर लिया है। इस तरह शोषण एवं अन्याय के नए–नए रूप सामने आ रहे हैं। वैश्वीकरण, उदारीकरण और निजीकरण के नाम पर प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जे की होड़ चल रही है। आदिवासियों को जंगलों से भगाया जा रहा है, किसानों की जमीन छीनी जा रही है और परंपरागत रोजगारों एवं उद्योग–धंधों को नष्ट किया जा रहा है। कुल मिलाकर स्थिति बड़ी गंभीर है और विषमता की खाई दिन–प्रति–दिन गहरी एवं चौड़ी होती चली जा रही है।

आज सामाजिक न्याय के विरोधी लगातार अपनी सक्रियता दिखा रहे हैं। दलितों के प्रति अत्याचार और डॉ. अंबेडकर के अपमान की घटनाएँ आज भी जारी है। कई लोगों द्वारा डॉ. अंबेडकर की निंदा करने और उनकी तुलना में महात्मा गाँधी या मार्क्स के विचारों को श्रेष्ठ बताकर डॉ. अंबेडकर के प्रयासों को नकारने की कोशिशें चल रही है। ऐसी ही एक दुर्भावनाग्रस्त कुचेष्टा भाजपा नेता अरूण शौरी ने अपनी पुस्तक 'वरशिपिंग फाल्स गॉड्स' में की है। इस संदर्भ में वरिष्ठ पत्रकार कृष्णन दुबे लिखते हैं "अगर दलितों को अंबेडकर के नाम और काम से प्रेरणा मिलती है, अगर सत्ता और राज्य पर काबिज उच्च वर्ग का शिकंजा टूटता है, तो एक अरूण शौरी तो क्या ऐसे लाखों अरूण शौरियों को जरूर कष्ट होगा। वो लोग पोथे–दर–पोथे लिख सकते हैं, पर इससे क्या फर्क पड़ेगा। वैसे भी हजारों सालों से वेद, वेदांत, स्मृतियाँ और पुरानों के ढेर क्या पहले से नहीं थे?[2]

ब्राह्मणवादी ताकतों के द्वारा 'सामाजिक न्याय' के आंदोलन को 'डायर्ब्ट' करने की कोशिशें भी चल रही है। उत्तर प्रदेश में 'सर्वजन समाज भाईचारा' और 'सोशल इंजीनियरिंग' के नाम से शुरू हुआ दलित ब्राह्मण गठजोड़ इसी का सामाजिक न्याय – वर्तमान एवं भविष्य एक उदाहरण है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि डॉ. अंबेडकर भी सामाजिक समता एवं भाईचारे के लिए दलित–ब्राह्मण सहयोग के हिमायती थे। लेकिन, उत्तर प्रदेश का संबंधित गठबंधन राजनीतिक–स्वार्थ एवं सत्तालोलुपता से प्रेरित एक अवसरवादी गठबंधन है। इस सम्बन्ध में वरिष्ठ लेखक डॉ. श्यौराज सिंह बेचौन ने लिखा है "उत्तर प्रदेश में हो रहा राजनैतिक उद्देश्य पूर्ति के लिए दलित–ब्राह्मण गठबंधन सामाजिक समता के लिए नहीं है। बसपा में आ रहे ब्राह्मण–कायस्थ (सवर्ण) कैडर बनने के लिए नहीं आ रहे हैं, नेतृत्व पर कब्जा करने आ रहे हैं। वैसे भाजपा एवं कांग्रेस भी अनुसूचित जाति मोर्चा बनाती हैं, वहाँ भी दलितों को करीब लाया जाता है। लेकिन, वोट प्राप्त करने के लिए, नेतृत्व देने के लिए नहीं।"[3]

इधर, ब्राह्मणवादी ताकतें आरक्षण को 'अवसर की समानता' के प्रतिकूल बता कर समाप्त करने की माँग कर रही हैं। जबकि, जो दलित एवं पिछड़े आरक्षण का लाभ लेकर सामाजिक, आर्थिक एवं राजनैतिक रूप से सबल हो गए हैं, वे भी इसके 'मलाई' को छोड़ने के लिए राजी नहीं है। यह दोनों ही स्थिति सामाजिक न्याय के प्रतिकूल है। दरअसल, सामाजिक–न्याय का तकाजा है कि आरक्षण को युक्ति–संगत आधार पर पीड़ितों एवं वंचितों के हित में लागू किया जाए। इसे वर्गीय दबाव, स्वार्थ या सत्ता की राजनीति के तहत लागू करना समाज के लिए अहितकारी है।

कुल मिलाकर, वर्तमान परिदृश्य में वर्ण–व्यवस्था एवं जाति–व्यवस्था के खिलाफ संघर्ष बिखर गया है और नव वर्णवाद नव ब्राह्मणवाद का उदय हुआ है। इसके साथ ही सामाजिक न्याय का नारा सत्ता और सुविधा प्राप्ति की सीढी बनकर रह गया है। इतना ही नहीं जो लोग इस सीढी के सहारे समाज की मुख्यधारा में स्थापित हो रहे हैं, वे भी ब्राह्मणवादी मानसिकता से ग्रसित हैं और उन्हें भी अपने समाज के अन्य लोगों को अधिकार एवं न्याय दिलाने में दिलचस्पी नहीं है। डॉ. अंबेडकर ने भी अपने जीवन के अंतिम क्षणों में इस ओर इशारा करते हुए कहा था "जो कुछ भी मैं प्राप्त कर सका, उससे कुछ पढ़े–लिखे लोग मजा ले रहे हैं और वे अपने कपटपूर्ण कार्य–कलापों के कारण बिल्कुल व्यर्थ हैं। उनके मने में अपने दलित भाईयों के प्रति कोई सहानुभूति नहीं है। वे तो मेरी परिकल्पना से भी आगे निकल गए। वे केवल अपने लिए और अपने हित लाभ के लिए जी रहे हैं। उनमें से कोई भी सामाजिक कार्य करने को तैयार नहीं है। वे अपनी ही तबाही के राह बना रहे हैं।[4] अतः, सामाजिक न्याय के लिए संघर्ष करने वाले लोगों को निहित स्वार्थों से ऊपर उठकर कार्य करने की जरूरत है।

निष्कर्ष : डॉ. अंबेडकर का सामाजिक न्याय काफी व्यापक है। इसमें आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक, सांस्कृतिक, विधिक, प्राकृतिक इत्यादि सभी प्रकार का न्याय सम्मिलित है। यह एक आदर्श समाज–व्यवस्था के निर्माण की सतत् 'प्रक्रिया' है। इस प्रक्रिया को आगे बढ़ाने के लिए आज फिर से नए 'भीमों' की जरूरत

है। जैसा कि कवि राम गोपाल बेबस लिखते हैं "बहुत बँटे हैं अब न और बाँटो लोगों को न बढ़ाओ आपसी रंजिश न तराशो दिल के जख्म, उजड़ चुकी है कई बार यह सुनहरी बस्ती लगेगी कई उम्र इसे फिर से बसाने के लिए खपा दी उम्र मसीहों ने बेहतरी के लिए फिर भी बदला नहीं जमाने का पुराना मिजाज, बदलना मुश्किल है इस जमात को किसी एक के लिए, जरूरत है कि आज हर कोई भीम बने मनु के अक्स को धरती से मिटाने के लिए।[5]

संदर्भ :

1. जाटव, डी.आर.; डॉ. अंबेडकर का त्रयी–सिद्धांत, समता साहित्य सदन, जयपुर–302005, प्रथम संस्करण : 1989, पृ. 16.
2. दुबे, कृष्णन; समकाल, बहादुरशाह जफर मार्ग, नई दिल्ली, 1–15 अप्रैल 2008.
3. बेचौन, डॉ. श्यौराज सिंह, हिंदुस्तान, कस्तूरबा गाँधी मार्ग, नई दिल्ली, 03 जून 2005, संपादकीय पृष्ठ.
4. रत्तु, नानक चंद; डॉ अंबेडकर : जीवन के अंतिम कुछ वर्ष, किताब घर प्रकाशन, नई दिल्ली.
5. बेबस, राम गोपाल; जिंदगीनामा, नेशनल बुक ट्रस्ट, नई दिल्ली, 1999, पृ. 4–5.

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

बाजारवाद की संस्कृति में स्त्री

डॉ0 अरुण कुमार मिश्र
असि0 प्रोफेसर, हिन्दी
एम0डी0पी0जी0 कॉलेज, प्रतापगढ़
पता– 245बी/178 एलनगंज
प्रयागराज–211002

बीसवीं सदी के अंतिम चार दशकों ने वैश्विक स्तर पर बाजार की अवधारणा को बढ़ाया। जहाँ नैतिकता, आचरण, सम्वेदना, पारम्परिकता आदि को तिलांजलि दे दी गयी। उपभोक्तावादी दौर में इंसान जिस मोड़ पर खड़ा है, वहाँ बाजार ही बाजार है। कहने को तो बाजार का व्यापक विस्तार हो चुका है लेकिन वह व्यक्ति की जरूरतों को पूर्ण करने के बजाय उसकी इच्छाओं को बढ़ाने का कार्य कर रहा है। परम्परागत परिभाषा के अनुसार, बाजारवाद प्रबंधन की एक प्रक्रिया है, जिसका उद्देश्य बाजार की पहचान कराना और उपभोक्ता की जरूरतों को पूर्ण कर उसे संतुष्ट करना है। किन्तु मौजूदा दौर में बाजार ने अपनी यह परिभाषा बदल ली है। क्योंकि वह अवसर पहचानने के बजाय अवसर बनाता है। इसलिये कहसकते है कि वह लोगों की मनोवृत्ति बनाता है। उदारवाद में व्यक्ति को उच्चतम स्थान दिया गया है। नव–उदारवाद की शुरूआत 1960 ई0 के दशक से मानी जाती है। नव–उदारवाद ने मुक्त व्यापार खुला बाजार, पश्चिमी लोकतांत्रिक मूल्य और संस्थाओं को प्रोत्साहित किया। नव–उदारवाद ने अंतर्राष्ट्रीय सीमाओं को लघु रूप देकर बाजारवाद को एक विस्तृत रूप प्रदान किया।

वैश्वीकरण तो एक तरह का समुद्र मंथन है क्योंकि इसने 'वसुधैव कुटुम्बकम' को चरितार्थ किया। तकनीकी, आर्थिक और सांस्कृतिक परिस्थितियों ने वैश्वीकरण को उच्चतम् स्तर पर पहुँचाया है तात्पर्य है कि वैश्वीकरण इंसानों के उद्देश्यों और अवसरों को निर्धारित कर रहा है। साथ ही प्रभावित भी कर रहा है। कोई भी अवसर एक जगह पर न होकर वैश्विक स्तर पर है। भौतिकवाद ने वैश्वीकरण को शक्ति प्रदान की है। सालों पहले कबीर ने इस दुनिया को एक हाट कहा था– 'पूरा किया बिसाहुणा, बहुरि न आवौं हट्ट' अर्थात् आज कबीर की वाणी सौ प्रतिशत सच साबित हो रही है, जब हम समाज और संबंधों को बाजार में तब्दील होता देख रहे हैं। पहले बाजारवाद को लेकर जो धारणा विद्यमान थी वह प्रायः मूक खरीदार के रूप में थी लेकिन अब स्थिति बदल गई है।

अब उपभोक्ता मात्र मूक खरीददार न होकर एक सक्रिय व जागरूक उपभोक्ता के रूप में अपनी भूमिका निभा रहा है। शीतयुद्ध वह समय था जब उपभोक्तावाद विश्व भर में उभर रहा था। पश्चिम में यह आंदोलन साल 1950–60 में उभरा। लेकिन भारत में उदारीकरण का दौर 1990 के बाद शुरू होता है। सूचना संजाल ने उपभोक्तावाद और बाजारवाद को एक नया मंच प्रदान किया। साथ ही सोशल मीडिया साइटों ने इसे एक नये दौर में पहुँचा दिया। आम उपभोक्ता को जब उपभोक्तावाद ने ललचाना व लुभाना शुरू किया तब लोगों की जेब पर इसका असर भयानक रूप से पड़ा।

वर्ष 1950 के बाद पैसों की तंगी के काल में महिलाओं के सामने जब घर चलाने की जिम्मेदारी आई तब वह पसोपेश में पड़ गईं कि अब इस समस्या का सामना कैसे करें। तब पैसों की तंगी ने इस वर्ग को नजदीक लाने का कार्य किया। अब स्त्रियाँ बाजारों में, शॉपिंग सेन्टर में और मॉल में खरीदारी करने जाती थीं। इस निकटता की वजह से घरेलू महिलाओं को सामाजीकरण का अवकाश मिला। साथ ही सोचने और समझने का भी अवकाश मिला। इसका परिणाम यह हुआ कि महिला मात्र गृहिणी न होकर एक सक्रिय उपभोक्ता के रूप में सामने आई और डू इट योरसेल्फ (D.I.Y.) आंदोलन खड़ा किया। दरअसल D.I.Y. मूलतः ऐसा आंदोलन था जिसने घरेलू महिलाओं को होम इम्प्रूवमेंट के लिये अपने हाथ से काम करने को उकसाया ताकि कम पैसों में काम चलाया जा सके और उन्हें दक्ष बनाया जा सके।

आज स्त्रियाँ नारीत्व बोध को भुलाकर अपनी स्वतंत्र अस्मिता व पहचान को दाँव पर लगा रही हैं। नारी सौन्दर्य आज एक बिकाऊ माल बन चुका है। मुनाफा कमाने वाली कंपनियाँ नारी सौन्दर्य को बेचने के लिये तरह–तरह के नये–नये तरीके ईजाद कर रही हैं। बाजार स्त्री को सुंदर और आकर्षक बनाने की जरूरत समझकर अपने माल को खपाने का रास्ता तलाश रहा है। ब्यूटी मिथ (सुन्दर बनो) सबसे पहले स्त्री को एक वस्तु के रूप में परिवर्तित कर उसे चेतना शून्य बना रहा है। स्त्री को हीन बनाकर, उसे उसी रूप में देखना चाहता है, जो उसके मन को भाता है।

बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ अपना बाजार स्थापित करने के लिये स्त्रियों का शोषण कर रही हैं। रेखा कस्तवार के अनुसार– ''बाजार स्त्री की प्रतिभा पर सौन्दर्य को वरीयता प्रदान करता है। उसे मानवीय अधिकार और सम्मान से मुक्त व्यक्ति के स्थान पर आकर्षक वस्तु मान लिया जाता है।'' आज भले ही स्त्री अपने अधिकार के प्रति जागरूक है पर बाजार उसे वस्तु से कुछ अधिक नहीं समझता है। वस्तु और स्त्री को एक दूसरे का पर्याय बना दिया। समकालीन दौर में बाजार उसे आर्थिक समृद्धि का सुंदर स्वप्न दिखाकर देह के रूप में ही प्रस्तुत कर रहा है। बाजार ने स्त्री को सुंदरता का प्रलोभन देकर उसे वस्तु में तब्दील कर दिया है। बाजार के प्रसार के साथ स्त्री की स्थिति में गिरावट आई है, वह दिनोदिन देह में रिड्यूस होती जा रही है। दूसरी ओर जिस कुंठित मानसिकता को लेकर पहले समाज ने स्त्री की भूमिका को सीमित कर रखा था। यही मानसिकता उदारवाद, निजीकरण, वैश्वीकरण के साथ–साथ धीरे–धीरे बदलती चली गई। बाजार ने तो वस्तु बनाया परन्तु स्त्रियाँ एक कठपुतली मात्र न होकर एक सक्रिय नागरिक के रूप में उभर रही हैं।

स्त्री के परंपरागत रूप को तवज्जो देने वाले विज्ञापन स्त्री को फिर से सामंती मानसिकता और सामंती विचारों से जोड़ने लगे हैं। यह उसे उन्मुक्त सोच और उन्मुक्त कार्य की आजादी से वंचित कर रहा है। यह स्त्री के दूसरे दर्जे की पुरानी छवि को कायम रखने में मददगार होता है। उसे निचले पायदान पर ले जा रहा है। यह भूमंडलीकरण का दौर है जहाँ बाजारवाद अपना परचम लहरा रहा है। मानवीय मूल्यों का व्याकरण लगातार बदल रहा है। बाजार का अपना अर्थतंत्र है, अपना प्रबंधन है। व्यवसाय करने की अपनी रीति–नीति है। वह मनोवैज्ञानिक रूप से हमें प्रभावित करता है। बाजारवाद एक वृत्ति है जो जीवन को मूल्यों से अलग करने का काम करती है। यह स्त्री मानस और उसके आत्मविश्वास को भी प्रभावित कर रहा है। स्त्री–छवि को इस पुरुष सत्तात्मक समाज ने गढ़ा है। हर युग में स्त्री की छवि अलग–अलग रही है। उसकी भूमिकाएँ और स्थितियाँ भी भिन्न–भिन्न रही हैं।

21वीं सदी आते–आते समाज की उच्च–मध्य और उच्च वर्ग की प्रतिभाशाली महिलाएँ, प्रगतिशील महिलाएँ अपनी परंपरागत भूमिका से हटकर कुछ अलग करना चाहती है। अपनी पहचान स्वतः अपने कार्य से बनाना चाहती हैं। एक नई स्त्री छवि और चेतना ने उसके व्यक्तित्व को बदल

दिया है। इस नवआर्थिक उपनिवेशवाद भौतिकवाद और विज्ञापन के व्यवसाय ने महिलाओं को जीविकोपार्जन के अनेक विकल्प दिये,परन्तु स्त्री–अस्मिता का प्रश्न ज्यों का त्यों बना रहा। विज्ञापन ने स्त्री और उसके देह सौन्दर्य का व्यवसायीकरण किया है। आज विज्ञापनों में स्त्री की एक बहुत बड़ी भूमिका है। भूमंडलीकरण के इस दौर में बाजार सीधा महिलाओं के माध्यम से उपभोक्ताओं को निशाना बना रहा है। ऐसी स्थिति में देखने वाली बात यह है कि इन विज्ञापनों में स्त्री की छवि को किस रूप में प्रसारित किया जा रहा है। क्या स्त्रियाँ इनके माध्यम से अपनी परंपरागत छवियों से बाहर आ रही हैं ? या वास्तव में माँ, पत्नी और गृहिणी भी परंपरागत छवि इनके माध्यम से और पुख्ता हो रही है ? एक तरफ जहाँ सामंती अवशेष बचे हुये हैं वहाँ आज भी स्त्री का शोषण हो रहा है। वहीं वैश्वीकरण के दौर में जो स्त्रियाँ घरों से बाहर निकलकर कार्य कर रही हैं, जिन्हें सशक्त माना जा रहा है, और दावे भी किये जा रहे हैं कि वह बाजार को नचाने का सामर्थ्य रखती है, भले बाजार उसे नचा रहा हो। लेकिन यक्ष प्रश्न यह है कि क्या वह वाकई अपनी कीमत खुद तय कर पा रही है ?

ब्रांड का प्रचार कर अधिकाधिक मुनाफे का लक्ष्य रखने वाले विज्ञापनों में क्या स्त्री की छवि केवल उप–उत्पाद है ? आज भी हमारा समाज पुरुषों की अभिरूचियों को ही प्राथमिकता देता है, तो क्यों ? ऐसी परिस्थितियों ने विज्ञान को जो व्यक्ति के मन–मस्तिष्क पर सशक्त छाप छोड़ते हैं, क्या स्त्रियों पर मनोवैज्ञानिक दबाव नहीं बनाते ? हालांकि मीडिया पुरुष को भी नहीं बख्शता। जरूरत पड़ने पर यह उसके कपड़े भी उतरवाने में गुरेज नहीं करता। लेकिन आखिर किसी पुरुष का मजबूत होना कहाँ तक जरूरी है ? विज्ञापन में स्त्री सौन्दर्य का जो पैमाना रखा गया है, वह भारतीय महिलाओं हेतु कहीं से भी, किसी भी दृष्टिकोण से आदर्श नहीं है।

जीवनशैली और कार्यशैली दोनों की भौगोलिक विशेषताएँ हैं, लेकिन यहाँ सवाल यह है कि ये विज्ञापन स्त्री मनोविज्ञान को किस तरह प्रभावित करते हैं ? विज्ञापन का उद्देश्य वस्तु का, उत्पाद का विक्रय करना होता है। इसके लिये खरीदार को लक्ष्य किया जाता है। कभी महिलाएँ खुद लक्ष्य होती हैं, तो कभी उनकी वजह से कोई पुरुष खास सामान क्रय करने हेतु प्रेरित होते हैं। विज्ञापन उसके आत्मविश्वास को कमजोर करते हैं और तथाकथित कमियों की तरफ इशारा करते हैं। अब तो खास किस्म के विज्ञापनों में भी स्त्री–देह के जरिये विज्ञापनों को प्रचारित किया जाता है। मसलन मोटापा कम करने या स्लिम फिट होने के विज्ञापन मुख्यतः स्त्री केन्द्रित होते हैं। चाहे यह विज्ञापन मशीनों द्वारा वजन कम करने का हो या रस और फल सेवन के उपाय सुझाने वाला, दुर्भाग्य से हमेशा स्त्री शरीर ही निशाने पर रहता है। इसमें एक तरफ, ज्यादा वजन वाली अधनंगी स्त्री। पेश की जाती है दूसरी तरफ छरहरी काया वाली अधनंगी स्त्री एक तरफ ज्यादा वजन वाली के खाने का चार्ट दिखाया जाता है तो, दूसरी तरफ कम वजन वाली का। फिर दोनों की तुलना की जाती है कि किस तरह कम वजन वाली स्त्री मशीन के उपयोग से या कम भोजन कर आकर्षक, कामुक और सुंदर लग रही है। दूसरी तरफ अधिक वजन वाली स्त्री वीभत्स, अकामुक और कुत्सित लग रही है। इसलिये अमुक चीज का सेवन करें या अमुक मशीन उपयोग में लाएँ ताकि आप भी आकर्षक और कामुक दिख सकें।

सवाल यह है कि अधिकतर विज्ञापन स्त्री–देह केन्द्रित क्यों होते हैं ? क्या स्त्री के अधोवस्त्र या निर्वस्त्र शरीर के जरिये विज्ञापन प्रमोट करने पर वस्तु या उत्पाद की मार्केटिंग में इजाफा होता ? क्या इससे विज्ञापन कंपनी को फायदा होता है ? तथ्य यह है कि विज्ञापनों ने स्त्री के परंपरागत रूप को तवज्जो दिया है, लेकिन स्त्री का आधुनिक रूप विज्ञापनों में एक सिरे से गायब है। टेलीविजन के विज्ञापनों में स्त्री सदैव एक अच्छे खरीददार के रूप में नजर आती है, लेकिन उसकी निर्णायक भूमिका शून्य के बराबर होती है।

स्त्री विज्ञापनों में धड़ल्ले से विभिन्न वस्तुओं को खरीदती, प्रयोग करती नजर आती है। स्त्री के परंपरागत रूप को तवज्जो देने वाले विज्ञापन स्त्री को फिर से सामंती मानसिकता और सामंती विचारों से जोड़ने लगते हैं। यह उसे मुक्त सोच और कर्म की आजादी से वंचित करता है। स्त्री के दोयम दर्जे की पुरानी छवि को कायम रखने में मददगार होता है।

भौतिकवादी विज्ञापन स्त्रियों के उन्हीं रूपों को प्रमुखता देता है, जो देह प्रदर्शन से संबंधित होता है। उसकी बुद्धि और मेधा के विकास से नहीं, उसकी पढ़ाई से नहीं, उसकी सृजनात्मकता से नहीं, उसकी अस्मिता से नहीं। विज्ञापनों में महिलाओं के दो रूप प्रत्यक्षतः दिखाई देते हैं। पहला महिला का उत्तेजक और अश्लील रूप और दूसरा पूर्णतः पारंपरिक, सामंती मूल्यों को जारी रखने वाला, जिसमें घर और पितृसत्तात्मक संस्कृति को बनाये रखने का भाव पूर्ण रूप से दिखाई देता है। जितने भी घरेलू उत्पादों के विज्ञापन हैं उनमें महिलाओं का वही पारंपरिक रूप, सांस्कृतिक रूप दिखाया जाता है। इसतरह के घरेलू उत्पादों के विज्ञापनों की पूरी विषयवस्तु श्रम विभाजन को स्पष्ट रूप से समझाती है। उदारीकरण और वैश्वीकरण के चलते बाजार ने इस व्यवस्था में पितृसत्तात्मक सामंती मूल्यों को कायम रखने का पूरा प्रयास किया है, तो दूसरी तरफ यह भी समझना होगा कि पूंजीवाद ने अपने फायदे के लिये स्त्री को, स्त्री स्वतंत्रता की एक झूठी वचनशीलता दी है।

एक भयावह प्रकार का मतिभ्रम है, जहाँ महिला की वास्तविक मुक्ति नगण्य है, क्योंकि स्त्री मुक्ति के रास्ते को भूमंडलीकरण ने बेहद भ्रामक मोड़ दिया है। आज समाज में सभ्यता का स्तर इतना ऊँचा नहीं है जिसमें सभी संयम का निर्वहन कर सकें। इस समय पाषाण काल से लेकर आधुनिक सोच तक सभी प्रकार के लोग समाज में एक साथ रह रहे हैं। यह सही है कि सभ्यता किसी भी व्यक्ति की उन्मुक्त स्वतंत्रता पर अंकुश लगाती है लेकिन सभ्यता स्वयं का विकास भी तो नहीं कर सकती है। परन्तु यदि आधुनिक संस्थाएँ आज की त्रुटियों को ठीक करने का प्रयास करेंगी, अगर वे अपने दायित्वों पर खरा उतरेंगी और देखने वाला दर्शक अपनी प्रतिक्रिया खुद से आगे आकर दर्ज करवायेगा तो हो सकता है कि भविष्य में विज्ञापन के तहत स्त्री छवियों को लेकर कोई सीमा रेखा निर्धारित की जा सके।

हिन्दी साहित्य में स्त्री सभी युगों में मौजूद रही है। अब कर्म यह है कि पहले साहित्यकार अपनी रचना में स्त्रियों को निरूपित करते थे, जबकि अब स्त्रियाँ स्वयं को निरूपित कर रही हैं। बाजार केन्द्रित व्यवस्था में स्त्रियों के लिये जगह होगी कि नहीं, यदि होगी भी तो उसकी साख किस तरह की होगी ? उपन्यासों में इस प्रश्न की गहन पड़ताल की गई है। विडंबना तो यह है कि वर्तमान समय के विज्ञापनों का शिकार स्त्री, अश्वेत, जनता, गरीब तबके के लोग, युवा वर्ग एवं बच्चे अधिकतर हो रहे हैं। वर्तमान स्त्री छवि एक नई स्त्री की है जो वैश्विक दुनिया की चकाचौंध में अपनी पहचान को छिपाने लगी है। यह स्त्री दुनिया के समक्ष स्त्री–मुक्ति की एक नई तस्वीर पेश कर रही है। वास्तव में यह स्त्री नहीं है अपितु उसकी छाप मात्र है। एक ऐसी स्त्री जो वास्तविक स्त्री के वास्तविक स्वरूप को निगल लेना चाहती है। परन्तु समकालीन उपन्यास साहित्य में कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो स्वेच्छा से मुक्ति का मार्ग तलाशते हुये बाजार का रूख कर रही हैं और कुछ ऐसी स्त्रियाँ भी हैं जो गुलाम बनाकर जबरन बाजार में ढकेल दी जाती हैं।

स्त्री मुक्ति की चिन्ता बाजार में तो है ही यह अपने विज्ञापनों द्वारा स्त्री मुक्ति का संदेश देता नजर आता है। बाजार स्त्री की ऐसी छवि बना रहा है जो पितृसत्तात्मक व्यवस्था से मुक्त दिखाई पड़ती है। वर्तमान के प्रत्येक उत्पाद के विज्ञापन में स्त्री दिखाई देती है। विज्ञापन में स्त्री हर उत्पाद को ऐसे पेश करती है जो कहीं न कहीं उसे आर्थिक, सामाजिक बंधन से मुक्त कर रहा है। मध्यवर्गीय नारी की

छवि घर के कामकाज से मुक्ति, निम्नवर्गीय नारी की छवि धूल मिट्टी से मुक्ति, उच्चवर्गीय नारी की छवि देह से मुक्ति।

स्त्री विज्ञापन के आतंक से मुक्त होकर अपने को परिभाषित करना चाहती है। सोचने समझने वाली स्त्री भी जानती है कि बाजार को हमारी जरूरत है। बड़ी–बड़ी कंपनियाँ यदि बाजार में कुछ भी परोसती हैं तो उनकी निगाह स्त्री के पर्स पर ही होती है। दोनों पक्ष जानते हैं कि दाँव पर क्या लगा हुआ है ? स्त्री अपनी स्वतंत्रता चाहती है, पर स्वतंत्र होकर यह कहना क्या चाहती है ? बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ यही तो जानना चाहती हैं, ताकि इसी स्त्री के हिसाब से बाजार को तैयार किया जा सके। इस तरह आज मीडिया–विज्ञापन तंत्र, सौन्दर्य उद्योग और मनोरंजन उद्योग की साँठ–गाँठ साफ–साफ नजर आरही है।

मनीषा झा का कहना है कि– ''स्त्री के सौन्दर्य से लेकर स्त्री की अस्मिता तक आज बाजार की निगाह में चढ़ा हुआ है। नारी की छवि का वह मनमाने ढंग से उपयोग कर ले रहा है। स्त्री को आकर्षित करने के लिये पुरस्कार, यश, पैसा इत्यादि के प्रलोभन भी हैं। इस जाल से बच पाना आसान नहीं है।'' इस दौर की स्त्रियाँ अब पितृसत्तात्मक समाज द्वारा खींची गई लक्ष्मण रेखा को पार कर रही हैं। स्त्रियाँ अब बने बनाये रास्तों पर न चलकर, अपना रास्ता स्वयं बना रही हैं। अपनी खोई हुई जमीन तलाश कर रही हैं। स्त्री जीवन की दृष्टि से यह एक मजबूत छवि है जो उपन्यास साहित्य में भलीभाँति व्यक्त किया जा रहा है। पुरुष समाज के वर्चस्व को तोड़ने के लिय स्त्री अनेक रूपों में मौजूद है। वह पुरुष से कंधे से कंधा मिलाकर चलती है। यहाँ स्त्री की नई छवि के साथ प्राचीन छवि भी है। दरअसल सदियों से उपेक्षित स्त्री को कभी मुकम्मल जगह नहीं मिल पाई है, जिसके कारण उनकी अनेक छवियाँ गढ़ी जा रही हैं।

स्त्री कभी विद्रोही है तो, कभी यायावर है तो कभी खानाबदोश। प्रजनन और स्तनपान के अतिरिक्त कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो सिर्फ स्त्री ही कर सकती हो किन्तु दैनिक जीवन के उबाऊ कामों में पुरुषों की भागीदारी अब भी न्यूनतम् है। महानगरों और कामकाजी दंपतियों में बहुत ही कम पुरुषों ने इस दिशा में सकारात्मक भूमिका निभाई जरूर है परन्तु अब भी बहुसंख्यक स्त्रियों को घर से बाहर की भूमिका का अकेले ही निर्वाह करना पड़ता है। इससे साबित होता है कि अब चूड़ी वाली छवि से बाहर निकल रही है। पति का असहयोग पत्नी को अकेला होने को विवश करता है। यह बाजार का प्रभाव है। जिसके कारण भीड़ में भी व्यक्ति अकेला महसूस करता है। आज समूचा संसार जैसे सिमटा जा रहा है और उसमें स्त्री की भूमिका नित बदलती नजर आती है।

परंपरागत स्त्री भी नई छवि के साथ यहाँ मौजूद है। जो परंपरागत जड़ मूल्यों को तोड़कर अपनी नई छवि गढ़ रही है। वह नये मूल्यों की स्थापना के साथ मुक्त भी होना चाहती है। बाजार ने स्त्री की एक नई छवि गढ़ी है। यह वे स्त्रियाँ हैं जो अपनी देह को टकसाल में बदलती आधुनिकताएँ हैं। ये भी धंधे वाली हैं, मगर दिखती नहीं हैं। यही उनकी ताकत, खूबी और उनको ज्यादा दाम पर चलन में बनाये रखने का सूत्र है। यह एक नमूना है कॉलगर्ल बाजार का।

कॉलगर्ल देह की किसी एक थोक मंडी पर नहीं बिकती मिलती, बल्कि वे अपने होने और हासिल किये जाने की प्रक्रिया को दुर्लभ बनाये रखती हैं। इस संदर्भ में गीताश्री का कहना है कि– ''भूमंडलीकरण के दौर में स्त्री बाजार में खड़ी है, वस्तु की तरह, अपनी देह पर कीमत का टैग चिपकाये। यह सच है कि भूमंडलीकरण ने व्यापार को अहम बना दिया है, इसमें स्त्री का देह व्यापार भी शामिल हो गया है। यह व्यवस्था एक नई तरह की दैहिक गुलामी, नए विध्वंस को उभार रही है। दुनिया का शायद सबसे पुराना यह धंधा आज हाइटेक हो गया है।''[2] आज स्त्री ने बाजारू हुये बिना

बाजार में प्रवेश करने की कोशिश की है। यह स्त्री बाजार में आत्मनिर्भरता के पैर जमा रही है, नई स्त्री छवि के निर्माण में अपना योगदान दे रही है। ''उसकी नई छवि धन उपार्जित करती है, वह समूची अर्थव्यवस्था को गति देने वाली है। छवि उद्योग में, मीडिया के उद्योग में, नये सांस्कृतिक उद्योग में पैदा होने वाली स्त्री अभी मर्दों के बराबर न सही, लेकिन उसके आसपास पैसा बनाती है।''[3] और यह स्त्री वेश्या नहीं है जबकि इससे पहले की परंपरा रही है कि बाजार में स्त्री का संबंध वेश्या बनकर ही संभव होता था। ''सुंदरता स्त्री का राजदण्ड है, बचपन से ही यह सीखते हुये मानस खुद को शरीर के अनुरूप ढाल लेता है और अपने सुनहरे पिंजड़े में घूमता सिर्फ अपने कारागार को सजाना चाहता है।''[4] स्त्री को देह शृंगार में व्यस्त रखकर पुरुष मनचाहे कार्य करने के अवसर प्राप्त करते हैं।

स्त्री को तमाम दुनिया से मुक्त रखकर देह की दुनिया में कैद कर दिया जाना ही उसका राजदण्ड है। बाजार और देह की इस केमेस्ट्री को समझाते हुये कात्यायनी लिखती हैं– ''विश्व बैंक का मुक्त बाजार निर्देशित नारीवाद वस्तुतः बूढ़े शेर के हाथों में सोने का कंगन है, स्त्रियों को भरमाकर–ललचाकर उनका शिकार करने के लिये। इसीलिए विश्व बैंक स्त्रियों के प्रति इतना करुण विगलित है। उनके घड़ियाली आँसुओं की यही असलियत है।''[5] यहाँ पर स्त्री जीवन की उत्कृष्टता के संपादन की भूमिका स्वयं स्त्री ही करती नजर आती है। उसमें न तो अन्धानुकरण के प्रयत्न हैं, न ही प्राथमिक आखेटक दृष्टि, बल्कि स्वतंत्र एवं परिपक्व दृष्टि की तलाश है। निरंतर स्त्री संघर्ष को चित्रित करते हुये समकालीन स्त्री कथा लेखिकाएँ अपने लेखन के माध्यम से जिस नये सौन्दर्यशास्त्र को गढ़ रही हैं वही आज सवालों के घेरे में हैं, क्योंकि स्त्री जब पुरुष के समान अधिकार और बराबरी प्राप्त करेगी तो उसे उन बाहरी दबावों को भी झेलना पड़ेगा जिसे पुरुष समाज बाहर की दुनिया में झेलता है। विकसित तकनीक, मीडिया, विज्ञापन और बाजार को बहुतेरी लेखिकाएँ स्त्री मुक्ति के पक्ष में देखती हैं, लेकिन बहुतेरी लेखिकाएँ इससे असहमति भी व्यक्त करती हैं।

स्रोत :

1. डॉ0 मनीषा झा, समय, संस्कृति और समकालीन कविता, संस्करण–2011, पृ0 73
2. गीताश्री, स्त्री आकांक्षा के मानचित्र, संस्रकण–2014, पृ0 55
3. वही, पृ0 129
4. हेमलता माहेश्वर, स्त्री लेखन और समय के सरोकार, पृ0 181
5. कात्यायनी, दुर्ग द्वार पर दस्तक, संस्करण–1998, पृ0 27

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

पंत की काव्यगत विशेषता – भाषा शैली

डॉ. ऋतु वार्ष्णेय गुप्ता
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिन्दी–विभाग
किरोड़ीमल कॉलेज
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली–110007

काव्य के दो पक्ष होते हैं – (1) भाव पक्ष, (2) कला पक्ष। काव्य का जो प्रतिपाद्य होता है उसे भाव पक्ष कहते हैं और भाषा आदि प्रतिपादन के माध्यम कला पक्ष में आते हैं।

पंत जी भाषा को केवल विचाराभिव्यक्ति का साधन न मानकर उसके संस्कृत और अलंकृत रूपों को भी मान्यता देते हैं। पंत की भूमिका इस कथन की साक्षी है, जिसमें उन्होंने शब्दों की प्रकृतियों का सूक्ष्म विश्लेषण किया है। इसलिए पंत जी अपनी भाषा के प्रति सदैव जागरुक रहे हैं। यही कारण है कि उनकी भाषा अत्यन्त समृद्ध और शाश्वत है यह कहना अनुचित न होगा कि खड़ी बोली को ब्रजभाषा जैसी मधुरता प्रदान करने में पंत जी का प्रमुख हाथ रहा है। इनकी भाषा की निम्नलिखित विशेषतायें हैं – (1) चित्रण शक्ति, (2) चित्रमय विशेषण, शब्दों की अन्तरात्मा का ज्ञान, ध्वनि चित्रण, व्याकरण, मुहावरे एवं कहावतें आदि।

शब्दों के माध्यम से प्रतिपाद्य का इस प्रकार वर्णन करना कि उसका चित्र ही पाठकों की आँखों के सामने झूलने लगे, भाषा की चित्रण शक्ति कहलाती है। पंत जी के काव्य में यह पूर्ण रूप से मिलते हैं। पंत जी को शब्दों की अन्तरात्मा का विशद ज्ञान है अर्थात् वे भली प्रकार जानते हैं कि कौन सा शब्द किस अर्थ एवं ध्वनि का बोध कराने में सक्षम है। यहाँ तक कि वे पर्यायवाची शब्दों में भी बड़ी गम्भीरता से अंतर स्थापित कर देते हैं।

भाव और भाषा के सामंजस्य से तथा स्वरैक्य के द्वारा पंत जी ध्वनि चित्रण करने में भी अत्यन्त कुशल हैं। वे ध्वनि के द्वारा ही वर्णित विषय को साकार कर देते हैं। यथा –

"पावस ऋतु थी पर्वत प्रदेश, पल–पल परिवर्तित प्रकृति वेश"

इस पंक्ति में ध्वनि चित्रण का प्रभावशाली वर्णन हुआ है। पल–पल परिवर्तित में लघु आकार वाले अक्षरों की वृद्धि होने के कारण प्रकृति के बदलते चित्रपट के दृश्यों के समान आँखों के सामने (समक्ष) घूमने लगता है। इस प्रकार निःसन्देह कहा जा सकता है कि 'पंत' जी की भाषा अत्यन्त सरल, सजीव एवं समृद्ध है।

भाषा और व्याकरण का अटूट सम्बन्ध है यदि भाषा व्याकरण को जन्म देती है तो व्याकरण भाषा को शुद्ध एवं परिमार्जित करके उसकी जीवनी शक्ति को बनाये रखता है तथा 'पंत' जी की तत्सम प्रधान है अतः उसके मुहावरों एवं कहावतों का प्रयोग नहीं के बाराबर ही है। कहावतों की भाँति मुहावरों का भी प्रयोग अन्त की भाषा में कम ही मिलता है, परन्तु जहाँ भी उन्होंने उसका प्रयोग किया है वे भावों को भावपूर्ण बना देते हैं। एक उदाहरण –

"अरे वे अपलक चार नयन

आठ आँसु रोते निरुपाया।"

पंत जी की भाषा में कुछ विचित्र चित्र मिलते हैं। उदाहरण के लिए 'मनोज' शब्द लिया जा सकता है इसका रूढ़ि अर्थ है 'कामदेव' परन्तु कवि ने मन से उत्पन्न व्युत्पत्ति अर्थ में ही गाँधी जी के लिए किया है – छायावादी कवि अलंकारवादी नहीं कहे जा सकते। तथापि इनकी कृतियों में अलंकार की भरमार है। विशेषतः 'पंत' जी तो अभी अलंकार योजना में अधिक सतर्क दिखायी देते हैं। पंत जी समन्वयवादी हैं जिस प्रकार उन्होंने भारतीय दर्शन और पाश्चात्य का जीवन सौष्ठव साथ–साथ गुंजकर भावक्षेत्र से गुंजकर एक नये चेतनावाद को जन्म दे दिया है, उसी प्रकार उसकी समन्वय भावना अलंकारों के क्षेत्र में भी देखी जा सकती हैं। उन्होंने भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों प्रकार के अलंकारों का खुलकर प्रयोग किया है।

'पंत' जी का काव्य पूर्णतया अलंकारों से ओत–प्रोत है। इस सम्बन्ध में डॉक्टर नागेन्द्र के अनुसार – "पंत जी का अलंकार भण्डार बड़ा भरा–पूरा है जिससे भाषा की शैलियों पर उनके विस्तृत अधिकार का परिचय मिलता है। यद्यपि वे आधुनिक कवियों की अपेक्षा अधिक अलंकार प्रिय हैं, फिर भी उनके समस्त अलंकार साधना भावों के स्रंनावट के लिए है।"

छन्द के दो भेद – छन्द के दो भेद होते हैं – "वार्णिक छन्द और मात्रिक छन्द"। जिन छन्दों की लय वर्णों पर आधारित होती है वे वार्णिक और जिनकी मात्राओं पर वे मात्रिक छन्द हैं। इनमें पंत जी ने मात्रिक छन्दों को चुना है और उनका अपने काव्य में प्रयोग किया है। अलंकारों की भाँति 'पंत जी' ने अपनी मौलिकता का परिचय दिया है वे छन्द से अधिक भावों को महत्त्व देते हैं अथवा यों कह लीजिए कि उनके भावानुसरण करने वाले हैं।

पंत जी के छन्द के विषय में डॉ. नागेन्द्र का यह निकर्ष युक्ति–युक्त ही जान पड़ता है – "वास्तव में पंत जी की छंद योजना विशद है उनके प्रत्येक छन्द में राग्र की एक धारा अनिवार्य रूप से व्याप्त मिलती है – कहीं भी शब्दों की कड़ियाँ अलग–अलग संबद्ध दिखायी नहीं पड़ती। उनकी दरारें लय से भरकर एकाकार कर दी गयी हैं।"

सारांश यह कि उनमें पूर्ण सामंजस्य है। 'पंत जी' ने चित्रों के मधुरतम चित्रों से काव्य को अलंकृत किया है, प्रकृति के प्रति उनका मोह इतना प्रबल था कि नारी का सम्मोहन आकषर्ण भी उन्हें फीका लगा। वे दृश्यों की मृदुल छाया पर बाला की अद्वितीय लावण्यता को न्योछावर कर गये। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि जिन कवियों ने प्रकृति के सौन्दर्यमय उपकरणों से हिन्दी काव्य श्रृंगार किया। उसमें पंत जी का मूर्धन्य स्थान है।

प्रेम और सौन्दर्य की नवीनतम व्याख्या प्रस्तुत करने का श्रेय भी कविवर पंत को ही है। उनके प्रेम में मांसलता न होकर सूक्ष्मता एवं पावनता है। प्रेम की सूक्ष्मता के समान ही उनकी प्रियतमा सूक्ष्म और पावन है।

भाषा को छायावादी काव्य के उपयुक्त बना देना पंत जी की हिन्दी साहित्य में देन है। श्री राहुल जी के शब्दों में – "पंत की सबसे बड़ी देन हिन्दी काव्य साहित्य के लिए है, सुन्दर शब्द विन्यास और मुक्तक शैली।"

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि पंत काव्य ऐसा स्वर्गिक उपवन है, जिसमें कला के मुस्कुराते हुए सुन्दर पुष्प भी हैं और भाव का अक्षय सौरभ भी।

अब वे अपने जीवन के 65 वर्ष पूा कर चुके हैं, अपनी साठवीं वर्षगाँठ के अवसर पर उन्होंने कहा था – "आज मेरे तन के साठ वर्ष पूरे हो चुके हैं अब आगे मैं मन के वर्षों में रहूँगा। मैं तो स्वप्न द्रष्टा हूँ। आदमी को चेहरा कुल से मिलाता हूँ।" इन शब्दों में पंत जी का चेतनावादी स्वर ही मुखरित होता है।

संदर्भ

1. पंत के काव्य में प्रकृति चित्रण, डॉ. शिवदत्त शर्मा।
2. रामविलास शर्मा : हिंदी के छायावादी कवि
3. मुक्तिबोध : नए साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र
4. आधुनिक हिंदी साहित्य : नागार्जुन की संवेदना के विभिन्न स्वरूप

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

बीसवीं सदी में नारी विमर्श

रेनू गुप्ता

शोध छात्रा (जे0आर0एफ0)
खरडीहा, महाविद्यालय, खरडीहा, गाजीपुर

हिन्दी कथा साहित्य में जिस आधी दुनिया का जिक्र किया जाता है, वह आधी दुनिया स्त्रियों से ही संबंधित है। सृष्टि की योजना में नारी को पुरुष से अधिक महत्व प्राप्त है। इस कारण वह और उसके विभिन्न रूप सारे जगत में पूजनीय हैं। नारी की सहज कोमलता, मनोहरता और उदारता ने उसे 'देवी' का पद दिलाया है। सृष्टि के विकास क्रम से ही नारी पुरुष की सहयोगी रही है। ईश्वरी सृजन का निर्वाह करने के लिए जितना उत्तरदायित्व पुरुष के कंधों पर है; उतना ही नारी के कंधों पर भी है। यदि पुरुष प्राकृतिक देवी का दाहिना नेत्र हैं, तो स्त्री उसका वाम नेत्र है। यदि मानव माया की कर्कशता का प्रमाण है तो नारी उसकी गरिमा है। यदि पुरुष निर्मल और स्वच्छ मंदाकिनी का प्रवाह है, तो स्त्री उसकी चंचलता है। स्त्रियों द्वारा हिंदी साहित्य की विभिन्न विधाओं में सर्जना की गयी है।

20वीं सदी का काल मनुष्य की चेतना जागृति का काल कहा जाए तो गलत नहीं होगा। यद्यपि यह समय राष्ट्रीय सुधार आंदोलन का था। जब देश में आजादी को लेकर एक जन जागरण अभियान चला हुआ था। आजादी के मुखौटे के भीतर समाज सुधार की भावनाएं भी चल रही थी। इन समाज सुधारों में स्त्री शिक्षा, बाल विवाह रोकना, विधवा पुनर्विवाह कराना, बहु विवाह रोकना जैसे महत्वपूर्ण मुद्दे थे। 1929 ई0 में डॉ0 हरविलास शारदा के प्रयत्नों से शारदा एक्त कानून बना; क्योंकि इसे 1927 में राय साहब हरविलास शारदा ने ही प्रस्तुत किया था। इसके पहले लड़कियों की शादी के लिए न्यूनतम आयु 14 वर्ष में रखी गई थी और लड़कों की शादी के लिए 18 वर्ष तय की गई। जिसे बाद में लड़कियों के लिए 18 और लड़कों के लिए 21 कर दिया गया। यह 1 अप्रैल 1930 को लागू हुआ। यह केवल हिन्दुओं के लिए नहीं बल्कि ब्रिटिश भारत के सभी लोगों पर लागू होता है। यह भारत में सामाजिक सुधार आंदोलन का परिणाम था। ब्रिटिश अधिकारियों के कड़े विरोध के बावजूद ब्रिटिश भारतीय सरकार द्वारा कानून पारित किया गया। जिसमें अधिकांश भारतीय थे; हालांकि इसका ब्रिटिश सरकार से कार्यान्वयन में कमी थी। इसका मुख्य कारण ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा उनके वफादार हिंदू और मुस्लिम सांप्रदायिक समूहों से समर्थन प्राप्त न कर पाना था। यह बालविवाह प्रतिबंध अधिनियम 'बीसवीं शताब्दी की सबसे बड़ी सफलता थी।

आजादी के बाद भारतीय संविधान में कई ऐसे मूल अधिकार और मौलिक कर्तव्य बने, जो स्त्रियों को समानता का अधिकार देते रहे। बावजूद इसके आजादी के दो दशक, तीन दशक बीतते–बीतते यह सारे नियम और कानून ताक पर रख दिए गए और शोषण का जो दुष्चक्र था; वह स्त्रियों के लिए उसी प्रकार बना रहा जो आजादी के पहले था।

वैश्विक स्तर पर 20वीं सदी में महिला जागरण का युग या महिला प्रगति का युग कहा गया। पश्चिमी समाज में पितृसत्तात्मक व्यवस्था तथा पुरुष सत्ता से मुक्ति के भिन्न–भिन्न रूपों के समन्वित

विद्रोह को 'विमेन लिबरेशन मूवमेंट' का नाम दिया गया। जिसका संक्षिप्त रूप 'वीमेन लिव' काफी प्रचलित हो चुका था। इसका अर्थ है; नारी स्वातंत्र्य। इसी आधार पर हिंदी में इसे 'नारी मुक्ति आंदोलन' कहा जाता है। जिसके वैचारिक स्रोत के रूप में, पश्चिमी नारीवादी चिंतन या नारीवाद (फेमिनिज्म) की आधार भूमि रहती है। भारतीय संदर्भ में नारी मुक्ति पश्चिमी सर्वथा भिन्न दृष्टिकोण का है; क्योंकि नारी मुक्ति की बात यहाँ की प्रथाओं और रूढ़ियों से मुक्ति का मार्ग रही है; तो कभी राष्ट्रीय स्वधीनता संग्राम में समाहित होकर नारी मुक्ति राह देखी है। अर्थात् कभी जागरण और संघर्ष का पर्याय रही; तो कभी प्रगति और व्रिदोह का बिगुल बजाने वाला मंत्र भी रहीं हैं। स्त्री जागरण व कल्याण इसका मूल अभिप्रेत रहा है।

उपर्युक्त तथ्यों के आलोक में कहा जा सकता है कि, नारी मुक्ति आन्दोलन जागरण, प्रगति, संघर्ष और विद्रोह का मिलाजुला आंदोलन है। जिसका सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिवेशों की भिन्नता के साथ संबंध और संदर्भ बदल जाता है। नारी को व्यक्ति रूप में पुरुषों के समान प्रतिष्ठा मिले। यह नारी की अपेक्षा है, इसी बुनियाद पर नारीवादी आंदोलन की शुरूआत हुई। हर्षवर्धन त्रिवेदी के अनुसार– ''नारियों के अधिकारों का एवं उनका पुरुषों के साथ सामाजिक राजकीय एवं आर्थिक समानता का पक्षधर आंदोलन नारीवाद के रूप में पहचाना जाता है।''[1] नारीवाद स्त्रियों की स्थिति में बदलाव लाना चाहता है। जिससे उसकी स्थिति में सुधार होकर समाज में उसके लिए नई भूमिका की व्यवस्था हो। इस संबंध में एलिस जॉर्डन कहता है कि, ''नारीवाद स्त्रियों की दृष्टि से स्त्रियों के लिए किया गया आंदोलन है।''[2] नारी की प्रतिष्ठा और समाज में समान स्थान प्राप्त करने के लिए नारीवादी आंदोलन चला! सदियों से परंपरा के खिलाफ औरत देह और मन की यह लड़ाई लड़ रही है। इसमें कौन उसका साथ देगा– सबसे ज्यादा वह खुद, शायद सबसे ज्यादा उसका सहयोगी पुरुष। इस संबंध में सदियों पुरानी बात याद आ रही है। तुलसीदास को उनकी कई चौपाइयों के लिए नारी विरोधी करार दिया गया है। लोकमानस में परंपरागत रूप से औरत की जिंदगी को दुश्वार बनाने का काम इन चौपाइयों ने भी किया है। संत तुलसी कह गए हैं..... ये बात शुरू होती है। पर गंभीरता से देखें तो नारी प्रताड़ना की कोई भी चौपाई तुलसीदास के निजी विचार नहीं है। जिस प्रकृति के पात्र हैं, उसके अनुरूप बात उन्होंने कही है वह खुद भी नारी स्वतंत्रता के बहुत बड़े हिमायती थे। मीरा उनके काल में ही हुई थी। मीरा के पति राणा मीरा के विचारों से सम्भ्रमित थे, उनकी बहुत इज्जत भी करते थे। अपने युग से कई युग आगे की मीरा महल के परकोटे के बाहर दीवानी न समझ ली जाए। और इससे राणा वंश की खिल्ली न उड़े। ऐसा सोच उन्होंने संगत बैठक आराधना उपासना की सुविधा उन्हें महल में ही दे रखी थी लेकिन मीरा का विद्रोही मन सामाजिक गैर बराबरी छुआछूत मानते मठाधीश ऊपर शोषण, अन्याय आज के खिलाफ महल के अंदर चुप बैठने को तैयार न थी।''स्त्री प्रश्न सदैव ही समाज के नियंताओं को परेशान करते रहे; क्योंकि स्त्री पर आधित्पय जमाने की कार्यवाही को भी वह किसी भी तौर पर वैध नहीं ठहरा पा रहे थे।

19वीं सदी में भारत में जो पुनर्जागरण आंदोलन शुरू हुआ उसमें स्त्री के स्वतंत्रता, स्त्री के अधिकारों की नींव तो पड़ चुकी ही थी, लेकिन बीसवीं सदी के विचारकों ने सुधार आंदोलनों में सबसे ज्यादा स्त्री के सुधार पर बल दिया। विवेकानंद का स्पष्ट मत है कि– ''जिस देश या राष्ट्र में नारी की पूजा नहीं होती, वह देश या राष्ट्र कभी महान या उन्नत नहीं हो सकता।''[4] नारी रूपी सत्य की अवमानना करने से ही आज हमारा अधःपतन हुआ है। स्त्रियां माता की प्रतिमा है। जब तक उनका उद्धार न होगा, हमारे देश का उद्धार होना असंभव है। डॉ0 राधाकृष्णन भारत के महान दार्शनिक थे। उन्होंने जुलू शब्दकोश के आधार पर पुरुष की परिभाषा देते हुए कहा है कि– ''पशु जिसका प्रशिक्षण नारी करती है, नारी मूलतः पुरुष की शिक्षिका है, तब भी जब वह बच्चा होता है और तब भी जब वह

व्यस्त होता है।''[5]ज्योतिबा फूले का कहना था कि– ''बहू स्त्रियांचा पति, स्त्री उलटी रीति'' एक पुरुष अनेक स्त्रियों का पति हो सकता है तो फिर स्त्रियों के लिए उलटा न्याय क्यों? इस प्रकार के प्रश्नों का निर्माण कर उन्होंने सिद्ध किया कि स्त्री और पुरुषों पर समान राय का सिद्धांत लागू किया जाना चाहिए। उनकी यह मान्यता थी कि, स्त्री यह पुरुष से श्रेष्ठ है।''[6]

अंबेडकर का कहना था कि– ''स्त्री को शिक्षा के साथ–साथ अन्य सामाजिक कार्यों में भी सहभागी होना चाहिए। जब तक स्त्री सभी प्रकार के सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक क्षेत्र में भाग नहीं लेगी तब तक स्वस्थ सामाजिक विकास संभव नहीं है।''[7] द्विवेदी युग में, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी ने स्त्रिों को निरक्षर बनाए जाने की कोशिश को सामाजिक अपराध और सामाजिक उन्नति में बाधक माना। आचार्य द्विवेदी पुरुष शिक्षा के साथ–साथ स्त्री शिक्षा के भी पक्षपाती थे। यह पहले साहित्यकार हैं, जिन्होंने साहित्य में स्त्रियों को स्थान दिलाने की वकालत की। यही कारण था कि द्विवेदी युग में इनके मार्गदर्शन में उर्मिला, यशोधरा जैसे उपेक्षित पात्रों को प्रमुखता मिली। उनका मत था कि– ''यदि शिक्षा पुरुषों के लिए लाभदायक है, तो स्त्रियों के लिए भी लाभदायक हो सकती है। जिस दवा से पुरुष का ज्वर जाता है उसी से स्त्रियों का भी।''[8]

सवित्री बाई फुले ने सामाजिक विरोधों को झेलते हुए स्त्री शिक्षा का बीड़ा उठायाउन्होंने अपने पाठशालाओं में दलित लड़कियों को निःशुल्क पढ़ाया। वह भारत की सर्वप्रथम स्त्री अध्यापक बनी। इस क्रांतिकारी कार्य का प्रखर विरोध हुआ। परन्तु, वे विचलित नहीं हुई और स्त्री उत्थान के इस मार्ग पर निरंतर आगे बढ़ती रही। पंडिता रमाबाई भी महाराष्ट्र की ही मानवतावादी विदुषी थी। उन्होंने नारी शिक्षा व नारियों के आश्रय के लिए लंबे समय तक महत्वपूर्ण कार्य किया। बाल विवाह व अनेक प्रकार के शोषण व अंधविश्वास के खिलाफ उन्होंने अपनी आवाज उठाई। 'स्त्री धर्म नीति' व 'द हाई कास्ट हिंदू वूमेन' (उच्च जातीय हिंदू महिला) पुस्तक लिखकर पंडिता रमाबाई ने दूर–दूर तक अपने प्रगतिवादी व सकारात्मक विचों का प्रचार–प्रसार किया।

पंडिता रमाबाई भी महाराष्ट्र की ही मानवतावादी विदुषी थी। उन्होंने नारी शिक्षा व नारियों के आश्रय के लिए लंबे समय तक महत्वपूर्ण कार्य किया। पंडिता रमाबाई जैसी विदुषी ने अध्ययन व शोध द्वारा हिंदू धर्म की अंतर्निहित रूढ़ियों को उजागर किया और सदियों से जड़ बनाई व्यवस्था पर उन्होंने प्रहार की साथ ही उससे न्याय की मांग की। सरोजनी नायडू राष्ट्रवादी व नारीवादी महिला थी, जिन्होंने विधवा पुनर्विवाह, महिला शिक्षा व महिलाओं के लिए मताधिकार आदि मुद्दों पर निरंतर कार्य किया। महादेवी वर्मा ने कहा कि– ''नारी केवल मांस पिंड की संज्ञा नहीं है; आदिम काल से आज तक विकास पथ पर पुरुष का साथ देकर उसकी यात्रा को सरल बनाकर, उसके अवशेषों को झेलकर और अपने वरदानों से जीवन में अक्षयशील भरकर मानवों ने जिस व्यक्तित्व चेतना और हृदय का विकास किया है उसी का पर्याय नारी है।''[9]महादेवी वर्मा आगे लिखती हैं– ''पुरुष समाज का न्याय है, स्त्री दया, पुरुष प्रतिशोध मय क्रोध है, स्त्री क्षमा, पुरुष शुष्क कर्तव्य है, स्त्री सरस सहानुभूति और पुरुष बल है, स्त्री हृदय की प्रेरणा ऐसा एक भी सामाजिक प्राणी नहीं मिलेगा, जिसका जीवन माता, पत्नी, भगनी, पुत्री आदि स्त्री के किसी न किसी रूप से प्रभावित न हुआ हो।''[10]इस प्रकार बीसवीं सदी के प्रारंभिक चार दशकों तक जागरण सुधार का जो दौर था उसमें स्त्री के अधिकारों, स्त्रियों की स्वतंत्रता, स्त्रियों की शिक्षा, बाल विवाह निषेध आदि पर विशेष बल था।

बीसवीं सदी के छठे दशक से आधुनिकता के नाम पर बाजारवाद की शुरूआत होती है और इस दौर में मृदुला गर्ग, चित्रा मुद्गल, सूर्यबाला, मंजुल भगत, कृष्णा अग्निहोत्री, कृष्णा सोबती, शिवानी, कुसुम अंसल, राजी सेठ, ममता कालिया, मन्नू भंडारी, अलका सरावगी जैसी कथाकार स्त्री विमर्श के क्षेत्र में प्रवेश करती हैं। इन कथाकारों ने स्त्री कथा लेखन को समृद्ध बनाने में अत्यधिक योगदान

किया। इन्होंने अपने श्रेष्ठ और बौद्धिक लेखन से न केवल अविस्मरणीय योगदान किया;बल्कि पुरुष सत्ता को चुनौती भी दी कि, वह स्त्री कथा लेखन में अपनी सकारात्मक दृष्टि रखें।

वर्तमान समय में इन कथा लेखिकाओं की स्त्री विमर्श के क्षेत्र में गंभीर और उच्च स्तर की रचनाएं हिंदी कथा साहित्य में इस लेखन की सशक्त आवाज बन चुकी है। समसामयिक परिस्थितियों के पक्ष में रचना करके इन कथाकारों ने अपनी जागरूकता अपने बौद्धिक एवं व्यापक दृष्टि का परिचय दिया। मृदुला गर्ग की साहित्यिक दृष्टि रोमांटिक भावुकता से मिश्रित न होकर वैचारिकता एवं बौद्धिकता से युक्त है। इन्होंने सामाजिक रूढ़ियों और विसंगतियों के विरुद्ध अपनी आवाज उठायी है। लेखिका ने पिछड़ी थोथी और शोषक नैतिकता के विरुद्ध आवाज उठाकर सेक्स का खुला चित्रण किया है। अपनी कहानियों के कथ्य के संबंध में वे स्वयं लिखती हैं– ''जो कुछ सोचती हूँ, महसूस करती हूँ, जो व्यथा मुझमें वितृष्णा जगाती है, अन्याय जो क्रोध का उफान लाता है। वही तो उन उपन्यासों और कहानियों का कथ्य है।''[11]

आधुनिक स्त्री क्या चाहती है ? उसने जिन परंपराओं को तोड़ा है। वे सचमुच बचाने योग्य थी ? या आधुनिकता के जो स्वरूप भारतीय समाज में आक्रामक ढंग से लोकप्रिय हो रहे हैं; उनके कारण सिर्फ स्वतंत्रता का विस्तार हो रहा है या कुछ नई विकृतियां भी फैल रही हैं। यह सवाल तो अपनी जगह है ही कि आधुनिकता के संदर्भ में सिर्फ स्त्री पर उंगली क्यों उठाई जाती है ? क्यों क्या स्त्री इतना लाचार है ? यह सवाल भी कम महत्वपूर्ण नहीं कि क्या आधुनिकता का यही अर्थ पश्चिमीकरण ही है ? परंपरा द्वारा दिया गया जीवन कैसा है और आधुनिकता ने जिस तरह की जीवन शैली को प्रोत्साहित किया है उनका चरित्र क्या है ? यह शाश्वत प्रश्न है और हर जमाने की स्त्री ने इसका अपने ढंग से सामना किया है। मानव सभ्यता के सारे ऊँचे दावे समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखते हुए खोखले प्रतीत होते हैं। इस मामले में पशुओं की सभ्यता, मानवों की सभ्यता से सौ गुना श्रेष्ठ ठहरती है। पशु समाज में बच्चे को जन्म देने वाली माता का दर्जा नर से हमेशा ऊँचा होता है लेकिन मनुष्य समाज ने तो स्त्री को शोषण तथा उत्पीड़न ही दिया है। स्त्रियों पर होने वाले अत्याचारों के अनेक रूप हैं। परिवार में शारीरिक लैंगिक और मनोवैज्ञानिक हिंसा, दहेज से जुड़ी हिंसा, वैवाहिक बलात्कार, सुन्नत आदि प्रथाओं द्वारा जननेंद्रिय विकास, कामकाजी महिलाओं के साथ दफ्तरों आदि में छेड़खानी, शिक्षण संस्थाओं, दफ्तरों आदमी लैंगिक शोषण, दंगों और युद्ध की स्थिति में स्त्रियों पर अत्चार और बलात्कार, स्त्री कैदियों के साथ पुलिस का दुर्व्यवहार, सती प्रथा शिशु कन्या हत्या प्रथा, कन्याओं की भ्रूण हत्या, परिवार में लड़कियों की शिक्षा और स्वास्थ्य की उपेक्षा, विधवाओं का शोषण, बलात वेश्या करण, अल्पायु में विवाह, पर्दा और घूंघट की प्रथा इत्यादि। इनमें तो कुछ अत्याचार ऐसे हैं, जिन्हें धार्मिक और सामाजिक प्रथाओं की मान्यता भी मिली हुई है।

स्त्रियों ने अपने अंदर साठ के दशक में जो चेतना जगाई; उस चेतना का व्यापक प्रभाव वैश्विक स्तर पर पड़ा। अधिकारों की नई चेतना ने इंग्लैंड में नारी मुक्ति आंदोलन को बल प्रदान किया, किन्तु जल्दी ही आंदोलन में काम करने वाली महिलाओं को बोध हुआ कि पुरुषों की गुलामी के खिलाफ उनके संघर्ष के अनेक पेच हैं। जिस वामपंथ के आंदोलन ने उन्हें प्रेरणा दी, वह भी पुरुष वर्चस्व को दी गई चुनौती सहन नहीं कर सकता। जब 1970 में विश्व सुन्दरी प्रतियोगिता के खिलाफ महिलाओं ने विरोध प्रकट किया कि, यह स्त्री को सेक्स की वस्तु बनाने का अभियान है; तो आंदोलन करने वाली महिलाओं के लिए सार्वजनिक तौर पर अपनी बात कहना भी मुश्किल हो गया। लिन सेगल इंग्लैंड में नारी मुक्ति आंदोलन की प्रसिद्ध कार्यकर्त्री हैं। उन्होंने अपने एक लंबे लेख में स्थानीय अनुभव शीर्षक से उपर्युक्त तथ्यों की तस्वीर भी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि– ''हमने स्त्रियों की स्वायत्तता को अत्यंत महत्वपूर्ण माना। वामपंथी ग्रुपों ने इसे फूट डालने वाला विचार कहा; लेकिन हम जानते थे कि स्त्रियों

के स्वायत्तता के उनके औपचारिक कार्यक्रम संगठन में स्त्रियों की वस्तुतः अधीन स्थिति को छिपानेका प्रयास है। हमारा दृढ़ विश्वास था कि स्त्रियों को पुरुष–वर्चस्व के खिलाफ अपना संघर्ष बुलंद चलाना होगा और कोई दूसरा हमारे लिए यह संघर्ष नहीं सकता।''[12]

मृणाल पाण्डे का स्त्री लेखन अभिजात्य वर्ग से संबंधित है। इनकी कथाओं में मानवीय मूल्यों के प्रति सकारात्मक भाव दिखाई देता है। साथ ही सामाजिक अंतर्विरोधों से टकराने का प्रयास भी इनकी कहानियों का मुख्य आधार उच्च वर्ग ही है। उच्च वर्ग के जीवन के कृत्रिमता आडंबर, खोखलापन एवं मूल हीनता को इनकी कहानियों में व्यंग्यात्मक एवं स्वाभाविक अभिव्यक्ति मिलती है। मृणाल पांडे की कहानियों में बौद्धिकता का समावेश अधिक है, परंतु कहीं–कहीं पर रोमांटिक भावुकता का भी दर्शन होता है। विघटित हो रहे मानवीय मूल्यों के प्रति इनके संवेदनशीलता इनकी रचनाओं से स्पष्ट हो जाती है। यह जीवन को सजग दृष्टि से देखती है।

इस अर्थ प्रधान युग में मध्यम वर्ग में उत्पन्न अर्थ उपार्जन की अदम्य लालसा, भौतिकता की दौड़ में आगे बढ़ जाने की स्त्रियों की होड़, मध्यवर्गीय आकांक्षाएं तथा व्यवहारिक जीवन पर उनसे पड़ने वाला प्रभाव इत्यादि। सामाजिक कटु यथार्थ को व्यक्त करने में इनकी लेखनी अत्यंत सक्षम है। बीसवीं सदी ने धर्म राजनीति अर्थ आदि क्षेत्रों में स्त्रियों को वस्तु बनाकर रख दिया है। गंदी राजनीति में स्त्री अस्मिता को सूली पर टांग रखा है। स्त्री हमारे लिए या तो भोग की वस्तु है या क्रय–विक्रय की चीज या राजनीति की शतरंज का मोहरा। उसकी माँ–बेटी, बहन, पत्नी–प्रेमिका आज की परंपरागत भूमिका तो हमें स्वीकार है किन्तु इस घेरे से बाहर कोई भूमिका नहीं। 20वीं सदी का यही सच भी है कि स्त्री जीवन का और भी कोई उद्देश्य है; इसे हमने स्वीकार नहीं किया है। इसीलिए यदि कोई स्त्री परंपरागत भूमिका के घेरे से बाहर निकलकर कोई उपलब्धि हासिल करती है तो, पुरुष समाज को अवचेतन में ही सही तकलीफ होती है। यह तकलीफ उन स्त्रियों को भी होती है; जिन्होंने अपनी लंबी गुलामी को आत्मसात कर लिया है और जो पुरुषों के मूल्यों को ही अपने मूल्य मानती हैं।

गुलामी की आत्मसातीकरण की प्रक्रिया एक जटिल मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। इसका सुंदर वर्णन 'सीमोन द वोउवार' ने अपनी पुस्तक 'सेकंड सेक्स' में किया है। जहाँवे कहती हैं कि 'यदि स्त्रियाँ बुर्जुआ वर्ग की होती हैं तो, उनकी भावनात्मक एकता उस वर्ग के पुरुषों के साथ होती है न कि अश्वेत स्त्रियों के साथ। भारतीय आध्यात्मिक परंपरा में स्त्री माया है, मोह है, रौरव नरक का द्वार है, ईश्वर प्राप्ति की मार्ग का सबसे बड़ा बाधक। उदारवादियों ने बताया कि, सहनशीलता, लज्जा, कोमलता, पर निर्भरता, औरत के विशेष गुण हैं यह गुण एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी तक निरंतर पहुँचते हैं। नैतिकवादियों ने बताया कि औरत का एकमात्र धर्म, कर्म है, पुरुषों को लुभाना। प्यार में औरतों का पहल करना, उसकी लफंगई का प्रमाण है। 'त्रिया चरित्रं पुरुषस्य भाग्यम् देवो न जानाति कुतो मनुष्यः' कहकर जहाँ औरत का चरित्र संदिग्ध करार दिया गयाहै, वहीं पुरुष अपने भाग्य विधाता से बराबर की टक्कर लेता दिखता है। समाजशास्त्रियों ने तो यह भी कहा कि सामाजिक मर्यादाओं और परिवार की इज्जत आबरू बचा कर रखने का ठेका औरतों का है। कहावत है 'बेटा आँख और बेटी नाक होती है' तात्पर्य है कि इज्जत, परंपरा, घर, बच्चे, ईश्वर, शांति, विकास सबके नाम पर बलि तो उसी की ही ली जाती है। होम तो वही होती है। औरतों के लिए सबसे मुश्किल यह है कि सामाजिक प्लेटफार्म पर वैचारिक भूमिका में जो विपरीत लिंग उसके लिए केवल पुरुष होता है, घर की चौखट के अंदर वह बेटा, पति, भाई यहाँ तक कि पड़ोसी बनकर उसके साथ रखने को अधिकारी हो जाता है। पारिवारिक दायरे के अंदर भूमिका तो पुरुष की भी बदलती है, पर उसकी शासन करने की वृत्ति उसका पुरुष दंभ किसी न किसी रूप में मौजूद रहता है।

इन सबके बावजूद बीसवीं सदी में स्त्रियों ने अपनी पहचान बनाई है, लंबे संघर्ष के बाद समाज में स्त्री ने अपनी जितनी भी जगह बनाई है। उसमें परिवार की चहारदीवारी के अंदर अपनी पहल के लिए व पहले से ज्यादा, पहले से बड़ी संख्या में सन्नद्ध रहने लगी है। नतीजा यह है कि परिवारकी आधारशिला जिस वैवाहिक संस्था पर टिकी है, वही गैरजरूरी करा दी जाने लगी है। आधुनिक पुरुष और औरत दोनों को ही यह एक फंदा लगता है। कुछ हद तक गैर जरूरी है।

संदर्भ :

1. उपलब्धि : स्त्रीवादी लेखन, डॉ0 प्रज्ञा शुक्ल, पृ0 52
2. वही
3. स्त्री परंपरा और आधुनिकता, संपादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण–2010, पृ0 65
4. भारतीय नारी : वर्तमान समस्याएँ और भावी समाधान, डॉ0 आर0पी0 तिवारी एवं डॉ0 डी0पी0 शुक्ल, पृ 79
5. धर्म और समाज, डॉ0 राधाकृष्णन्, पृ0 167
6. भारतीय विचारवत, प्रा0 किसन चोपड़े, पृ0 7
7. भीमराव अम्बेडकर : जीवन और दर्शन, हरदान हर्ष, पृ0 7
8. स्त्रीवादी साहित्य विमर्श, जगदीश्वर चतुर्वेदी, पृ0 168
9. दीपशिखा, महादेवी वर्मा, पृ0 भूमिका
10. शृंखला की कड़िया, महादेवी वर्मा, पृ0 15
11. स्त्री लेखन और समय के सरोकार, हेमलता महेश्वर, पृ0 181
12. स्त्री पंरपरा और आधुनिकता, संपादक राजकिशोर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, पृ0 35

ISSN : 23197137, Volume: 12/Issue: 01, July-December : 2020

चित्रा मुद्गल की रचनाओं में स्त्री के विविध रूप

सुमन कुमारी

शोध छात्रा, शिक्षिका हिन्दी विभाग,
म0वि0, बोधगया

चित्रा मुद्गल हिन्दी साहित्य की वशिष्ठ कथालेखिका है। आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य की बहुचर्चित लेखिकाओं में इनका स्थान महत्वपूर्ण रहा है। चित्रा जी का लेखन जहाँ एक ओर मानवीय संवेदना का चित्रण भरा होता है वहीं दूसरी ओर नए जमाने के रफ्तार में फँसी जिंदगी की मजबूरियों का चित्रण भी बड़े सलीके से हुआ है। इनके पात्र समाज के निम्न वर्ग के होते हैं। इनकी रचनाओं में दलित–शोषित संवर्ग को विशेष स्थान मिला है।

चित्रा मुद्गल हिन्दी कथा साहित्य में विशिष्ट प्रतिभा सम्पन्न कथाकर्त्री के रूप में हिन्दी जगत् में सर्वमान्य है। उनके समूचे कथा साहित्य के अलावा उनके द्वारा सम्पादित कहानियों में स्त्री के विविध रूपों को उजागर किया है। उनके साहित्य में स्त्री के विविध रूप–स्वरूप की झांकी यत्र–तत्र देखने को मिलती है।

चित्रा जी का साहित्य भारतीय पाश्चात्य समन्वय में भारतीय दर्शन को प्राथमिकता देकर उसके प्रभाव को ही साहित्य और समाज के लिए श्रेष्ठ से श्रेष्ठ करने का प्रयास किया है। चित्रा जी के कथा–साहित्य में स्त्री के विविध रूपों का सही और सार्थक चित्रण हुआ है जो समाज के विविध क्षेत्र– सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और धार्मिक परिप्रेक्ष्यों में प्रस्तुत हुआ है। चित्रा जी अपनी रचनाओं के द्वारा कामकाजी स्त्री और उसके कार्य क्षेत्र में आने वाली अनेक परेशानियों की सुरक्षा करते हुए समाज में नारी के विविध रूपों का चित्रण अपनी लेखनी में करती हैं। धार्मिक और सांस्कृतिक आयामों में निम्न, मध्य और उच्च वर्ग की नारी के स्वरूप को अपनी लेखनी द्वारा प्रस्तुत करती हैं।

चित्रा जी सामाजिक कार्यकर्ता (समाज सेविका) हैं। एक समाज सेविका होने के कारण उन्होंने नारी के विभिन्न कार्यक्षेत्रों में स्वयं जाकर उनकी स्थिति का जायजा लिया है और उन्होंने अपनी पैनी दृष्टि से उसका सटीक वर्णन किया है। उनके स्त्री पात्रों में झोपड़–पट्टी की कामकाजी महिलाएँ, संस्थाओं की मुख्य और सेविकाएँ, अघाड़ी की संघवादी महिलाएँ, ऊँची भृकुटी वाली व्यवसायिकाएँ और आधुनिक नायिका किस्म की स्त्रियाँ हैं। सभी पात्राओं ने अपनी सोच हैसियत, झुकावों आदि के मुताबिक अपनी–अपनी जीवन के रास्तों को तय किया है। महिलाओं का चरित्र अधिक विविधतापूर्ण और रूपभेदी है जिनके किरदार को लेखिका ने पूरी दक्षता के साथ प्रस्तुत किया है। हिमाचल प्रदेश से निकलने वाली पत्रिका 'इरावती' में चित्रा जी ने पत्रकार उर्मिला शिरीष से एक साक्षात्कार में आज के सन्दर्भ में स्त्री के स्वरूप को उजागर करते हुए कहती है– '' 'हाशिये' पर तो देश की आधी आबादी स्त्री का पूरा जीवन ही था। लेकिन आज देश की उसी आधी आबादी ने हाशिये पर दुबके रहने से इन्कार कर दिया

है और निर्भरता शब्द से मुक्त होने की छटपटाहट का संघर्ष जीती हुई, स्वाधार हासिल करने का लक्ष्य साध रही है।''

चित्रा जी अपनी रचनाओं में निम्नवर्गीय नारी की व्यथा को चित्रित किया है। निम्नवर्गीय नारी के अंतर्गत मजबूर, दलित, घर–घर जाकर काम करने वाली बाइयाँ आदि हैं जिनकी दशा अत्यन्त दयनीय है जो शोषण के खिलाफ आवाज तक नहीं उठा सकती। चित्रा जी की ये निम्नवर्गीय स्त्रियाँ अनेक स्थानों पर हौसला से पूर्ण दिखाई देती हैं। इन स्त्रियों में अपने परिस्थितियों के प्रति उतनी सजगता दिखाई नहीं देती, जितनी मध्यवर्ग की स्त्रियों में देती है। निम्न वर्ग की स्त्रियाँ किसी भी स्थिति को सहज रूप स्वीकार लेती हैं। इन्हें किसी भी कार्य को करते हुए समाज के भय या शर्मींदगी नहीं होती।

चित्रा जी ने अपनी अधिकांश रचनाओं में मध्यवर्ग की स्त्रियों को उनकी अनेक समस्याओं के साथ प्रस्तुत किया है। ये स्त्रियाँ परिस्थितियों से समझौता करके टूट चुकी है। इनका परिवेश द्वन्द्वात्मक है। इन स्त्रियों को समाज और परिवार के दृष्टिकोण को देखते हुए कार्य करना पड़ता है जिससे बहुत परेशानियों का सामना करना पड़ता है। डॉ0 किरण बाला अरोरा मध्यवर्ग की स्त्रियों का वर्णन इस प्रकार करती हैं– ''वर्तमान काल में सभी वर्गों में से मध्य वर्ग की स्थिति सबसे अधिक सोचनीय है। अपने मान को सुरक्षित रखने के लिए उसे जो लड़ाई समाज से लगातार करनी पड़ रही है, उसने उसे तोड़कर रख दिया है। वह अनेक प्रकार की कुंठाओं, कशमकश, मानसिक अशांति से त्रस्त हैं। इसलिए मध्यवर्ग के पात्र सबसे अधिक मनोवैज्ञानिक होते हैं। मध्यवर्गीय नारी सबसे अधिक जिस समस्या का सामना कर रही है, वह परम्परा और नवीनता के बीच, भीतर और बाहर का संघर्ष है।'' सही अर्थों में मध्य वर्ग की स्त्रियाँ बहुत कुछ कर सकने की क्षमता होने के बाद भी कुछ नहीं कर पातीं और उनकी प्रतिभा कुंठित रह जाती है। मध्यवर्गीय स्त्री की प्रतिभा, घुटन, कुंठा, संत्रास का सबसे अच्छा उदाहरण है चित्रा जी द्वारा रचित कहानी ''इस हमाम'' में। कहानी नायिका प्रतिभा सम्पन्न, पढ़ी–लिखी, सुन्दर, सुशील व संस्कारी है, परन्तु पुरुष सत्तात्मकता के आगे विवश और कुंठित है। मध्य वर्ग की ऐसी ही स्थिति 'अपनी वापसी' की शकुन, 'बावजूद इसके' की प्रीति, 'ताशमहल' की शोभना, 'प्रमोशन' की ललिता आदि की भी है। ये सभी पात्रा परिस्थितियों से समझौता करने का पूरा–पूरा प्रयास करती हैं लेकिन कहीं–कहीं टूट भी जाती हैं।

चित्रा जी ने अपनी रचनाओं में उच्च वर्ग की स्त्रियों को भी स्थान दिया है। इनके साहित्य में बहुत कम ही नारी पात्रा हैं जो अपने जीवन को संघर्षपूर्ण तरीके से जीती है। उच्च वर्ग की नारी का तात्पर्य सामाजिक स्तर पर महिलाएँ सम्पत्ति स्वामित्व से पूर्ण होती हैं। परम्परा, नैतिकता, धर्म, संस्कृति आदि से प्रायः इनका कोई लेना–देना नहीं होता। सत्ता से लेकर औद्योगिक कारोबार के उच्चतम स्तर तक इनकी प्रभावी पकड़ होते हुए भी इस वर्ग की स्त्री की अलग समस्याएँ हैं। उन स्त्रियों के पास शानो–शौकत के सारे साधन मौजूद हैं, आधुनिक दृष्टि से वह समय से बहुत आगे निकल गई हैं। स्वतंत्र भी हैं, लेकिन वह भी अपने परिवेश से, उस स्वतंत्रता से, आधुनिकता से खुश नहीं हैं। उसका जीवन बाहर की चकाचौंध भरी दुनिया में फंस कर रह गया है। चित्रा जी द्वारा रचित 'आंवा' उपन्यास में उद्योगपति संजय कनोई की पत्नी निर्मला कनोई, आभूषण व्यावसायिक मैडम अंजना वासवानी,

उपन्यास 'एक जमीन अपनी' में संस्कारग्रस्त उद्योगपति मि0 भोजराज की संस्कारी पत्नी उषा आदि उच्चवर्गीय स्त्री पात्रा में शामिल हैं, जो उच्च वर्ग के होने के बावजूद समस्या से ग्रसित है।

चित्रा जी के कुछ नारी पात्रा मनोवैज्ञानिक तनाव की मनोदशा से गुजरते हैं। ये पात्रा अधिकांशतः मध्य वर्ग से सम्बन्धित है, जो जीवन की अनेक उलझनों और कठिनाइयों का सामना करते हुए किसी की सहायता न पाकर द्वन्द्व से ग्रस्त हो जाते हैं। अन्तर्द्वन्द्व ग्रसित ये स्त्रियाँ प्रायः अपने नीरस होते दाम्पत्य के कारण अधिक परेशान हैं। ऐसी परिस्थिति में न तो पूर्णतः जीवन से जुड़ पाती हैं, न टूट पाती हैं और मानसिक क्लेश से अंधेरे में अपने आप को झोंक देती हैं। कहानी 'अपनी वापसी' में शकुन का पति हरीश के पास उसके लिए समय नहीं है इसलिए वह पति के साथ गुजारे गए समय को याद कर–करके दुखी होती रहती है। उसके दिमाग में भूत और वर्तमान दोनों स्थितियों का तुलनात्मक विश्लेषण होता रहता है– 'कहाँ वह भी वक्त था जब.....उफ?.....एक वक्त था.....वह वक्त था, ऐसा था..... वैसा था.....बस यही असंतोष दिमाग में कोल्हू के बैल की तरह उसे पेरता रहता है। दूसरों को प्रश्नों के घेरे में घेरती.....अचानक वह स्वयं को प्रश्न हुआ पाती। सोचती, अब ऐसा क्या हो गया उनके दरमियान। क ख ग पर उसके भीतर तो अभी तक हरीश के लए आकर्षण स्रोत सुखा नहीं। तभी तो वह उनसे संबंधित मामूली–मामूली सी बातों को गहरे अनुभव कर उद्वेलित हो बैठती है।

स्त्रियों की इच्छा के विरूद्ध पुरुषों की अनियंत्रित तथा उच्छृंखल प्रवृत्ति के परिणामस्वरूप पुरुषों की पाशविकता यौन शोषण को दर्शाती है। स्त्रियों के संदर्भ में यौन शोषण की इस समस्या को चित्रा मुद्गल जी ने अपनी लेखनी द्वारा पूरी तरह उजागर किया है। उपन्यास 'आंवा' तो मानो स्त्री की अस्मिता से जुड़े इन्हीं सवालों का दहकता–सुलगता दस्तावेज है। उपन्यास की नायिका नमिता पाण्डे छोटे उम्र में अपने मौसा द्वारा यौन मानसिकता का शिकार बनती है। अपनी माँ को सब कुछ बताने पर माँ के ही द्वारा चुप करा दी जाती है। बड़े होने पर मजदूर आन्दोलन के नेता जो पिता समान है अन्ना साहब के द्वारा यौनाचार के दायरे में आती है। तब वह जागरूक और सजग होते हुए भी दब्बूपन और निम्नमध्यवर्गीय संस्कार के कारण यौनाचार पर चुप रहते हुए नौकरी छोड़ देती है। नमिता के अलावा उपन्यास में और भी कई स्त्री पात्रा हैं जिनके साथ यौन शोषण हुआ है। जैसे नमिता की सहेली स्मिता के पिता द्वारा अपनी बड़ी बेटी के साथ, मैडम वासवानी के पास काम करने वाली गौतमी के साथ उसके सौतेले भाई विनोद द्वारा आदि।

चित्रा जी की अनेक कहानियों में दाम्पत्य जीवन में आए अलगाव, घुटन, कुंठा आदि के कारण नारी के अनेक रूप का उजागर हुआ है। आज के समय में दाम्पत्य जीवन का केन्द्र–बिन्दु सामाजिक समझौता, साथ–साथ रहने की आवश्यकता भर रह गया है, न कि प्रेम, आस्था और विश्वास। दाम्पत्य जीवन में एक–दूसरे की निकटता एवं सम्बन्धों को ढोने की विवशता व लाचारी में पति–पत्नी या दोनों के टूटन को झेलने के दर्द को प्रस्तुत किया है। इसका सबसे अधिक प्रभाव स्त्रियों पर दिखलाई दे रहा है। 'मुआवजा' कहानी में दाम्पत्य जीवन की नीरसता स्पष्ट दिखाई पड़ती है। कहानी 'इस हमाम में' के सोमेश की ही तरह 'मुआवजा' के सुमित में भी स्त्री को पैरों तले दबाकर रखने का विश्वास दिखलाई पड़ता है।

चित्रा मुद्गल जी ने जीवन में पारिवारिक संबंधों की आवश्यकता को महत्व दिया है। लेकिन ये मूल्यगत संबंध आधुनिक और उत्तर–आधुनिक युग में सुरक्षित नहीं हैं। दाम्पत्य संबंधों से विश्वास, निष्ठा,

प्रतिबद्धता की भावना प्रायः समाप्त होते जा रही है। चित्रा मुद्गल की रचनाओं में समकालीन मध्यवर्गीय परिवारों के दाम्पत्य जीवन का यथार्थ स्वरूप उभर कर सामने आया है। लेकिन वह इस बात को प्रमाणित करता है कि समकालीन समाज में दाम्पत्य जीवन का परम्परागत स्वरूप सुरक्षित नहीं, बल्कि विघटित हो रहा है। दाम्पत्य जीवन प्रेम और स्नेह के कारण नहीं बल्कि सामाजिक मर्यादा एवं अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु एक–दूसरे से जुड़े हुए दीख रहे हैं।

चित्रा जी की रचनाओं में चित्रित अनेक नारी पात्रा स्वयं पति, पुरुष तथा परिवार के शोषण से अलग रहकर अलगाववाद का समर्थन कर रही हैं। दाम्पत्य जीवन में सही मायने में इज्जत न मिल पाने के कारण वे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष रूप से दाम्पत्य जीवन से अलग होने को सही मानती है। पति–पत्नी के रिश्ते में अलगाव एवं तनाव के कारण दाम्पत्य जीवन की मर्यादा, पवित्रता, मूल्यता आदि कम हुई है। बावजूद इसके चित्रा जी ने अपनी लेखनी में इसे प्रखरता से चित्रित किया है। इनकी रचनाओं की स्त्रियों में ये रूचि अधिक दिखाई देती है। उनकी अधिकतर स्त्री पात्रा दाम्पत्य जीवन में अलगाव का समर्थन करती है। उदाहरण के रूप में 'एक जमीन अपनी' अलगाववादी दाम्पत्य जीवन का एक प्रसंग देख सकते हैं– ''यू नो अंकू.....युवावस्था में कुछ ऐसी गलत प्रवृत्तियों का शिकार हुआ कि कुछेक समय तक अपनी वैवाहिक जिन्दगी को पूरी स्वाभाविकता से नहीं जी पाया.....वह पूरी स्वाभाविकता से उसे जीने को उत्कंठित नहीं रही। शायद मुझसे विमुख रहने का यही कारण रहा हो। लेकिन कभी–कभी तो घर से भाग जाने की इच्छा होती है.....उसे अब तक अपने घर से अलग जो नहीं कर पाया।''[1]

चित्रा जी की अधिकतर नारी पात्रा किसी ऐसे पुरुष के प्रति समर्पित नहीं होना चाहती जो पत्नी के रूप में उसे मात्र वस्तु समझते हो या उसके स्वाभिमान को चुनौती देते हो। दाम्पत्य जीवन में आई कड़वाहट का एक मुख्य कारण यह भी है। वास्तव में आधुनिक युग की स्त्री पति नामक पुरुष द्वारा किये जाने वाले अत्याचारों को सहना नहीं चाहती। कुछ समय के लिए परिस्थितियों के आगे झुकती जरूर है परन्तु अन्ततः वह खुद को उसके पशुता वाले व्यवहार से अलग कर अपनी अलग राह खोज लेती है। चित्रा जी की अधिकतर नारी पात्रा पति के पशु जैसे व्यवहार सहने की अपेक्षा उन्हें छोड़कर अपना स्वतंत्र जीवन जीती है। 'शून्य' कहानी की सरला ने पति के अत्याचारों से त्रस्त होकर, उसका घर छोड़कर अपनी स्वतंत्र पहचान बनाई–एक दिन उसने निर्णय ले डाला। वह बाबूजी के पास रहकर अपने ही कालेज में अध्यापन के लिए आवेदन करेगी।

चित्रा जी ने अपनी रचनाओं के माध्यम से संबंधों पर भी प्रकाश डाला है। उनकी उपन्यास 'आवां', 'गिलिगडु' आदि के द्वारा पिता–पुत्री के रिश्तों पर प्रकाश डाला है। समाज के बदलते नियमों तथा बदलती संस्कृति के कारण रिश्तों में आने वाले बदलाव को उन्होंने बखूबी निभाया है। पिता–पुत्री के संबंधों के बदले रूपों का तथा सच्चा, कड़वा और टकराव का चित्रण बखूबी किया है। उन्होंने यह दिखाने की कोशिश की है कि जो पिता अपनी पुत्री की एक मुस्कुराहट के लिए पूरा जीवन जीता है वही पुत्री बड़ी होने पर अपने पिता की सम्पत्ति के लिए अपने भाई–भौजाई के साथ मिलकर सम्पत्ति हासिल करना चाहती है। उपन्यास गिलिगडु में चित्रा जी ने ऐसी पुत्री का चित्रण किया है।

प्रसिद्ध कथाकर्त्री जी अपने जीवन में अनेक कामगार पार्टियों, स्वयंसेवी महिला संगठनों से जुड़ी हैं लेकिन अपनी रचनाओं में इस प्रकार के स्त्री पात्रों की संरचना उन्होंने बहुत कम किया है। उनकी प्रसिद्ध उपन्यास 'आवां' में इस प्रकार की स्त्रियों की झलक मिलती है। स्त्री पात्रा बिमला सेन कामगार

अघाड़ी पार्टी की महिला नेत्री है जो स्त्रियों के अधिकार और हक के लिए संघर्ष करती हुई दिखाई देती है। लेखिका ने अपने कथा साहित्य में राजनीति और नौकरशाही के एक–दूसरे पर आश्रित संबंध का चित्रण किया है। इस प्रकार चित्रा जी ने अपने कथा–साहित्य के माध्यम से समाज में व्याप्त राजनैतिक दलों की भ्रष्टता, अनैतिकता तथा छल–प्रपंचों का चित्रण किया है।

इस प्रकार सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक, सांस्कृतिक आदि परिवेश में स्त्री के विविध रूपों की झांकी प्रस्तुत हुई है। जिसमें निम्न, मध्य, उच्च, यौन शोषित आदि प्रकार की स्त्रियों पर प्रकाश डाला गया है। मुख्य रूप से निम्न और मध्यवर्गीय स्त्रियों के रूप–स्वरूप को उजागर किया गया है। कहीं जीवन की सम–विषम परिस्थितियों में दाम्पत्य जीवन के अनेक उतार–चढ़ाव है तो कहीं टूटते–बिखरते–चटकते रिश्ते हैं। आधुनिक समाज में स्त्री की स्थिति, संघर्ष, शोषण, यातना तथा अन्ततः सरेआम उसका उत्पीड़न लेखिका के साहित्य में चित्रित हुआ है। पुरुष सत्तात्मक समाज में हर स्त्री को अपमानित होकर जीवन जीने को बाध्य होना पड़ता है। सम्मानपूर्ण जीवन जीने के लिए स्त्री के पास कठिन परिश्रम के बावजूद अपना वजूद नहीं मिल पाता है। चित्रा जी ने अपनी रचनाओं के द्वारा पारिवारिक संबंधों में स्त्री के रिश्ते–नातों को संबंधों की वास्तविक कसौटी पर तौल कर ही उनका चित्रण किया है। लेखिका ने कुछ ऐसे भी प्रसंगों पर प्रकाश डाला है, जो संबंधों में नारी का शोषण, अपमान, उसके स्वाभिमान को ठेस लगाने का काम करती है। लेखिका ने वास्तववादी स्थिति को अपनी रचनाओं के पात्रों के पारिवारिक तथा सामाजिक संबंधों के माध्यम से समाज के सामने बड़ी सजगता से प्रस्तुत किया है।

संदर्भ :

1. चित्रा मुद्गल : एक जमीन अपनी, पृ0 24